॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमत्कृष्णद्वैपायन–वेदव्यास द्वारा रचित

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तम गोस्वामी सच्चिदानन्द
श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर विरचित
रसिकरञ्जिनी टीका सहित

श्रीगौड़ीयवेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीयमठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीके

अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा अनुवादित तथा सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

विषय–सूची

निवेदन

परमाराध्य ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्मकी अहैतुकी कृपा और प्रेरणासे अभी कुछ दिन पूर्व श्रीमद्भगवद्गीताका श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी रसमयी टीकाके साथ प्रकाशन हुआ है। साथ ही अँग्रेजी, स्पैनिश, इटालियन, पूर्तगीज, फ्रेञ्च, जर्मन, रूसी आदि विश्वकी प्रधान–प्रधान भाषाओंमें उसका अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थकी इतनी लोकप्रियता हुई है कि विपुल संख्यामें इसका वितरण हुआ है।

श्री श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीने गौड़ीय जगतके परम कल्याण हेतु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीकी 'सारार्थ वर्षिणी' टीकाके सारस्वरूप 'रसिकरञ्जन' टीकाका बहुत ही सरल एवं बोधगम्य भाषामें अनुवाद किया। मैं उसे भी प्रकाशित करनेके लोभका सम्वरण नहीं कर पाया। साथ ही कुछ श्रद्धालु पाठकोंने ऐसा सुझाव दिया है कि इस ग्रन्थका एक ऐसा क्षुद्र संस्करण प्रकाशित किया जाय, जिसमें केवल मूल श्लोक, अन्वय और श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कृत अनुवाद हो। देश–विदेशमें ऐसे पाठक भी हैं, जिनकी विस्तृत टीका–टिप्पणी आदिके अध्ययनमें रुचि या योग्यता नहीं है। इन लोगोंके लिए यह संस्करण रुचिप्रद और लाभप्रद होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता एक विषम परिस्थितिमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे निकला गीत (उपदेश) है। अर्जुन युद्धक्षेत्रमें राज्यप्राप्तिके लिए अपने विरुद्ध पितामह भीष्म, बन्धु–बान्धव दुर्योधनादि, गुरु द्रोण और कृपाचार्य आदिको देखकर स्तम्भित रह गये। उनका मुख सुख गया। हाथसे गाण्डीव गिर गया। उन्होंने युद्ध करनेकी अपेक्षा भीख माँगकर जीवित रहना अच्छा समझा।

ऐसी विषम परिस्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने संशयग्रस्त अर्जुनको धर्म–सङ्गत कर्त्तव्यका उपदेश दिया। वह सभी युगोंमें, सभी स्थानोंमें, सभी परिस्थितियोंमें सभी लोगोंके लिए परम लाभदायक है। हमें यह दृढ़ विश्वास है कि यह प्रस्तुत श्रीगीतोपनिषद् सर्वसाधारणके जीवनमें प्रेरणादायक होगा।

इस संस्करणकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए श्रीमद्भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् ओमप्रकाश ब्रजवासी, श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीमान् अमलकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुबलसखा ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुन्दरगोपाल ब्रह्मचारी, बेटी शान्ति दासी आदिकी सेवा सराहनीय एवं

उल्लेखनीय है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपा आशीर्वाद वर्षण करें। यही प्रार्थना है।

श्रीव्यास–पूर्णिमा
५१८ गौराब्द
२ जुलाई, २००४

श्रीगुरुकृपालेश प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रथमोऽध्यायः

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

प्रथम अध्याय (सैन्य दर्शन)

धृतराष्ट्र उवाच—
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥१.१॥

अन्वय—धृतराष्ट्र उवाच (धृतराष्ट्रने कहा) सञ्जय (हे सञ्जय!) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे (धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें) युयुत्सवः (युद्धके लिए) समवेताः (एकत्रित) मामकाः (दुर्योधनादि मेरे पुत्रों) च (और) पाण्डवाः (युधिष्ठिरादि पाण्डुपुत्रोंने) एव (तत्पश्चात्) किम् अकुर्वत (क्या किया)॥१.१॥

अनुवाद—धृतराष्ट्रने कहा—हे सञ्जय! धर्मभूमिस्वरूप कुरुक्षेत्रमें युद्धाभिलाषी मेरे पुत्रों तथा पाण्डुपुत्रोंने एकत्रित होनेके पश्चात् क्या किया?॥१.१॥

सञ्जय उवाच—
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥१.२॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) राजा दुर्योधनः तदा (राजा दुर्योधनने तब) व्यूढम् (व्यूह रचनापूर्वक स्थित) पाण्डवानीकम् (पाण्डवोंकी सेनाको) दृष्ट्वा तु (देखकर और) आचार्यम् उपसङ्गम्य (द्रोणाचार्यके पास उपस्थित होकर) वचनम् (यह वचन) अब्रवीत् (कहा)॥१.२॥

अनुवाद—सञ्जयने कहा—महाराज! पाण्डवोंकी सेना और सेनापतिओंको व्यूह निर्माणकर खड़े देखकर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके निकट जाकर कहने लगा॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥१.३॥

अन्वय—आचार्य (हे आचार्य!) तव धीमता शिष्येन द्रुपदपुत्रेण (आपके बुद्धिमान शिष्य दुरपदतनय धृष्टद्युम्नके द्वारा) व्यूढाम् (व्यूह–रचनापूर्वक स्थापित) पाण्डुपुत्राणाम् (पाण्डुपुत्रोंके) एताम् महतीम् चमूम् (इस विशाल सेनाका) पश्य (अवलोकन करें)॥१.३॥

अनुवाद—हे आचार्य! आप पाण्डवोंकी इस विशाल सेनाका निरीक्षण करें, वह आपके बुद्धिमान् शिष्य दुरपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूह–रचित होकर खड़ी है॥ १.३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥१.४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः॥१.५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥१.६॥

अन्वय—अत्र (इस सेनामें) युधि (युद्धमें) महेष्वासाः (महाधनुर्धारी) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुनके समान) शूराः (वीर) सन्तिः (हैं) [यथा] युयुधानः (सात्यकि) विराटः च (विराटराज) महारथः द्रुपदः च (और महारथी दुरपद)॥१.४॥

अत्र युधि (इस युद्धमें) धृष्टकेतुः (धृष्टकेतु) वीर्यवान् काशिराजः च (वीर काशीराज) पुरुजित् (पुरुजित्) कुन्तिभोजः च (कुन्तिभोज) नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ठ) शैव्यः च (शैव्य) विक्रान्तः (परम पराक्रमी) युधामन्युः च (युधामन्यु) वीर्यवान् उत्तमौजाः च (वीर उत्तमौजा) सौभद्रः च (अभिमन्यु) द्रौपदेयाः च (द्रौपदीके पुत्र प्रतिबिन्ध्यादि) सर्व एव (ये सभी) महारथाः सन्ति (महारथी हैं)॥१.५–६॥

अनुवाद—इस सेनामें महाधनुर्धारी अर्जुन, भीम और उनके समान ही शूरवीर सात्यकि, विराटनरेश तथा महारथी द्रुपद आदि हैं॥१.४॥

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, विक्रमशाली युधामन्यु, वीर्यवान उत्तमौजा, सुभद्रानन्दन अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पुत्रगण —ये सभी महारथी इस युद्धमें उपस्थित हैं॥१.५–६॥

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥१.७॥

अन्वय—द्विजोत्तम (हे द्विजवर!) अस्माकम् (हम लोगोंकी सेनामें) तु (भी) ये विशिष्टाः (जो परम उत्कृष्ट व्यक्तिगण) मम सैन्यस्य नायकाः (हमारी सेनाके नायकगण हैं) तान् (उन लोगोंको) निबोध (समझें) ते संज्ञार्थम् (आपकी सूचनाके लिए) तान् ब्रवीमि (उन लोगोंका नाम उल्लेख करता हूँ)॥१.७॥

अनुवाद—हे गुरो! हम लोगोंके जो प्रमुख सेनानायक हैं, आपकी सूचनाके लिए उनका नाम उल्लेख कर रहा हूँ॥१.७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिर्जयद्रथः॥१.८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥१.९॥

अन्वय—भवान् (आप, द्रोणाचार्य) भीष्मः च (पितामह भीष्म) कर्णः च (कर्ण) समितिञ्जयः कृपः च (समरविजयी कृपाचार्य) अश्वत्थामा (अश्वत्थामा) विकर्णः च (विकर्ण) सोमदत्तिः (भूरिश्रवा) जयद्रथः (सिन्धुराज जयद्रथ)॥१.८॥

अन्वय—मदर्थे (मेरे लिए) त्यक्तजीविताः (प्राण देनेके लिए सङ्कल्पबद्ध) नानाशस्त्रप्रहरणाः (अनेक अस्त्र–शस्त्रोंसे सुशोभित) सर्वे (सभी) युद्ध विशारदाः (युद्धमें निपुण) अन्ये (पूर्वकथितसे भिन्न) च बहवः (और भी अनेक) शूराः सन्ति (वीर हैं)॥१.९॥

अनुवाद—रणविजयी आप, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तकेपुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ तथा इनके अतिरिक्त विविध अस्त्रशत्रोंसे सम्पन्न और भी अनेक युद्ध विशारद वीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेको उद्यत हैं॥१.८–९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१.१०॥

अन्वय—भीष्म अभिरक्षितम् (भीष्मके द्वारा भलीभाँति रक्षित) अस्माकम् (हमारी) तद् बलम् (वह सैन्यशक्ति) अपर्याप्तम् (अपरिपूर्ण है) भीम–अभिरक्षितम् (भीमके द्वारा सुरक्षित) एतेषाम् (इन पाण्डवोंकी) इदम् बलम् (यह सैन्यशक्ति) पर्याप्तम् (परिपूर्ण है)॥१.१०॥

अनुवाद—भीष्मके द्वारा परिरक्षित हमारी सैन्य शक्ति परिमित है, परन्तु भीमसेनके द्वारा परिरक्षित पाण्डवोंकी सैन्यशक्ति अपरिमित है॥१.१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥१.११॥

अन्वय—भवन्तः (आपलोग) सर्व एव हि (सभी) सर्वेषु अयनेषु च (सभी प्रवेश द्वारोंपर) यथाभागम् (अपने–अपने स्थानोंमें) अवस्थिताः (स्थित होकर) भीष्मम् एव (भीष्मकी ही) अभिरक्षन्तु (सभी प्रकारसे रक्षा करें)॥१.११॥

अनुवाद—इस समय आपलोग अपने–अपने विभागके अनुसार व्यूहद्वारपर रहकर सब प्रकारसे भीष्मकी रक्षा करें॥१.११॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खौ दध्मौ प्रतापवान्॥१.१२॥

अन्वय—प्रतापवान् (बड़े प्रतापी) कुरुवृद्धः (कुरुकुलमें ज्येष्ठ) पितामहः (भीष्म) तस्य हर्षम् (दुर्योधनके हृदयमें आनन्द) सञ्जनयन् (उत्पन्न करते हुये) उच्चैः (उच्च स्वरसे) सिंहनादम् विनद्य (सिंहकी भाँति गर्जनकर) शङ्खौ दध्मौ (शङ्खनाद किया)॥१.१२॥

अनुवाद—इसके बाद अत्यन्त प्रतापी कुरुवृद्ध पितामह भीष्मने दुर्योधनका आनन्द उत्पादन करनेके लिए उच्चस्वरसे सिंहनाद जैसी शङ्ख ध्वनि की॥१.१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१.१३॥

अन्वय—ततः (तदन्तर) शङ्खाः (शङ्ख) च (और) भेर्यः (नगाड़े) च–पणव–आनक–गोमुखाः (तथा ढोल, मृदङ्ग और रणशिंगादि बाजे) सहसा एव (अचानक ही) अभ्यहन्यन्त (बजे) सः शब्दः (वह शब्द) तुमुलम् अभवत् (अति भयङ्कर हुआ)॥१.१३॥

अनुवाद—शङ्ख, भेरी, ढोल, मृदङ्ग और रणशिंगादि विविध वाद्ययन्त्र समूहके एकसाथ बजनेसे तुमुल शब्द उत्पन्न हुआ॥१.१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१.१४॥

अन्वय—ततः (इसके बाद) श्वेतैः हयैः युक्ते (श्वेत घोड़ोंसे युक्त) महति स्यन्दने (उत्तम रथमें) स्थितौ (बैठे हुये) माधवः पाण्डवः च (श्रीकृष्ण और अर्जुनने) दिव्यौ एव शङ्खौ (दिव्य शङ्खोंको) प्रदध्मतुः (बजाया)॥१.१४॥

अनुवाद—दूसरी ओर श्रीकृष्ण तथा धनञ्जयने श्वेत अश्वोंसे युक्त उत्कृष्ट रथपर आरूढ़ होकर दिव्य शङ्ख ध्वनि की॥१.१४॥

पाञ्जजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥१.१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥१.१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१.१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥१.१८॥

अन्वय—हृषिकेशः (श्रीकृष्णने) पाञ्चजन्यम् (पाञ्चजन्य नामक शङ्ख) धनञ्जयः (अर्जुनने) देवदत्तम् (देवदत्त नामक शङ्ख) भीमकर्मा (भयङ्कर कार्योंको करनेवाले) वृकोदरः (भीमसेनने) पौण्ड्रम् (पौण्ड्र नामक) महाशङ्खम् दध्मौ (महाशङ्ख बजाया)॥१.१५॥

अन्वय—कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः (कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने) अनन्तविजयम् (अनन्तविजय नामक) नकुलः सहदेवः च (नकुल और सहदेवने) सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शङ्खोंको बजाया)॥१.१६॥

अन्वय—पृथिवीपते (हे धरणीपते धृतराष्ट्र!) परम–इष्वासः (महाधनुर्धारी) काश्यः च (काशीराज और) महारथः शिखण्डी च (महारथी शिखण्डी) धृष्टद्युम्नः विराटः च (धृष्टद्युम्न एवं विराटराज) अपराजितः (अजित) सात्यकिः च (सात्यकि) द्रुपदः (द्रुपदराज) द्रौपदेयाः च (द्रौपदीके पुत्रों) महाबाहुः सौभद्रः च (महाबाहु अभिमन्यु) सर्वशः पृथक् पृथक् (सभीने अलग–अलग) शङ्खान् दध्मुः (शङ्खोंको बजाया)॥१.१७–१८॥

अनुवाद—हृषीकेशने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भीमकर्मा भीमने पौण्ड्र नामक शंख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष एवं सहदेवने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया। हे पृथ्वीपते धृतराष्ट्र! उत्कृष्ट धनुर्धारी काशीराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराटराज एवं अपराजित सात्यकि, द्रुपदराज, द्रौपदीके पाँचों पुत्रों एवं सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु—इनलोगोंने भी पृथक्–पृथक् शंखध्वनि की॥१.१५–१८॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥१.१९॥

अन्वय—सः तुमुलः घोषः (उस तुमुल शब्दने) नभः च पृथिवीम् च एव (आकाश और पृथ्वीको भी) अभि–अनुनादयन् (प्रतिध्वनित करते हुये)

धार्त्तराष्ट्राणाम् (धृतराष्ट्रपुत्रोंके) हृदयानि व्यादरयत् (हृदयोंको विदीर्ण कर दिया)॥ १.१९॥

अनुवाद—इन समस्त शङ्खोंसे उत्पन्न तुमुल ध्वनि (शब्द) धरातल और नभमण्डलको प्रतिध्वनित करती हुई धृतराष्ट्रपुत्रोंके हृदयको विदीर्ण करने लगी॥ १.१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते॥१.२०॥

अन्वय—महीपते (हे राजन्!) अथ (अनन्तर) कपिध्वजः पाण्डवः (कपिध्वज अर्जुनने) धार्त्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्रपुत्रोंको) व्यवस्थितान् दृष्ट्वा (युद्धके लिए व्यवस्थित देखकर) शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते (बाण–निक्षेप करनेको) धनुः उद्यम्य (धनुष उठाकर) तदा (तब) हृषीकेशम् (श्रीकृष्णको) इदम् वाक्यम् (यह वचन) आह (कहा)॥ १.२०॥

अनुवाद—हे महाराज! उस समय शस्त्र निक्षेप करनेको उद्यत रथारूढ़ कपिध्वज धनञ्जय धृतराष्ट्रपुत्रोंको युद्धके लिए उद्यत देखकर धनुष–बाण उठाकर श्रीकृष्णसे ये वचन कहे॥१.२०॥

अर्जुन उवाच—
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥१.२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥१.२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥१.२३॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) अच्युत (हे अच्युत!) यावत् (जब तक) अहम् (मैं) एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् (युद्धाभिलाषी स्थित इन समस्त वीरोंका) निरीक्षे (निरीक्षण करूँ) अस्मिन् रणसमुद्यमे (इस युद्धरूपी उद्यममें) कैः सह (किन लोगोंके साथ) मया योद्धव्यम् (मुझे युद्ध करना होगा) अत्र युद्धे (इस युद्धमें) दुर्बुद्धेः (दुर्बुद्धि) धार्त्तराष्ट्रस्य (धृतराष्ट्रपुत्रोंके) प्रियचिकीर्षवः (कल्याण चाहनेवाले) एते (जो सभी) समागताः (एकत्रित हुये हैं) तान् (उन सभी) योत्स्यमानान् (युद्ध करनेवालोंका) अहम् (मैं) अवेक्षे (अवलोकन करूँ) तावत्

सेनयोरुभयोर्मध्ये (दोनों पक्षकी सेनाओंके बीचमें) मे रथम् (मेरे रथको) स्थापय (स्थापित करें)॥१.२१–२३॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे अच्युत! जब तक युद्धके लिए खड़ी इस सेनामें मुझे किनके साथ युद्ध करना पड़ेगा उनका निरीक्षण करूँ तथा दुर्योधनके प्रिय चाहनेवाले, युद्धकी वासनासे इस स्थानमें एकत्रित लोगोंका अवलोकन करूँ, तब तक आप दोनों पक्षकी सेनाओंके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करें॥१.२१–२३॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥१.२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषा महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥१.२५॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) भारत (हे भरतवंशी!) गुडाकेशेन (निद्रा विजयी अर्जुनके द्वारा) एवं उक्तः (इस प्रकार कहे जानेपर) हृषीकेशः (श्रीकृष्णने) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों पक्षोंकी सेनाओंके बीचमें) सर्वेषाम् महीक्षिताम् (सभी राजाओंके) च (और) भीष्म–द्रोण प्रमुखतः (भीष्म, द्रोणादिके सामने) रथ उत्तमम् (उत्तम रथको) स्थापयित्वा (स्थापितकर) उवाच (कहा) पार्थ (हे अर्जुन!) एतान् (इन) समवेतान् (एकत्रित हुये) कुरून् (कौरवोंको) पश्य इति (देखो)॥१.२४–२५॥

अनुवाद—सञ्जयने कहा—हे भारत! (हे धृतराष्ट्र! गुडाकेश पार्थके द्वारा श्रीकृष्णको यह बात कहनेपर, उन्होंने दोनों सेनाओंके बीच उस उत्कृष्ट रथको स्थापित किया और कहा—पार्थ! युद्धके लिए एकत्रित भीष्म–द्रोणादि कौरवोंका निरीक्षण करो॥१.२४–२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥१.२६॥

अन्वय—अथ (उसके बाद) पार्थः (अर्जुन) तत्र (उस स्थानमें) उभयोः सेनयोः एव (दोनों ही सेनाओंके मध्यमें) स्थितान् (विद्यमान) पितृन् (पिताके भाइयोंको) पितामहान् (पितामहोंको) आचार्यान् (आचार्योंको) मातुलान् (मामाओंको) भ्रातृन् (भाइयोंको) पुत्रान् (पुत्रोंको) पौत्रान् (पौत्रोंको) तथा सखीन् (सखाओंको)

श्वशुरान् (श्वसुरोंको) च (और) सुहृदः अपि (सुहृदोंको भी) अपश्यत् (देखा)॥ १.२६॥

अनुवाद—तब अर्जुनने दोनों सैन्यदलोंके बीचमें पितृव्य, पितामह, आचार्य, मातुल, भ्राता, श्वसुर, मित्र और अन्य लोगोंको देखा॥१.२६॥

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥१.२७॥

अन्वय—सः कौन्तेय (वह कुन्तीनन्दन) अवस्थितान् (अवस्थित) तान् सर्वान् (उन सभी) बन्धून् (बन्धुओंको) समीक्ष्य (दर्शनकर) परया कृपया आविष्टः (अतिशय करुणायुक्त होकर) विषीदन् (दुःख करते हुये) इदम् (यह) अब्रवीत् (कहा)॥१.२७॥

अनुवाद—कुन्तीपुत्र अर्जुनने रणक्षेत्रमें अपने सम्मुख उपस्थित समस्त बन्धुओंको देखकर अभूतपूर्व कृपाविष्ट और दुःखी होकर यह कहा॥१.२७॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति॥१.२८॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) युयुत्सून (युद्धाभिलाषी) इमान् स्वजनान् (इन स्वजनको) समवस्थितान् (एकत्रित) दृष्ट्वा (देखकर) मम (मेरे) गात्राणि (अङ्गसमूह) सीदन्ति (शिथिल हो रहे हैं) मुखम् च (मुख भी) परिशुष्यति (सूख रहा है) ॥१.२८॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! इन समस्त आत्मीय-स्वजनको युद्धकी इच्छासे एकत्रित देखकर मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूख रहा है॥१.२८॥

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥१.२९॥

अन्वय—मे (मेरे) शरीरे (शरीरमें) वेपथुः (कम्प) च रोमहर्षः (रोमाञ्च) च जायते (उत्पन्न हो रहे हैं) हस्तात् (हाथसे) गाण्डीवम् (गाण्डीव धनुष) स्रंसते (गिर रहा है) त्वक् च (त्वचा भी) परिदह्यते (जल रही है)॥१.२९॥

अनुवाद—मेरा शरीर कम्पित और रोमाञ्चित हो रहा है, गाण्डीव हाथसे नीचे गिर रहा है तथा त्वचा भी दग्ध हो रही है॥१.२९॥

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥१.३०॥

अन्वय—केशव (हे केशव!) अवस्थातुम् च (खड़े रहेनेमें भी) न शक्नोमि (समर्थ नहीं हूँ) मे मनः च (और मेरा मन भी) भ्रमति इव (घूम रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च (और विभिन्न दुर्लक्षण) पश्यामि (देख रहा हूँ)॥१.३०॥

अनुवाद—मेरी और खड़े रहनेकी सामर्थ्य नहीं है। मेरा चित्त विकल हो रहा है। हे केशव! मैं केवल विपरीत भावयुक्त अपशकुन ही देख रहा हूँ॥१.३०॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥१.३१॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) आहवे (युद्धमें) स्वजनम् (स्वजनको) हत्वा (मारकर) श्रेयः च (मङ्गल भी) न अनुपश्यामि (नहीं देखता हूँ) विजयम् च (विजय भी) न काङ्क्षे (नहीं चाहता हूँ) राज्यम् सुखानि च (राज्य एवं सुखोंको) न [काङ्क्षे] (नहीं चाहता हूँ)॥१.३१॥

अनुवाद—युद्धमें स्वजनकी हत्याकर कुछ भी श्रेयस्कर नहीं दिखाई देता है। मैं और विजयकी वासना तथा राज्य-सुखकी इच्छा नहीं करता हूँ॥१.३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥१.३२॥
ते इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥१.३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥१.३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥१.३५॥

अन्वय—गोविन्द (हे गोविन्द!) नः (हमें) राज्येन किम् (राज्यसे क्या प्रयोजन है) भोगैः जीवितेन वा किम् (भोगोंसे तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है) येषाम् अर्थे (जिनके लिए) नः (हमें) राज्यम् (राज्य) भोगाः (भोग समूह) सुखानि च (एवं समस्त सुख) काङ्क्षितम् (इच्छित हैं) ते इमे (वे ही) आचार्याः (आचार्यगण) पितरः (पितृगण) पुत्राः (पुत्रगण) तथा (और) एव च (उसी प्रकार) पितामहाः (पितामहगण) मातुलाः (मामालोग) श्वसुराः श्वसुरगण) पौत्राः (पौत्रगण) श्यालाः (साले) सम्बन्धिनः (सम्बन्धिगण) प्राणान् धनानि च (प्राण और धनसमूह) त्यक्त्वा (परित्यागकर) युद्धे अवस्थिताः (युद्धमें उपस्थित हैं) मधुसूदन (हे

मधुसूदन!) घ्नतः अपि (हत होकर भी) एतान् (इन लोगोंकी) हन्तुम् (हत्या करनेकी) न इच्छामि (इच्छा नहीं करता हूँ)॥१.३२–३४॥

गोविन्द (हे गोविन्द!) महीकृते किम् नु (पृथ्वीके लिए तो कहना ही क्या) त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः अपि (तीनों लोकोंके राज्यके लिए भी) धार्त्तराष्ट्राणाम् (धृतराष्ट्रके पुत्रोंको) निहत्य (मारकर) नः (हमें) का प्रीतिः स्यात् (क्या सुख होगा)॥१.३५॥

अनुवाद—हे गोविन्द! हमें और राज्योंका क्या प्रयोजन है, सुख–भोगकी क्या आवश्यकता है तथा जीवन धारणसे ही क्या फल मिलेगा? क्योंकि, जिनके लिए राज्य एवं सुखभोगकी कामना की जाती है, वे सभी इस संग्राममें उपस्थित हैं। हे मधुसूदन! जब अचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धी अर्थात् आत्मीय स्वजन—ये सभी जीवन तथा धन परित्यागके लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर इस युद्धभूमिमें स्थित हैं, तब इनके द्वारा हमारा वध होनेपर भी किसी भी प्रकार इनके वधकी मेरी इच्छा नहीं है। हे जनार्दन! पृथ्वीकी तो बात ही छोड़ दें, त्रिलोकका आधिपत्य प्राप्त होनेपर भी धृतराष्ट्र–पुत्रोंकी हत्या करनेसे क्या प्रीति (सुख) प्राप्त होगी?॥१.३२–३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥१.३६॥

अन्वय—माधव (हे माधव!) एतान् (इन सभी) आततायिनः (आततायियोंको) हत्वा (मारकर) अस्मान् (हमें) पापम् एव (पाप ही) आश्रयेत् (लगेगा) तस्मात् (इसलिए) वयम् (हम) सबान्धवान् धार्त्तराष्ट्रान् (बान्धवोंके सहित धृतराष्ट्रके पुत्रोंका) हन्तुम् (वध करनेमें) न अर्हा (समर्थ नहीं हैं) हि (क्योंकि) स्वजनम् हत्वा (स्वजनकी हत्यासे) कथम् (किस प्रकार) सुखिनः (आनन्दित) स्याम (होंगे)॥ १.३६॥

अनुवाद—आततायियोंका वध करना राजनीति शास्त्रके द्वारा अनुमोदित है। परन्तु, आचार्यादि आततायियोंकी हत्या करना धर्मशास्त्रके विरुद्ध होनेसे हमें पाप लगेगा। अतएव मैं बान्धवसहित धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी हत्या करनेमें असमर्थ हूँ। हे माधव! आत्मीय स्वजनको मारकर हमें क्या सुख मिलेगा?॥१.३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥१.३७॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥१.३८॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) यदि अपि (यद्यपि) एते (ये लोग) लोभ उपहत चेतसः (लोभसे भ्रष्टचित्त होकर) कुलक्षयकृतं दोषम् (वंशनाशसे उत्पन्न दोषको) मित्रद्रोहे च पातकम् (मित्रद्रोहसे उत्पन्न पापको) न पश्यन्ति (नहीं देख पा रहे हैं) [तथापि] कुलक्षय कृतम् दोषम् प्रपश्यद्भिः (वंशनाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले) अस्माभिः (हमलोगोंको) अस्मात् पापात् (इस पापसे) निवर्त्तितुम् (निवृत्त होनेके लिए) कथम् न ज्ञेयम् (क्यों नहीं विचार करना चाहिए)॥१.३७–३८॥

अनुवाद—लोभके द्वारा दुर्योधनादिकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। अतः वे कुलक्षयसे उत्पन्न दोष एवं मित्रद्रोहसे उत्पन्न पापका अनुभव करनेमें असमर्थ हैं। किन्तु, हे जनार्दन! हमलोग कुलक्षयसे उत्पन्न दोषको देखकर भी किस कारणसे इस पापसे नहीं निवृत्त होवें?॥१.३७–३८॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥१.३९॥

अन्वय—कुलक्षये (वंशनाशसे) सनातनाः कुलधर्माः (वंशपरम्पराके द्वारा प्राप्त धर्मसमूह) प्रणश्यन्ति (ध्वंस हो जाते हैं) धर्मे नष्टे (धर्मके नष्ट होनेपर) अधर्मः (अधर्म) कृत्स्नम् (सम्पूर्ण) कुलम् उत (कुलको भी) अभिभवति (दबा लेता है)॥ १.३९॥

अनुवाद—कुलक्षय होनेसे सनातन कुलधर्म विनष्ट हो जाते हैं। कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्म सम्पूर्ण कुलको ही अभिभूत कर लेता है॥१.३९॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥१.४०॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) अधर्म अभिभवात् (अधर्मके द्वारा अभिभूत होनेके कारण) कुलस्त्रियः (कुलकी स्त्रियाँ) प्रदुष्यन्ति (प्रदूषित हो जाती हैं) वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशी कृष्ण!) स्त्रीषु दुष्टाषु (स्त्रियोंके दूषित होनेपर) वर्णसङ्करः जायते (वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं)॥१.४०॥

अनुवाद—हे वृष्णिवंशी कृष्ण! अधर्मके प्रबल होनेसे कुलकी सभी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं तथा स्त्रियोंके व्यभिचारिणी होनेपर वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं॥१.४०॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥१.४१॥

अन्वय—सङ्करः (वर्णसङ्कर) कुलघ्नानाम् (कुलघातियोंको) कुलस्य च (एवं कुलको) नरकाय एव (नरकमें ले जानेके लिए ही होता है) एषाम् (इनके) पितरः लुप्त–पिण्ड–उदक–क्रियाः [सन्तः] (पितृगण पिण्ड–जलहीन होकर) पतन्ति हि (निश्चय ही पतित हो जाते हैं)॥१.४१॥

अनुवाद—वर्णसङ्करगण उत्पन्न होकर कुल तथा कुलघातकोंको नरकगामी करते हैं। उस कुलमें पिण्ड और उदक क्रियाके लोप होनेसे पितृगण पतित हो जाते हैं॥१.४१॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥१.४२॥

अन्वय—कुलघ्नानाम् (कुलघातियोंके) एतैः (ये सभी) वर्णसङ्करकारकैः (वर्णसङ्करकारक) दोषैः (दोषोंके द्वारा) शाश्वताः (सनातन) जातिधर्माः कुलधर्माः च (वर्णधर्म और कुलधर्म) उत्साद्यन्ते (विलुप्त हो जाते हैं)॥१.४२॥

अनुवाद—वर्णसङ्करकारी पूर्वोक्त दोषोंके द्वारा कुलनाशकोंके सनातन कुलधर्म एवं जातिधर्म नष्ट हो जाएँगे॥१.४२॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥१.४३॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) उत्सन्नकुलधर्माणाम् (कुलधर्मरहित) मनुष्याणाम् (मनुष्योंका) नरके नियतम् वासः भवति (नरकमें नित्य वास होता है) इति अनुशुश्रुम (ऐसा सुना है)॥१.४३॥

अनुवाद—हे जनार्दन! मैंने सुना है कि जिन लोगोंके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, वे सदा नरकमें वास करते हैं॥१.४३॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥१.४४॥

अन्वय—अहो बत (अहो! शोकका विषय है कि) वयम् (हमलोग) महत् पापम् (महापाप) कर्त्तुम (करनेके लिए) व्यवसिताः (कृतसङ्कल्प हैं) यत् (जो) राज्य सुखलोभेन (राज्य सुखके लोभसे) स्वजनम् हन्तुम् (स्वजनकी हत्या करनेको) उद्यताः (उद्यत हैं)॥१.४४॥

अनुवाद—हाय हाय! कितने विषादका विषय है कि राज्यसुखके लोभसे हमलोग स्वजनके वधको उद्यत होकर महापाप करनेके लिए कृतसङ्कल्प हैं॥ १.४४॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्राः रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥१.४५॥

अन्वय—यदि अप्रतीकारम् (यदि आत्मरक्षाके लिए चेष्टारहित) अशस्त्रम् (शस्त्रविहीन) माम् (मुझे) शस्त्रपाणयः (शस्त्रधारणकरनेवाले) धार्त्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्रके पुत्रगण) रणे (युद्धमें) हन्युः (मार डालें) तत् (तो भी) मे (मेरे लिए) क्षेमतरम् (अपेक्षाकृत हितकर) भवेत् (होगा)॥१.४५॥

अनुवाद—मेरे अस्त्रहीन तथा प्रतिकारशून्य होनेपर भी यदि अस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्रगण मुझे युद्धमें मार डालें, तब भी मेरे लिए यह श्रेयस्कर ही होगा॥१.४५॥

सञ्जय उवाच—
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥१.४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सैन्यदर्शनं' नाम प्रथमोऽध्यायः॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) शोकसंविग्नमानसः (शोकसे उद्विग्नमनवाला) अर्जुनः (अर्जुन) एवं (इस प्रकार) उक्त्वा (बोलकर) संख्ये (युद्धमें) सशरम् चापम् (बाणसहित धनुषको) विसृज्य (त्यागकर) रथोपस्थे (रथके ऊपर) उपाविशत् (बैठ गये)॥१.४६॥

अनुवाद—ऐसा कहकर बाणसहित धनुषका परित्याग करते हुये अर्जुन शोकाकुल चित्तसे रथके ऊपर बैठ गये॥१.४६॥

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

द्वितीय अध्याय (सांख्य योग)

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥२.१॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) तथा (उस प्रकार) कृपया-आविष्टम् (करुणासे अभिभूत) अश्रुपूर्ण आकुल ईक्षणम् (आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले) विषीदन्तम् (विषादयुक्त) तम् (अर्जुनको) मधुसूदनः (मधुसूदनने) इदम् वाक्यम् (यह वचन) उवाच (कहा)॥२.१॥

अनुवाद—सञ्जयने कहा—तब कृपापरवश, अश्रुपूर्ण नयनों तथा विषण्ण वदनवाले अर्जुनको देखकर श्रीमधुसूदनने कहा॥२.१॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥२.२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अर्जुन (हे अर्जुन!) त्वा (तुममें) विषमे (विपदकालमें) कुतः (किस कारणसे) अनार्यजुष्टम् (अनार्योंके द्वारा आचरित) अस्वर्ग्यम् (स्वर्गको न देनेवाला) अकीर्त्तिकरम् (कीर्त्तिको नहीं देनेवाला) इदम् (यह) कश्मलम् (मोह) समुपस्थितम् (उपस्थित हुआ)॥२.२॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—अर्जुन! इस विषम युद्धमें किस कारणसे तुममें अनार्योचित, स्वर्ग-प्रतिषेधक तथा कीर्तिको नष्ट करनेवाला मोह उपस्थित हुआ॥ २.२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥२.३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) क्लैब्यं (नपुंसकताको) मा स्म गमः (मत प्राप्त होओ) एतत् (यह) त्वयि (तुम्हारे लिए) न उपपद्यते (उपयुक्त नहीं है) परन्तप (हे शत्रुका दमन करनेवाले!) क्षुद्रम् (क्षुद्र) हृदयदौर्बल्यम् (हृदयकी दुर्बलता) त्यक्त्वा (त्यागकर) उत्तिष्ठ (खड़े होओ)॥२.३॥

अनुवाद—हे कुन्तीपुत्र! तुम इस क्लीव धर्मका अवलम्बन मत करो, यह तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं है। हे परन्तप! तुम इस क्षुद्र हृदयकी दुर्बलताका परित्याग करते हुये युद्धके लिए खड़े होओ॥२.३॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥२.४॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुनने कहा) अरिसूदन मधुसूदन (हे शत्रुदमनकारी मधुसूदन!) अहम् (मैं) संख्ये (युद्धभूमिमें) पूजार्हौ (पूजनीय) भीष्मम् द्रोणम् च (भीष्म तथा द्रोणाचार्यके विरुद्ध) इषुभिः (बाणोंके द्वारा) कथम् (किस प्रकार) योत्स्यामि (युद्ध करूँगा)॥२.४॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे शत्रुमदनकारी मधुसूदन! मैं किस प्रकार इस युद्धमें पूजनीय भीष्म पितामह एवं द्रोणाचार्यके विरुद्ध बाणोंके द्वारा युद्ध करूँगा?॥ २.४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥२.५॥

अन्वय—महानुभावान् (महानुभाव) गुरून् (गुरुजनको) अहत्वा (न मारकर) हि (निश्चय) इह लोके (इस लोकमें) भैक्ष्यम् अपि (भिक्षान्न भी) भोक्तुम् (भोजन करना) श्रेयः (कल्याणकारक है) तु (किन्तु) गुरून् (गुरुजनको) हत्वा (मारकर) इह एव (इस लोकमें) रुधिर प्रदिग्धान् (रक्तरञ्जित) अर्थकामान् (अर्थ और कामरूप) भोगान् (भोगोंको) भुञ्जीय (भोगना होगा)॥२.५॥

अनुवाद—महानुभाव गुरुजनोंका वध न कर भिक्षाके द्वारा भी जीवन- धारण करना इस लोकमें अच्छा है। गुरुजनोंकी हत्या करनेसे इस लोकमें ही रक्तसे सने हुये काम और अर्थका उपभोग करना पड़ेगा॥२.५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः॥२.६॥

अन्वय—[हम] जयेम (जीतें) यदि वा नः (या हमलोगोंको) जयेयुः (जीतें) कतरत् गरीयः (क्या श्रेष्ठ है) एतत् (यह) न विद्म (नहीं जानता हूँ) च (और) यद्वा (कारण) यान् एव (जिन लोगोंकी) हत्वा (हत्याकर) न जिजीविषामः (जीवित रहना नहीं चाहते हैं) ते धार्त्तराष्ट्राः (वे धृतराष्ट्रके पक्षवाले) प्रमुखे अवस्थिताः (सामने युद्धके लिए खड़े हैं)॥२.६॥

अनुवाद—फलतः इस युद्धमें जय और पराजयमें हमलोगोंके लिए कौनसा गौरवयुक्त है—उसे मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। क्योंकि, जिनका वधकर हम जीवित भी नहीं रहना चाहते हैं, वे ही धृतराष्ट्रके पक्षवाले सामने उपस्थित हैं॥२.६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥२.७॥

अन्वय—कार्पण्य–दोष–उपहत–स्वभावः (वीर स्वभावका परित्यागकर कायरतारूप दोषसे अभिभूत) धर्मसंमूढचेता (धर्मके विषयमें मोहित चित्तवाला) अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) पृच्छामि (पूछता हूँ) मे (मेरे लिए) यत् (जो) श्रेयः (मङ्गलदायक) स्यात् (हो) तत् (वह) निश्चितम् ब्रूहि (निश्चयकर कहें) अहम् (मैं) ते शिष्यः (आपका शिष्य हूँ) त्वाम् (आपके) प्रपन्नम् (शरणागत) माम् (मुझे) शाधि (शिक्षा दें)॥२.७॥

अनुवाद—इस समय धर्मविमूढ़चित्त एवं स्वाभाविक वीरता परित्यागरूप कार्पण्यदोषसे अभिभूत होकर मैं आपसे जिज्ञासा करता हूँ कि मेरे लिए जो श्रेयस्कर है, उसे ही निश्चयकर आप उपदेश दें। मैं आपका शिष्य आप ही के शरणागत हुआ॥२.७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या–
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥२.८॥

अन्वय—भूमौ (पृथ्वीमें) असपत्नम् (निष्कण्टक) ऋद्धम् राज्यम् (समृद्ध राज्य) सुराणाम् आधिपत्यम् च (एवं देवताओंके आधिपत्यको) अवाप्य अपि (पाकर भी) यत् (जो) मम (मेरी) इन्द्रियाणाम् (इन्द्रियोंके) उत्शोषणम्

(सुखानेवाले) शोकम् (शोकको) अपनुद्यात् (दूर करेगा) तत् (वह) न हि प्रपश्यामि (प्रकटरूपमें नहीं देखता हूँ)॥२.८॥

अनुवाद—पृथ्वीके निष्कण्टक और समृद्ध राज्य एवं देवताओंका आधिपत्य प्राप्त होनेपर भी जो शोक मेरी इन्द्रियोंको सुखा रहा है, मैं उन्हें दूर करनेका कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ॥२.८॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥२.९॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) परन्तपः (शत्रुओंको दमन करनेवाला) गुडाकेशः (अर्जुन) हृषीकेशम् (श्रीकृष्णको) एवम् उक्त्वा (इस प्रकार कहकर) न योत्स्ये (मैं युद्ध नहीं करूँगा) इति (यह) गोविन्दम् (गोविन्दको) उक्त्वा (कहकर) तूष्णीम् बभूव ह (चुप हो गये)॥२.९॥

अनुवाद—सञ्जयने कहा कि उसके बाद शत्रुको ताप देनेवाले गुड़ाकेश अर्जुनने हृषीकेशसे कहा—"हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा" और मौन हो गये॥ २.९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥२.१०॥

अन्वय—भारत (हे भरतवंशी धृतराष्ट्र!) हृषीकेशः (श्रीकृष्णने) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) विषीदन्तम् (शोकातुर अर्जुनको) प्रहसन् इव (मानो हँसते हुये) इदम् वचः उवाच (यह वचन कहा)॥२.१०॥२.

अनुवाद—हे धृतराष्ट्र! तब दोनों सेनाओंके मध्यमें खड़े विषादग्रस्त पार्थको हृषीकेशने हँसते हुये यह बात कही॥२.१०॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥२.११॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) त्वम् (तुम) अशोच्यान् (शोकके लिए अयोग्य व्यक्तियोंके लिए) अनु–अशोचः (शोक करते हो) [पुनः] प्रज्ञावादान् च (पण्डितोंके वचनोंको भी) भाषसे (कहते हो) पण्डिताः (पण्डितगण) गतासून् (जिनके प्राण चले गये हैं) अगतासून् च (और प्राणवानोंके लिए) न अनुशोचन्ति (शोक नहीं करते हैं)॥२.११॥

अनुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! ज्ञानवान व्यक्तिकी तरह बोलनेपर भी तुम अशोचनीय विषयोंके प्रति शोक करते हो; पण्डितगण क्या मृत और क्या जीवित, किसीके लिए शोक नहीं करते हैं॥२.११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥२.१२॥

अन्वय—अहम् (मैं कृष्ण) जातु (किसी कालमें) न आसम् (नहीं था) तु (किन्तु) [इति—ऐसा] न एव (नहीं है) त्वम् (अर्जुन तुम) न [आसीः] (नहीं थे) [इति—ऐसा] न (नहीं) इमे (ये सभी) जनाधिपाः (राजागण) न आसन् (नहीं थे) [इति—ऐसा] न (नहीं) च (एवं) अतः परम् (इससे आगे) वयम् सर्वे (हम सब) न भविष्यामः (नहीं रहेंगे) (इति) एव न (ऐसा भी नहीं है)॥२.१२॥

अनुवाद—आत्मा अविनाशी है, अतएव इसके लिए शोकका कोई कारण नहीं है। आत्मा दो प्रकारका होता है—परमात्मा और जीवात्मा। मैं परमात्मा हूँ। तुम और ये सभी राजालोग जीवात्मा हैं। ऐसा नहीं है कि मैं, तुम और ये समस्त राजागण पूर्वकालमें नहीं थे, ऐसा भी नहीं है कि भविष्यत् कालमें ये लोग नहीं रहेंगे। अर्थात्, हमलोग अभी वर्त्तमान हैं, भूतमें भी थे और भविष्यतमें भी रहेंगे॥ २.१२॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥२.१३॥

अन्वय—देहिनः (शरीरधारीका) अस्मिन् देहे (इस शरीरमें) यथा (जिस प्रकार) कौमारम् (कुमार अवस्था) यौवनम् (युवा अवस्था) जरा (वृद्ध अवस्था) तथा (उसी प्रकार) देहान्तर प्राप्तिः (अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है) धीरः (बुद्धिमान् व्यक्ति) तत्र (उस विषयमें) न मुह्यति (मोहित नहीं होते हैं)॥२.१३॥

अनुवाद—जिस प्रकार (आत्मा) यह देह धारण करता है और यह देह ही क्रमानुसार कौमार, यौवन तथा बुढ़ापेको प्राप्त होता है, परन्तु देही (आत्मा) का अस्तित्व वर्त्तमान रहता है, उसी प्रकार देहान्तर होने पर भी देही (आत्मा) के अस्तित्वका लोप नहीं होता है। बल्कि, जिस प्रकार कौमार्यावस्थासे यौवनावस्थाकी प्राप्ति होनेसे हर्ष और सुख होता है, उसी प्रकार जराग्रस्त देहके त्यागसे भगवद्भक्त–आत्माका उत्कर्ष और हर्ष ही होता है। अतः धीर व्यक्ति बद्धजीवके देहनाश होनेपर शोक नहीं करते हैं॥२.३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥२.१४॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन!) मात्रास्पर्शाः तु (इन्द्रियोंकी वृत्तिके साथ विषयोंका संयोग) शीत–उष्ण–सुख–दुःखदाः (सर्दी, गर्मी, सुख तथा दुःख देता है) [ते—वे] आगमापायिनः (क्षणभङ्गुर) अनित्याः (अनित्य हैं) भारत (हे भारत!) तान् (उनको) तितिक्षस्व (सहन करो)॥२.१४॥

अनुवाद—मात्रा अर्थात् इन्द्रियवृत्तिके द्वारा विषयानुभव ही शीत और ग्रीष्मके रूपमें प्रतीत होते हैं एवं शीत–उष्णादि ही सुख–दुःखको देनेवाले हैं। वे आते हैं और चले जाते हैं; अतएव वे अनित्य हैं। हे कुन्तीपुत्र! इन सबको सहन करना ही शास्त्रविहित धर्म है॥२.१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥२.१५॥

अन्वय—पुरुषर्षभ (हे पुरुषश्रेष्ठ!) एते (ये सभी मात्रा–स्पर्श) समदुःखसुखम् (सुख तथा दुःखको समान जाननेवाले) यम् धीरम् पुरुषम् (जिस धीर पुरुषको) न व्यथयन्ति (व्याकुल नहीं कर सकते) सः हि (वे निश्चय ही) अमृतत्वाय कल्पते (मोक्षके लिए योग्य होते हैं)॥२.१५॥

अनुवाद—हे पुरुषश्रेष्ठ! जो व्यक्ति सर्दी–गर्मीके द्वारा व्यथित नहीं होते हैं, सुख एवं दुःखको समान समझते हैं, वे धीर व्यक्ति ही अमृतत्व अर्थात् आत्म–यथात्मसिद्धिरूप मोक्ष पानेके योग्य हैं॥२.१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥२.१६॥

अन्वय—असतः (असत् वस्तुकी तो) भाव (सत्ता) न विद्यते (नहीं है) तु (किन्तु) सतः (सत् या नित्य वस्तुका) अभावः (विनाश) न (नहीं है) तत्त्वदर्शिभिः (तत्त्वदर्शी लोगोंके द्वारा) अनयोः उभयोः अपि (इन दोनोंका) अन्तः (निष्कर्ष) दृष्टः (देखा गया है)॥२.१६॥

अनुवाद—जड़देह असत् है, अतः यह परिवर्तनशील या अनित्य है। परन्तु जीवात्मा सत् अर्थात् अपरिवर्तनशील या नित्य है। स्वरूपतः जीवका नाश नहीं हो सकता है। अतएव सत् और असत् वस्तुको इस प्रकार पृथक् करते हुये तत्त्वदर्शियोंने इनके तत्त्वका विचार किया है॥२.१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति॥२.१७॥

अन्वय—तु (किन्तु) येन (जिससे) इदम् सर्वम् (यह सम्पूर्ण) ततम् (व्याप्त है) तत् (उस आत्माको) अविनाशी (विनाशरहित) विद्धि (जानो) कश्चित् (कोई भी) अव्ययस्य अस्य (उस अविनाशी आत्माका) विनाशम् (विनाश) कर्त्तुम् (करनेमें) न अर्हति (समर्थ नहीं है)॥२.१७॥

अनुवाद—जो अविनाशी जीव है, वह आत्माके रूपमें मनुष्यके समस्त शरीरमें व्याप्त है। परमाणु सदृश अतिसूक्ष्म होनेपर भी उसे सम्पूर्ण शरीरको पुष्ट करनेवाले महौषधके समान ही समस्त शरीरमें व्याप्त रहनेकी शक्ति है। वह स्वर्ग-नरक और नाना योनियोंमें परिभ्रमण कर सकता है, अतः उसे स्वर्ग कहा जाता है। वह अव्यय अर्थात् नित्य है। कोई भी उसे नष्ट नहीं कर सकता है॥२.१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धस्व भारत ॥२.१८॥

अन्वय—नित्यस्य (नित्य एकरूप) अनाशिनः (विनाशरहित) अप्रमेयस्य (अपरिमेय, न मापने योग्य) शरीरिणः (देहधारी जीवके) इमे देहाः (ये सब भौतिक शरीर) अन्तवन्तः (विनाशशील) उक्ताः (कहे गये हैं) भारत (हे अर्जुन!) तस्मात् (अतः) युद्धस्व (युद्ध करो)॥२.१८॥

अनुवाद—अप्रमेय, अविनाशी, नित्य तथा शरीरधारी जो जीव हैं, उनके शरीर नाशवान हैं। अतएव देहके विषयमें शोक नहीं करते हुये, मोक्षके हेतुस्वरूप धर्मका आचरण करते हुये युद्ध करो॥२.१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥२.१९॥

अन्वय—यः (जो व्यक्ति) एनम् (इस जीवात्माको) हन्तारम् (वध करनेवाला) वेत्ति (जानता है) यः च (एवं जो) एनम् (इस आत्माको) हतम् मन्यते (मरा हुआ समझता है) तौ उभौ (वे दोनों) न विजानीतः (नहीं जानते हैं) [यस्मात्-क्योंकि] अयम् (यह आत्मा) न हन्ति (न वध करता है) न हन्यते (न हत होता है)॥२.१९॥

अनुवाद—जो ऐसा समझते हैं कि एक जीव दूसरे जीवात्माकी हत्या करता है और जो ऐसा समझते हैं कि एक जीव अन्य जीवात्माके द्वारा हत होता है—वे दोनों ही कुछ भी नहीं जानते हैं। जीवात्मा किसीकी हत्या नहीं करता है और किसीके द्वारा हत भी नहीं होता है। अतः हे मित्र अर्जुन! तुम आत्मा हो, तुम न तो हत्या करनेवाले हो और न ही तुम हत हो सकते हो। अज्ञ लोगोंके

द्वारा तुम गुरु–हन्ताके रूपमें अपयश प्राप्त करोगे, इस भयका भी प्रयोजन नहीं है॥२.१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२.२०॥

अन्वय—अयम् (यह जीवात्मा) कदाचित् (कभी भी) न जायते वा म्रियते (न जन्म लेता है या न कभी मरता है) भूत्वा वा (अथवा उत्पन्न होकर) भूयः न भविता (पुनः उत्पन्न नहीं होता है) अजः (अजन्मा) नित्यः (नित्य) शाश्वतः (शाश्वत) पुराणः (रूपान्तररहित या प्राचीन) शरीरे हन्यमाने (शरीर नष्ट होनेपर भी) न हन्यते (आत्माका विनाश नहीं होता है)॥२.२०॥

अनुवाद—जीवात्मा 'अज' अर्थात् जन्मरहित और 'नित्य' अर्थात् सदा ही वर्त्तमान है। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान—ये तीनों काल इसका ध्वंस नहीं कर सकते। इसका जन्म–मृत्यु नहीं है अथवा पुनः पुनः इसकी उत्पत्ति और वृद्धि इत्यादि नहीं होती है। यह पुरातन है, किन्तु नित्य नवीन है। यह हत नहीं होता है। जन्म–मरणशील शरीरसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है॥२.२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२.२१॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यः (जो) एनम् (आत्माको) नित्यम् (नित्य) अजम् (अज) अव्ययम् (अव्यय) अविनाशिनम् (अविनाशी) वेद (जानते हैं) सः पुरुषः (वे पुरुष) कथम् (किस प्रकार) कम् (किसीका) घातयति (वध करवाते हैं) (वा) कम् (किसीकी) हन्ति (हत्या करते हैं)॥२.२१॥

अनुवाद—हे पार्थ! जो व्यक्ति जीवको अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय समझता है, वह क्या किसीकी हत्या करता है या हत्या करनेकी आज्ञा देता है?॥२.२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२.२२॥

अन्वय—नरः (मनुष्य) यथा (जिस प्रकार) जीर्णानि वासांसि (पुराने वस्त्रोंको) विहाय (त्यागकर) अपराणि (दूसरे) नवानि (नये वस्त्रोंको) गृह्णाति (ग्रहण करता है) तथा (उसी प्रकार) देही (जीवात्मा) जीर्णानि शरीरानि (पुराने शरीरोंको) विहाय

(त्यागकर) अन्यानि नवानि (दूसरे नये शरीरोंको) संयाति (धारण करता है)॥ २.२२॥

अनुवाद—जीर्ण वस्त्रोंको परित्यागकर मनुष्य जिस प्रकार दूसरे नये वस्त्रको ग्रहण करता है, देही (जीवात्मा) भी उसी प्रकार पुराने जीर्ण शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरको धारण करता है॥२.२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२.२३॥

अन्वय—शस्त्राणि (शस्त्रसमूह) एनम् (इस जीवात्माको) न छिन्दन्ति (नहीं छेद सकते हैं) पावकः (अग्नि) एनम् (इसे) न दहति (नहीं जला सकती है) आपः (जल) एनम् (इसको) न क्लेदयन्ति (नहीं गीला कर सकता है) च (एवं) मारुतः (वायु) न शोषयति (नहीं सुखा सकती है)॥२.२३॥

अनुवाद—जीवात्मा अस्त्र–शस्त्रादिके द्वारा छिन्न–भिन्न नहीं होता है। अग्निके द्वारा दग्ध नहीं होता है, जलके द्वारा गीला नहीं होता है और वायुके द्वारा भी शुष्क नहीं होता है॥२.२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२.२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२.२५॥

अन्वय—अयम् (यह आत्मा) अच्छेद्यः (अविभाज्य है) अयम् (यह जीवात्मा) अदाह्यः (अदाह्य, न जलनेवाला है) अयम् (ंयह जीवात्मा) अक्लेद्यः (न गीला होनेवाला है) अशोष्य एव च (और न सूखनेयोग्य है) अयम् (यह जीवात्मा) नित्यः (नित्य) सर्वगतः (सर्वत्र गमन करनेपर भी) स्थानुः (स्थिर रहनेवाला है) अचलः (अचल, अपरिवर्तनशील) सनातनः (सनातन) अयम् (यह जीवात्मा) अचिन्त्य (मनके लिए अगोचर है) अयम् (यह जीवात्मा) अविकार्यः (अविकारी) उच्यते (कहा जाता है) तस्मात् (अतः) एनम् (इस जीवात्माको) एवं विदिता (इस प्रकार जानकर) अनुशोचितुम् (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)॥२.२४–२५॥

अनुवाद—यह जीवात्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। यह नित्य, सभी योनियोंमें भ्रमण करनेवाला, स्थायी और अचल अर्थात् स्थिरतर है। यह सनातन अर्थात् सदा ही विद्यमान है॥२.२४॥

यह अचिन्त्य, अव्यक्त और अविकारी भी कहलाता है। अतिसूक्ष्म होनेके कारण यह अव्यक्त भी कहलाता है, तथापि देहव्यापी धर्मवशतः इसे अचिन्त्य भी कहा जाता है। जन्मादि षड्विकार रहित होनेके कारण इसे अविकारी भी कहा जाता है। जीवात्माको इस प्रकार जाननेके बाद शोकका परित्याग करना ही तुम्हारे लिए उचित है॥२.२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥२.२६॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) अथ च (और भी यदि) एनम् (आत्माको) नित्यजातम् (शरीरके साथ उत्पन्न होनेवाला) वा नित्य मृतम् (या नित्य मरणशील) मन्यसे (मानते हो) तथापि (तथापि) त्वम् (तुम) एनम् (इसके लिए) शोचितुम् (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)॥२.२६॥

अनुवाद—हे महाबाहो! जीवको यदि नित्य जन्म ग्रहण करनेवाला और नित्य मरनेवाला ही समझो, तब भी तुम्हारा इस प्रकारका शोक करनेका कोई कारण नहीं है॥२.२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२.२७॥

अन्वय—हि (क्योंकि) जातस्य (जन्मप्राप्त व्यक्तिकी) मृत्युः (मृत्यु) धुरवः (निश्चित है) मृतस्य च (और मृत व्यक्तिका) जन्म (जन्म) धुरवम् (निश्चित है) तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) अपरिहार्ये अर्थे (अनिवार्य विषयमें) शोचितुम (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)॥२.२७॥

अनुवाद—यदि जन्म होनेसे कर्मक्षय होनेपर मृत्यु निश्चित है और मृत्युके उपरान्त कर्मफल भोग करनेके लिए पुनः जन्म लेना भी निश्चित है, तो फिर इस प्रकारके अपरिहार्य विषयमें शोकाकुल होना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है॥२.२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥२.२८॥

अन्वय—भारत (हे अर्जुन!) भूतानि (सभी जीव) अव्यक्तादीनि (प्रारम्भमें अप्रकट, अज्ञात हैं) व्यक्तमध्यानि (मध्यावस्थामें व्यक्त या ज्ञात हैं) अव्यक्तनिधनानि एव (मृत्युके बाद भी अव्यक्त या अज्ञात हैं) तत्र का परिदेवना (उसके लिए शोक क्यों है)॥२.२८॥

अनुवाद—हे भारत! अप्रकट जीवगण उत्पन्न (जन्म) होनेपर व्यक्त होते हैं। जन्म और मरण—इन दोनोंके बीचकी अवस्थामें व्यक्त रहते हैं। पुनः निधन होनेपर अव्यक्त हो जाते हैं। फिर इसके लिए शोक क्यों करते हो? यद्यपि उक्त मत साधु सम्मत नहीं हैं, तथापि यदि विचार करके इसे स्वीकार किया जाय तब भी क्षत्रिय धर्मकी रक्षाके लिए युद्ध करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है॥२.२८॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन–
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२.२९॥

अन्वय—कश्चित् (कोई) एनम् (इस आत्माको) आश्चर्यवत् (आश्चर्यकी भाँति) पश्यति (देखता है) तथा एव च (उसी प्रकार) अन्यः (अन्य कोई) एनम् (इसको) आश्चर्यवत् (आश्चर्यकी भाँति) वदति (बोलता है) अन्यः च (और लोग भी) एनम् (इसे) आश्चर्यवत् (आश्चर्यकी भाँति) श्रृणोति (सुनते हैं) कश्चित् च (पुनः कोई) श्रुत्वा अपि (सुनकर भी) एनम् (इसे) न वेद एव (नहीं जानता है)॥२.२९॥

अनुवाद—कोई–कोई जीवात्माको आश्चर्य–वत् देखते हैं, कोई आश्चर्यभावसे वर्णन करते हैं, एवं कोई–कोई आश्चर्य ज्ञानसे इसके तत्त्वका श्रवण करते हैं और अनेक लोग सुनकर भी इसे समझ नहीं पाते हैं। जीवात्माके स्वरूपसे सम्बन्धित इस प्रकारके भ्रमसे ही जड़वाद, अनित्य चैतन्यवाद और केवलाद्वैतरूप अनर्थ उत्पन्न हुआ है॥२.२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥२.३०॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) अयम् देही (यह आत्मा) सर्वस्य देहे (सभीके शरीरमें) नित्यम् (सदा ही) अवध्यः (अवध्य है) तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) सर्वाणि भूतानि (सभी जीवोंके लिए) शोचितुम् (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)॥२.३०॥

अनुवाद—वस्तुतः देहधारी यह जीवात्मा नित्य अवध्यरूपमें विराजमान रहता है। अतएव किसी भी जीवके लिए तुम्हारा शोक करना अकर्त्तव्य है॥२.३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥२.३१॥

अन्वय—स्वधर्ममपि च (और स्वधर्मकी भी) अवेक्ष्य (आलोचनाकर) त्वम् (तुम) विकम्पितुम (विचलित होनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो) हि (क्योंकि) क्षत्रियस्य (क्षत्रियका) धर्म्यात् युद्धात् (धर्मके लिए युद्ध करनेकी अपेक्षा) अन्यत् श्रेयः (अन्य मङ्गल कार्य) न विद्यते (नहीं है)॥२.३१॥

अनुवाद—स्वधर्मके प्रति दृष्टि रखनेपर तुम इस प्रकार भयभीत नहीं हो सकते हो। क्योंकि, धर्मयुद्धके अतिरिक्त अन्य कुछ भी क्षत्रियके लिए श्रेयस्कर कर्म नहीं है। 'मुक्त' और 'बद्ध' दशाके भेदसे जीवका स्वधर्म दो प्रकारका होता है। मुक्तावस्थामें जीवका स्वधर्म उपाधिरहित होता है, परन्तु जीवके जड़बद्ध होनेपर वही स्वधर्म कुछ अंशमें उपाधियुक्त हो जाता है। बद्धावस्थामें जीवकी विविध प्रकारकी अवान्तर अवस्थाएँ हैं। उस–उस अवान्तर अवस्थाके स्वधर्ममें भी आकारका भेद होना अनिवार्य है। जीव जड़बद्ध अवस्थामें मानव शरीरमें अवस्थित है, उस अवस्थामें उसका धर्म वर्णाश्रमधर्मके अनुरूप होनेपर ही अतिशय सुन्दर होता है। अतएव वर्णाश्रम धर्मका ही दूसरा नाम 'स्वधर्म' है। क्षत्रिय स्वभाववाले व्यक्तिके लिए युद्धकी अपेक्षा और क्या श्रेयस्कर हो सकता है?॥२.३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥२.३२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) सुखिनः क्षत्रियाः (भाग्यवान् क्षत्रियगण) यदृच्छया उत्पन्नम् (स्वतः प्राप्त) अपावृतम् स्वर्गद्वारम् च (एवं खुले हुये स्वर्गद्वारके समान) इदृशम् युद्धम् (इस प्रकार युद्धको) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)॥२.३२॥

अनुवाद—हे पार्थ! जिन क्षत्रियोंको दैवात् उपस्थित स्वर्गके खुले द्वारके समान ऐसा युद्ध प्राप्त होता है, वे ही सौभाग्यवान हैं॥२.३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥२.३३॥

अन्वय—अथ (दूसरी ओर) चेत् (यदि) त्वम् (तुम) इमम् (यह) धर्म्यं संग्रामम् (धर्मयुद्ध) न करिष्यसि (नहीं करोगे) ततः (तो) स्वधर्मं कीर्त्तिम् च (स्वधर्म और कीर्ति) हित्वा (खोकर) पापम् (पापको) अवाप्यसि (पाओगे)॥२.३३॥
२.

अनुवाद—फलतः इस धर्मयुद्धको नहीं करनेसे तुम अपने धर्म और कीर्तिसे भ्रष्ट होकर पापके भागी बनोगे॥२.३३॥

अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते॥२.३४॥

अन्वय—भूतानि च (सभी लोग) ते (तुम्हारा) अव्ययाम् अकीत्तिम् अपि (शाश्वत अकीर्त्ति भी) कथयिष्यन्ति (कहेंगे) च (और) सम्भावितस्य (सम्मानित) जनस्य (व्यक्तिका) अकीर्त्ति (अपयश) मरणात् (मरनेकी अपेक्षा भी) अतिरिच्यते (अधिक होता है)॥२.३४॥

अनुवाद—ऐसा होनेपर चिरकाल तक लोग तुम्हारी अक्षय–अकीर्तिकी चर्चा करेंगे। अतिप्रतिष्ठित व्यक्तिके लिए अकीर्त्ति मृत्युसे भी अधिक क्लेशकर है॥ २.३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥२.३५॥

अन्वय—महारथाः (महारथी लोग) त्वाम् (तुम्हें) भयात् (भयके कारण) रणात् (युद्धसे) उपरतम् (भागा हुआ) मंस्यन्ते (मानेंगे) च (और) त्वम् (तुम) येषाम् (जिनके निकट) बहुमतः (बहु सम्मानित) भूत्वा (होकर) तेषाम् (उनके निकट) सः त्वम् (वही तुम) लाघवम् यास्यसि (तुच्छता प्राप्त करोगे)॥२.३५॥

अनुवाद—जो सभी महारथी तुम्हें अत्यधिक सम्मान देते हैं, वे ही तुम्हें तुच्छ समझेंगे। वे समझेंगे कि भयके कारण ही तुम युद्धसे पराङ्मुख (विमुख) हुये हो॥२.३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥२.३६॥

अन्वय—तव (तुम्हारे) अहिताः (शत्रुलोग) तव सामर्थ्यम् (तुम्हारी सामर्थ्यकी) निन्दतः (निन्दा करते हुये) बहून् (विविध) अवाच्यवादान् च (न कहने योग्य वचनोंको) वदिष्यन्ति (बोलेंगे) नु (हे) ततः (उसकी अपेक्षा) दुःखतरम् (अधिक दुःखका विषय) किम् (क्या है)॥२.३६॥

अनुवाद—वैरीलोग तुम्हारे लिए कितनी अकथनीय कटु बातें करेंगे, सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे। तुम्हारे लिए इससे अधिक दुःखका विषय और क्या हो सकता है?॥२.३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥२.३७॥

अन्वय—हतः वा (या तो मारे जानेपर) स्वर्गं प्राप्स्यसि (स्वर्ग प्राप्त करोगे) जित्वा वा (या जीतने पर) महीम् भोक्ष्यसे (पृथ्वीका भोग करोगे) कौन्तेय (हे

कुन्तीनन्दन अर्जुन!) तस्मात् (अतः) युद्धाय (युद्धके लिए) कृतनिश्चयः (कृतसङ्कल्प होकर) उत्तिष्ठ (उठो)॥२.३७॥

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन! तुम यदि युद्धमें हत होओगे तो तुम्हें स्वर्ग प्राप्त होगा और यदि विजयी होओगे तो पृथ्वीका भोग करोगे। अतएव दृढ़ निश्चयी होकर युद्धके लिए खड़े हो जाओ॥२.३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥२.३८॥

अन्वय—ततः (ऐसा होनेपर) सुखदुःखे (सुख–दुःख) लाभालाभौ (लाभ और हानि) जयाजयौ च (जय और पराजयको) समे कृत्वा (समान समझकर) युद्धाय (युद्धके लिए) युज्यस्व (तैयार हो जाओ) एवं (इस प्रकार) पापम् न अवाप्स्यसि (पापका भागी नहीं होओगे)॥२.३८॥

अनुवाद—सुख–दुःख, लाभ–हानि और जय–पराजयको समान जानते हुये तुम युद्धके लिए तत्पर होओ। ऐसा होनेपर पापके भागी नहीं बनोगे॥२.३८॥२.

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥२.३९॥

अन्वय—पार्थ (हे अर्जुन!) सांख्ये (सम्यक् ज्ञानके विषयमें) ते (तुम्हें) एषा बुद्धिः (यह ज्ञान) अभिहिता (कहा गया) तु (किन्तु) योगे (भक्तियोगमें) इमाम् श्रृणु (इसे सुनो) यया बुद्ध्या (जिस बुद्धि द्वारा) युक्तः (युक्त होकर) कर्मबन्धम् (संसारसे) प्रहास्यसि (मुक्त होओगे)॥२.३९॥

अनुवाद—सांख्य अर्थात् ज्ञान सम्बन्धी बुद्धि (ज्ञान) की बातें कही गईं। अब भक्तियोगसे सम्बन्धित बुद्धिके बारेमें श्रवण करो। हे पार्थ! भक्ति–विषयणी बुद्धिसे युक्त होनेपर तुम संसारको पार करनेमें समर्थ हो जाओगे। आगे यह बताया जायेगा कि बुद्धियोग एक ही है। जब यह कर्मकी अवधिके अन्दर लक्षित होता है, तब यह 'कर्मयोग' कहलाता है। जब यह कर्मकी सीमाका लङ्गनकर ज्ञानकी सीमाके अन्तर्गत होता है, तब यह 'ज्ञानयोग' या 'सांख्ययोग' कहलाता है। जब यह दोनों सीमाओंका अतिक्रमणकर भक्तिको स्पर्श करता है, तब यह 'भक्तियोग' या 'विशुद्ध और सम्पूर्ण बुद्धियोग' कहलाता है॥२.३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥२.४०॥

अन्वय—इह (इस भक्तियोगमें) अभिक्रमनाशः (प्रयत्नका नाश) न अस्ति (नहीं है) प्रत्यावायः न विद्यते (दोष भी नहीं है) अस्य धर्मस्य (इस धर्मका) स्वल्पम् अपि (थोड़ा भी) (पालन) महतो भयात् (संसाररूप महाभयसे) त्रायते (उद्धार करता है)॥२.४०॥

अनुवाद—भक्तियोगमें किया गया प्रयास व्यर्थ नहीं जाता है और इसमें कोई दोष भी नहीं है। इसका जरा–सा भी अनुष्ठान अनुष्ठानकारीको संसाररूपी महाभयसे परित्राण कर देता है॥२.४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥२.४१॥

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) इह (इस भक्तिमार्गमें) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः (बुद्धि) एका (एकनिष्ठा होती है) हि (किन्तु) अव्यवसायिनाम् (भक्तिबहिर्मुख लोगोंकी) बुद्धयः (बुद्धियाँ) अनन्ताः बहुशाखाः च (अनन्त एवं बहुशाखायुक्त होती हैं)॥२.४१॥

अनुवाद—भक्तियोग दो प्रकारका है—(१) श्रवण–कीर्त्तनादिरूपी मुख्य भक्तियोग एवं (२) श्रीकृष्णको अर्पित निष्काम–कर्मरूपी गौण भक्तियोग। मुख्य भक्तियोगका लक्ष्य एकमात्र मैं हूँ। अतएव इससे (मुख्य भक्तियोग) सम्बन्धित बुद्धि व्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धि है। एकमात्र मेरे ही प्रति जिनकी निष्ठा नहीं है, वैसे अव्यवसायी लोगोंकी ही कर्मयोग सम्बन्धी बुद्धि होती है। वह अनेक विषयनिष्ठ होनेके कारण बहुशाखामयी और अनन्त कामनाओंवाली होती है। उसमें कर्मनाश और प्रत्यवायकी आशङ्का है॥२.४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥२.४२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) (ये) अविपश्चितः (जो मूर्खलोग) याम् इमाम् पुष्पिताम् वाचम् (जो सभी आपात मनोरम परन्तु परिणाममें विषमय मधुपुष्पित वाक्य हैं) प्रवदन्ति (उसे सबकी अपेक्षा प्रकृष्ट वेदवाक्य कहते हैं) [ते—वे] वेदवादरताः (वेदके अर्थवादमें रत) अन्यत् न अस्ति (अन्य ईश्वर–तत्त्व नहीं) इति वादिनः (इस प्रकार कहनेवाले हैं)॥२.४२॥

अनुवाद—वे अव्यवसायी लोग अनभिज्ञ हैं सर्वदा वेदवादमें रत रहते हैं (अर्थात् वेदके मुख्य तात्पर्यको नहीं जानकर अर्थवादमें रत रहते हैं)। काम्य–कर्म–फलाकांक्षी तथा स्वर्गप्राप्ती होकर और जन्म–कर्म–फलप्रद क्रियाकी बहुलता

द्वारा भोग और ऐश्वर्य–सुख प्राप्त करनेके साधनस्वरूप आपात–मनोरम श्रवण–रमणीय (किन्तु परिणाममें विषमय) पुष्पित वाक्योंमें अनुरक्त होकर पुनः पुनः ऐसा कहते हैं॥२.४२॥

कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥२.४३॥

अन्वय—(अतएव) कामात्मानः (कामके द्वारा कलुषित चित्तवाले) स्वर्गपराः (स्वर्ग चाहनेवाले) जन्मकर्मफलप्रदाम् (जन्म तथा कर्मफल देनेवाली) भोगैश्वर्यगतिम् प्रति (भोग एवं ऐश्वर्यकी प्राप्तिके साधनस्वरूप) क्रियाविशेषबहुलाम् (विविध क्रियाओंको) वाचम् प्रवदन्ति (प्रकृष्ट वाक्य कहते हैं)॥२.४३॥

अनुवाद—सामान्य कर्मफलाकांक्षी और स्वर्गप्रार्थी व्यक्तिगण जन्मकर्मरूपी फलको देनेवाली विविध क्रियाओंके द्वारा भोग एवं ऐश्वर्य सुख प्राप्त करनेके साधनस्वरूप आपात मनोरम और श्रवण–रमणीय (किन्तु परिणाममें विषमय) पुष्पित वाक्योंमें अनुरक्त होते हैं॥२.४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥२.४४॥

अन्वय—तथा (उन वाक्योंके द्वारा) अपहृतचेतसाम् (अपहृत चित्तवाले) भोगैश्वर्य प्रसक्तानाम् (भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त व्यक्तियोंकी) व्यवसायात्मिका बुद्धिः (निश्चयात्मिका बुद्धि) समाधौ (समाधिमें) न विधीयते (समाहित नहीं होती है)॥२.४४॥

अनुवाद—जो व्यक्ति भोग एवं ऐश्वर्यमें एकान्तरूपसे आसक्त हैं, वैसे अविवेकी और मूढ़ व्यक्तियोंकी बुद्धि समाधि अर्थात् भगवान्‌के प्रति एकनिष्ठता प्राप्त नहीं करती॥२.४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥२.४५॥

अन्वय—अर्जुनः (हे अर्जुन!) वेदाः (सभी वेद) त्रैगुण्यविषयाः (त्रिगुणात्मक हैं) [त्वम् तु—किन्तु तुम] निस्त्रैगुण्यः (तीनों गुणोंसे अतीत) निर्द्वन्द्वः (गुणमय मान–अपमानसे रहित) नित्यसत्त्वस्थः (शुद्ध सत्त्वमें अवस्थित) निर्योगक्षेमः (योगक्षेमसे रहित) आत्मवान् (मेरे द्वारा प्रदत्त बुद्धिसे युक्त) भव (होओ)॥२.४५॥

अनुवाद—शास्त्रोंमें दो प्रकारके विषय होते हैं—उद्दिष्ट विषय और निर्दिष्ट विषय। जो विषय जिस शास्त्रका चरम उद्देश्य होता है—उसको उस शास्त्रका

उद्दिष्ट विषय कहते हैं। जिस निर्देशके द्वारा उद्दिष्ट विषय लक्षित होता है—उसे निर्दिष्ट विषय कहते हैं। जहाँ 'अरुन्धति' उद्दिष्ट विषय है, वहाँ सर्वप्रथम उसके निकट जो स्थूल तारा लक्षित होता है, वही निर्दिष्ट विषय है। वेदसमूह निर्गुण–तत्त्वको उद्दिष्टके रूपमें लक्ष्य करते हैं। क्योंकि, निर्गुण तत्त्वको सहसा लक्ष्य नहीं किया जा सकता है, अतः वेद सर्वप्रथम किसी सगुण तत्त्वका निर्देश करते हैं। इसलिए प्रथम दृष्टिमें ऐसा बोध होता है कि सत्त्व, रजः और तमोरूप त्रिगुणमयी माया वेदका विषय है। हे अर्जुन! तुम उस निर्दिष्ट विषयमें आबद्ध नहीं रहकर, उद्दिष्ट तत्त्वके रूपमें लक्षित निर्गुण तत्त्वका लाभ करते हुये त्रिगुणातीत होओ। वेदशास्त्रोंमें कहीं रजस्तमो–गुणात्मक कर्म, कहीं सत्त्वगुणात्मक ज्ञान और विशेष–विशेष जगहोंपर निर्गुणा भक्ति उपदिष्ट हुई है। गुणमय मान–अपमानादि द्वन्द्व भावोंसे रहित होकर नित्यसत्त्व अर्थात् मेरे भक्तोंका सङ्कर ज्ञान–कर्ममार्गके अनुसन्धेय योग और क्षेमके अनुसन्धानका परित्यागकर बुद्धियोगके द्वारा निर्गुणता प्राप्त करो॥ २.४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥२.४६॥

अन्वय—यावान् (जितना) अर्थः (प्रयोजन) उदपाने (कुँएसे) [भवति—सिद्ध होता है] तावान् (उतना प्रयोजन) सर्वतः (सर्वतोभावसे) संप्लुतोदके (महाजलाशयसे सिद्ध होता है) [तथा—उसी प्रकार] सर्वेषु वेदेषु (समस्त वेदोंमें) [यावन्तोऽर्थास्तावन्तः—जितने प्रयोजन हैं, वे सभी] विजानतः ब्राह्मणस्य (वेदज्ञ भक्तियुक्त ब्राह्मणको) [भवति—होते हैं]॥२.४६॥

अनुवाद—कूप आदि क्षुद्र–क्षुद्र जलाशयोंको 'उदपान' कहते हैं और अतिबृहद् जलाशयको 'संप्लुतोदक' कहते हैं। एक एक कँुएमें स्नान, वस्त्र–प्रक्षालन इत्यादि कर्म पृथक्–पृथक् कृत होते हैं, किन्तु संप्लुतोदकमें समस्त कार्य ही सुन्दररूपसे होते हैं। वेदशास्त्रके एक–एक भागमें एक–एक देवताके विषयमें लिखित है तथा उनसे जो कार्य सिद्ध होता है, उसका भी उल्लिेखत है। किन्तु, समस्त वेदोंका विचार करनेपर वेद–तात्पर्यविद् ब्राह्मणोंने ऐसा स्थिर किया है कि मैं (कृष्ण) ही एकमात्र भगवान् हूँ और एकमात्र मेरी उपासनासे ही समस्त फल प्राप्त होते हैं। जिनकी एकनिष्ठ निश्चयात्मिका बुद्धि है, वे स्वाभाविकरूपमें एकमात्र मुझ भगवान्‌की ही उपासना करते हैं॥२.४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥२.४७॥

अन्वय—ते (तुम्हारा) कर्मणि एव (कर्म करने–मात्रमें) अधिकारः (अधिकार है) फलेषु (कर्मके फलमें) कदाचन मा (कभी भी न होवे) कर्मफलहेतुः (कर्मफलका हेतु भी) मा भूः (मत होओ) ते (तुम्हारा) अकर्मणि (कर्म न करनेमें भी) सङ्ग (आसक्ति) मा अस्तु (न होवे)॥२.४७॥

अनुवाद—कर्मके सम्बन्धमें तीन प्रकारके विचार किये जाते हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म। इनमें से विकर्म अर्थात् पापका आचरण एवं अकर्म अर्थात् स्वधर्मोचित कर्मका न करना—ये दोनों ही नितान्त अमङ्गलजनक हैं। तुम्हारी इन दोनोंमें अभिलाषा न हो, अतः, तुम अकर्मका परित्यागकर सावधानीपूर्वक कर्मका आचरण करो। कर्म भी तीन प्रकारके होते हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। इनमें से काम्य कर्म अमङ्गलजनक है। जो काम्य कर्म करते हैं, वे कर्मके फलका हेतु होते हैं। अतएव, मैं तुम्हारी भलाईके लिए कह रहा हँू कि कर्म करते समय तुम कर्मके फलका हेतु मत बनो। स्वधर्मविहित कर्म करनेमें तुम्हारा अधिकार है, किन्तु किसी कर्मके फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। जो लोग योगका अवलम्बन करते हैं, उनके लिए संसार–निर्वाह करनेके लिए नित्य–नैमित्तिक कर्म स्वीकृत हैं॥२.४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥२.४८॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) सङ्गं त्यक्त्वा (कर्त्तापनकी आसक्ति त्यागकर) सिद्धिः असिद्ध्योः (कर्मफलकी सफलता और असफलतामें) समः भूत्वा (समभाव होकर) योगस्थः (भक्तिभावमें स्थित होकर) कर्माणि कुरु (स्वधर्म विहित कर्म करो) [यतः—क्योंकि] समत्वम् (समत्वभाव ही) योगः उच्यते (योग कहा जाता है)॥२.४८॥

अनुवाद—फलकामनाका परित्यागकर भक्तियोगस्थ होकर स्वधर्म विहित कर्मका आचरण करो। कर्मफलकी सिद्धि एवं असिद्धि—इन दोनों विषयोंमें जो समबुद्धि होती है, उसे योग कहते हैं॥२.४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥२.४९॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) हि (क्योंकि) कर्म (काम्य कर्म) बुद्धियोगात् (भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगसे) दूरेण अवरम् (अतिनिकृष्ट है)

(अतएव) बुद्धौ (निष्काम कर्मका) शरणम् (आश्रय) अन्विच्छ (ग्रहण करो) फलहेतवः (फलकी कामनावाले) कृपणाः (कृपण हैं)॥२.४९॥

अनुवाद—बुद्धियोग अर्थात् निष्काम कर्मयोग द्वारा भक्तिका अनुशीलन करते हुये काम्य कर्म दूर करो। जो फलाकांक्षी हैं, वे कृपण हैं, अतएव बुद्धियोगका आश्रय करो॥२.४९॥२.

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥२.५०॥

अन्वय—बुद्धियुक्तः (निष्काम कर्मयोगसे युक्त व्यक्ति) इह (इस जन्ममें) उभे सुकृत दुष्कृत (सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही) जहाति (त्याग करते हैं) तस्मात् (अतः) योगाय (समबुद्धिसे युक्त होकर निष्काम कर्मयोगके लिए) युज्यस्व (चेष्टा करो) कर्मसु (सकाम और निष्काम कर्ममें से) योगः (समभावयुक्त निष्काम कर्म ही) कौशलम् (कौशल है)॥२.५०॥२.

अनुवाद—बुद्धियोग ही कर्मका कौशल है, अतः बुद्धियुक्त होकर इस संसार दशामें ही तुम सुकृत–दुष्कृत अर्थात् पाप–पुण्यको दूर करो॥२.५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥२.५१॥

अन्वय—हि (क्योंकि) बुद्धियुक्ताः मनीषिणः (बुद्धियोगयुक्त मनीषिगण) कर्मजम् फलम् (कर्मसे उत्पन्न फलको) त्यक्त्वा (त्यागकर) जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (जन्म–बन्धनसे मुक्त होकर) अनामयम् (क्लेशरहित) पदम् (वैकुण्ठ) गच्छन्ति (गमन करते हैं)॥२.५१॥

अनुवाद—बुद्धियुक्त होकर पण्डितलोग कर्मसे उत्पन्न फलोंका त्यागकर जन्म–बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। अतएव अनामय पद लाभ करते हैं, जो भक्तोंकी चरम अवस्था है॥२.५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥२.५२॥

अन्वय—यदा (जब) ते (तुम्हारी) बुद्धिः (बुद्धि) मोहकलिलम् (मोहरूप सघन वनको) व्यतितरिष्यति (बिल्कुल पार कर जायेगी) तदा (तब) श्रोतव्य (सुनने योग्य) श्रुतस्य च (और सुने हुये विषयोंके प्रति) निर्वेदम् (वैराग्य) गन्तासि (प्राप्त होगा)॥२.५२॥

अनुवाद—इस प्रकार परमेश्वरार्पित निष्काम कर्मका अभ्यास करते-करते जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी गहन वनका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करेगी तब तुम समस्त सुनने योग्य और सुने हुये शास्त्रोंके प्रति निरपेक्ष होकर विशुद्ध भक्ति-साधनमें प्रवृत्त होओगे॥२.५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥२.५३॥

अन्वय—यदा (जब) ते (तुम्हारी) बुद्धिः (बुद्धि) श्रुतिविप्रतिपन्ना (नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक अर्थोंके श्रवणसे विरक्त) (एवं) निश्चला (अनासक्त होकर) समाधौ (परमेश्वरमें) अचला (अचल) स्थास्यति (स्थित हो जायेगी) तदा (तब) योगम् (योगका फल) अवाप्स्यसि (प्राप्त करोगे)॥२.५३॥

अनुवाद—जब तुम्हारी बुद्धि वेदके नाना प्रकारके अर्थवादसे विचलित नहीं होगी, तब तुम सहज समाधिमें अचल होकर विशुद्ध भक्तियोग प्राप्त करोगे॥ २.५३॥

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥२.५४॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) केशव (हे केशव!) समाधिस्थस्य (समाधिमें स्थित) स्थितप्रज्ञस्य (स्थिर बुद्धिवाले व्यक्तिका) का (क्या) भाषा (लक्षण है) स्थितधीः (स्थिर बुद्धिवाले व्यक्ति) किम् प्रभाषेत (किस प्रकार बोलते हैं) किम् आसीत (किस प्रकार बैठते हैं) किम् व्रजेत (किस प्रकार चलते हैं)॥ २.५४॥

अनुवाद—इतना श्रवण करनेके पश्चात् अर्जुन कहते हैं—हे केशव! स्थितप्रज्ञ अर्थात् अचला बुद्धियुक्त पुरुषोंके क्या लक्षण हैं और वे समाधिस्थ वा जीवनमुक्त पुरुषगण मान-अपमान, स्तुति-निन्दा एवं स्नेह-द्वेष उपस्थित होनेपर वचनोंसे किस प्रकार उसे प्रकाशित करते हैं एवं बाह्य विषयोंके सम्बन्धमें कैसा आचरण करते हैं? मैं इन सबके बारेमें जाननेके लिए उत्सुक हूँ॥२.५४॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥२.५५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) यदा (जब) सर्वान् मनोगतान् कामान् (मनकी सभी कामनाओंका) प्रजहाति (त्यागकर) आत्मनि एव (निग्रह हुआ मन ही) आत्मना (आनन्दस्वरूप आत्माके द्वारा) तुष्टः (तुष्ट होता है) तदा (तब) [सः—वे] स्थितप्रज्ञः (स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहलाते हैं)॥ २.५५॥

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! जिस समय जीव मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग करता है एवं 'आत्माय' अर्थात् निगृहीत मनमें आनन्दस्वरूप आत्माके स्वरूपदर्शनसे सन्तुष्ट होता है, उस समय उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥ २.५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥२.५६॥

अन्वय—दुःखेषु (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—तीनों तापोंके उपस्थित होनेपर) अनुद्विग्नमनाः (जिनका मन उद्वेगरहित रहता है) सुखेषु (सुखके उपस्थित होनेपर) विगतस्पृहः (स्पृहाहीन रहता है) वीतरागभयक्रोधः (राग, भय, क्रोधसे रहित) मुनिः (ऐसे मुनि) स्थितधीः (स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहलाते हैं)॥ २.५६॥

अनुवाद—शारीरिक, मानसिक और सामाजिक क्लेशोंके उपस्थित होनेपर भी जिनका मन उद्विग्न नहीं होता है, उन–उन विषयोंसे सम्बन्धित सुखोंके उपस्थित होनेपर भी जिनकी सुखमें स्पृहा नहीं होती है और जो राग, भय एवं क्रोधसे मुक्त रहते हैं, वे ही स्थितधीः अर्थात् स्थितप्रज्ञ हैं॥२.५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२.५७॥

अन्वय—यः (जो) सर्वत्र (पुत्र–मित्रादिमें) अनभिस्नेहः (स्नेहरहित) तत् तत् (उस उस) शुभाशुभम् (अनुकूल और प्रतिकूलको) प्राप्य (पाकर) न अभिनन्दति (न प्रसन्न होते हैं) न द्वेष्टि (न द्वेष करते हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (स्थिर है)॥२.५७॥

अनुवाद—उसकी ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है, जो समस्त जड़ विषयोंके प्रति स्नेहरहित और जड़ीय शुभ–अशुभके प्राप्त होनेपर भी उससे राग–द्वेष नहीं करते हैं। जबतक यह शरीर रहेगा तब तक जड़ और जड़से सम्बन्धित लाभ–हानि अनिवार्य है, परन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष इन सभी लाभ–हानिके प्रति न अनुराग करते

हैं और न ही विद्वेष करते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि समाधिमें स्थित होती है॥ २.५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२.५८॥

अन्वय—यदा च (जब) अयम् (ये मुनि) कुर्मोऽङ्गानीव (कछुआके अङ्गोंके सदृश) इन्द्रियाणि (अपनी इन्द्रियोंको) सर्वशः (सर्वतोभावेन) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे) संहरते (खींच लेते हैं) [तदा—तब] तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है)॥२.५८॥

अनुवाद—इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंके अधीन होकर विचरण करना चाहती हैं, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुषकी इन्द्रियाँ बुद्धिके अधीन होकर शब्दादि इन्द्रिय–विषयोंमें स्वाधीनतापूर्वक विचरण नहीं कर पाती हैं। बल्कि, उनकी इन्द्रियाँ बुद्धिके आज्ञाके अनुसार कार्य करती हैं। जिस प्रकार कछुआ अपने खुले हुये अङ्गोंको स्वेच्छापूर्वक अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्तिकी इन्द्रियाँ भी बुद्धिके इच्छानुसार कभी भी स्थिर हो सकती हैं और कभी भी उपयुक्त विषयसे चालित हो सकती हैं॥२.५८॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥२.५९॥

अन्वय—निराहारस्य (इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले) देहिनः (देहाभिमानी अज्ञ व्यक्तिके) विषयाः (विषयसमूह) विनिवर्त्तन्ते (निवृत्त हो जाते हैं) (किन्तु) रसवर्जम् (विषयका राग नहीं जाता) परम् (परमात्माका) दृष्ट्वा (दर्शनकर) अस्य (स्थितप्रज्ञ व्यक्तिका) रसः अपि (विषयका राग भी) निवर्त्तते (निवृत्त हो जाता है)॥२.५९॥

अनुवाद—निराहारके द्वारा देहाभिमानी जीवोंका विषय–निवृत्तिका जो उपाय देखा जाता है, वह अत्यन्त मूढ़ लोगोंके लिए है। अष्टाङ्गयोगमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारके द्वारा विषय–निवृत्तिकी व्यवस्था दी गई है—वह ऐसे ही मूढ़ लोगोंके लिए है। किन्तु स्थितप्रज्ञ व्यक्तियोंके लिए यह विधि स्वीकृत नहीं है। स्थितप्रज्ञ पुरुष परमतत्त्वके सौन्दर्यका दर्शनकर उसमें आकृष्ट हो जाते हैं और वे सामान्य जड़ीय विषय–रागका त्याग कर देते हैं। अतिमूढ़ लोगोंके लिए इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको दूर रखकर इन्द्रियोंको निराहार–द्वारा संयमित करनेकी व्यवस्था रहनेपर भी रागमार्गके अतिरिक्त जीवोंका नित्यमङ्गल नहीं होता है। उत्कृष्ट

विषय प्राप्त होते ही राग स्वभावतः निकृष्ट विषयका परित्याग कर देता है॥ २.५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥२.६०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे अर्जुन!) हि (क्योंकि) प्रमाथीनि इन्द्रियाणि (मथन कर देनेवाली ये इन्द्रियाँ) प्रसभम् (बलपूर्वक) यततः (मोक्षके लिए यत्नशील) विपश्चितः पुरुषस्य अपि (विवेकी पुरुषका भी) मनः (मन) हरन्ति (हर लेती हैं)॥२.६०॥

अनुवाद—क्यों नहीं, जो विधिमार्गके द्वारा जड़ीय चित्तको विषयानुरागसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी क्षोभकारी इन्द्रियाँ समय-समयपर मनको जड़ीय विषयोंमें पतित कर देती हैं। किन्तु, रागमार्गमें इस प्रकारके पतनकी आशङ्का नहीं है॥२.६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२.६१॥

अन्वय—मत्परः (मेरे परायण) युक्तः (भक्तियोगी) [सन्—होकर] तानि सर्वाणि (उन इन्द्रियोंको) संयम्य (संयमित कर) आसीत (स्थित होना चाहिए) हि (क्योंकि) यस्य (जिनकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) वशे (वशीभूत हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (स्थिर है)॥२.६१॥

अनुवाद—अतएव जो पुरुष पूर्वोक्त युक्त-वैराग्यरूप योगमार्गमें स्थित होकर ही मेरे प्रति उत्तमा-भक्तिका आचरण करते हुये इन्द्रियोंको यथास्थान नियमित (बाँधकर) रखते हैं—उनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है॥२.६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥२.६२॥

अन्वय—विषयान् (शब्दादि विषयोंका) ध्यायतः पुंसः (चिन्तन करनेवाले पुरुषकी) तेषु (उन सभी विषयोंमें) सङ्गः (आसक्ति) उपजायते (उत्पन्न हो जाती है) सङ्गात् (आसक्तिसे) कामः (काम) संजायते (उत्पन्न होता है) कामात् (कामसे) क्रोधः (क्रोध) अभिजायते (उत्पन्न होता है)॥२.६२॥

अनुवाद—दूसरी ओर विधिमार्गगत फल्गु-वैराग्य-योगकी आलोचना करो। वैराग्यकी चेष्टा करते-करते भी जिस समय विषयका ध्यान उपस्थित होता है, उस

समय क्रमशः विषयमें सङ्ग अर्थात् स्पृहा उत्पन्न होती है, सङ्गसे काम उत्पन्न होता है और कामसे क्रोध उपस्थित होता है॥२.६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥२.६३॥

अन्वय—क्रोधात् (क्रोधसे) सम्मोहः (सम्मोह अर्थात् कार्य–अकार्यके विवेकका अभाव) भवति (होता है) सम्मोहात् (सम्मोहसे) स्मृति विभ्रमः (स्मृतिका नाश) स्मृतिभ्रंशात् (स्मृति–भ्रंश होनेसे) बुद्धिनाशः (बुद्धिनाश) बुद्धिनाशात् (बुद्धिके नाश होनेसे) प्रणश्यति (विनाशको प्राप्त होता है अर्थात् भवसागरमें पतित हो जाता है)॥२.६३॥

अनुवाद—क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृति–विभ्रम, स्मृति–विभ्रमसे बुद्धिनाश एवं बुद्धिनाशसे सर्वनाश होता है। अनेक स्थलोंमें विधिमार्गगत फल्गु–वैराग्य–योगकी यही दुर्गति होती है, अतः यह योग सभी प्रकारकी बाधाओंसे युक्त है॥२.६३॥

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥२.६४॥

अन्वय—तु (किन्तु) विधेयात्मा (संयमित पुरुष) रागद्वेष विमुक्तैः (राग और द्वेषसे रहित होकर) आत्मवश्यैः (अपने वशमें की हुई) इन्द्रियैः (इन्द्रियोंके द्वारा) विषयान् (विषयोंको) चरन् (भोगनेपर भी) प्रसादम् (प्रसन्नता) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)॥२.६४॥

अनुवाद—युक्तवैराग्यका अवलम्बनकर स्थितप्रज्ञा द्वारा राग–द्वेषका त्याग करते हुये आत्माके अधीन इन्द्रियोंको यथायोग्य समस्त जड़विषयोंमें चालित करनेपर भी विधेयात्मपुरुष अर्थात् स्वतन्त्र व्यक्ति चित्तकी प्रसन्नताको प्राप्त करता है॥२.६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥२.६५॥

अन्वय—प्रसादे (प्रसन्नता प्राप्त होनेपर) अस्य (इस विधेयात्मा पुरुषके) सर्वदुःख (सभी दुःख) उपजायते (दूर हो जाते हैं) हि (जिससे) प्रसन्नचेतसः (प्रसन्नचित्त व्यक्तिकी) बुद्धिः (बुद्धि) आशु (शीघ्र) पर्यवतिष्ठते (सर्वतोभावेन अभीष्ट–प्राप्तिमें स्थिर हो जाती है)॥२.६५॥

अनुवाद—चित्तकी प्रसन्नता उपस्थित होनेपर समस्त दुःख दूर हो जाते हैं और भक्तगणोंकी बुद्धि सभी प्रकारसे अपने अभीष्टके प्रति स्थिर रहती है॥२.६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥२.६६॥

अन्वय—अयुक्तस्य (अवशीभूत मनवाले पुरुषकी) बुद्धि (आत्मविषयिणी बुद्धि) न अस्ति (नहीं होती है) अयुक्तस्य च (और वैसे बुद्धिहीन पुरुषको) भावना (परमेश्वरका ध्यान) न (नहीं होता है) अभावयतः च (और ध्यानरहित पुरुषको) शान्तिः न (शान्ति नहीं होती है) अशान्तस्य (अशान्त पुरुषको) कुतः सुखम् (सुख कहाँ है)॥२.६६॥

अनुवाद—और भी देखो, जिनको परमेश्वरका ध्यान नहीं होता है, उन्हें किस प्रकार शान्ति हो सकती है? अशान्त व्यक्तिको परम सुख कैसे मिल सकता है, अतएव अयुक्त लोगोंकी बुद्धि एवं परम-रस भावनारूप भगवद् ध्यान कभी सम्भव नहीं है॥२.६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥२.६७॥

अन्वय—हि (क्योंकि) चरताम् इद्रियाणाम् (विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंमें से) यत् (जिस किसी इन्द्रियके प्रति) मनः (मन) अनुविधीयते (अनुधावित होता है) तत् (वह मन) वायुः (वायु) अम्भसि (जलमें) नावम् (नावकी भाँति) अस्य (अजितेन्द्रिय व्यक्तिकी) प्रज्ञा (बुद्धिको) हरति (हर लेता है)॥२.६७॥

अनुवाद—जिस प्रकार प्रतिकूल वायु जलके ऊपर स्थित नौकाको अस्थिर कर देती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंमें विचरण करनेवाला मन इन्द्रियोंके अनुवर्ती होकर अयुक्त व्यक्तिकी प्रज्ञाको हर लेता है॥२.६७॥

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२.६८॥

अन्वय—तस्मात् (अतएव) महाबाहो (हे महाबाहो!) यस्य (जिनकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे) सर्वशः (सभी प्रकारसे) निगृहीतानि (निगृहीत हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (स्थिर है)॥२.६८॥

अनुवाद—अतएव हे महाबाहो! जिनकी इन्द्रियाँ समस्त इन्द्रिय-विषयोंसे युक्त वैराग्यके द्वारा अपने वशमें हो गई हैं, उनकी प्रज्ञाको प्रतिष्ठित जानो॥२.६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥२.६९॥

अन्वय—या (जो आत्मविषयिणी बुद्धि) सर्वभूतानाम् (सभी जीवोंके लिए) निशा (रात्रिके समान है) तस्याम् (उसमें) संयमी (स्थितप्रज्ञ) जागर्त्ति (जाग्रत रहते हैं) यस्याम् (जिस विषयप्रवणा बुद्धिमें) भूतानि (सभी जीव) जाग्रति (जाग्रत रहते हैं) सा (वह विषयप्रवणा बुद्धि) पश्यतः मुनेः (तत्त्वदर्शी मुनिके लिए) निशा (रात्रिके समान है)॥२.६९॥

अनुवाद—हे अर्जुन! बुद्धि दो प्रकारकी होती है—आत्मप्रवणा और विषयप्रवणा। आत्मप्रवणा बुद्धि समस्त जीवोंके लिए अर्थात् जड़मुग्ध साधारण जीवोंके लिए रात्रिविशेष है। जड़मुग्ध सभी जीव इस रात्रिमें सोये रहते हैं। अतः वे प्राप्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। किन्तु स्थितप्रज्ञ इस रात्रिमें जगकर आत्मबुद्धिनिष्ठ आनन्दका साक्षात् अनुभव करते हैं। दूसरी ओर, विषयप्रवणा बुद्धिमें जड़मुग्ध जीव जाग्रत रहकर तन्निष्ठ विषय अर्थात् शोक–मोहादिका साक्षात् अनुभव करते हैं। किन्तु, यही स्थितप्रज्ञ मुनिके लिए रात्रिविशेष है। वे उसमें संसारी लोगोंको सुख–दुःख देनेवाले विषयोंके प्रति उदासीन रहते हैं और यथोचित विषयोंको निर्लेपभावसे स्वीकार करते हैं॥२.६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥२.७०॥

अन्वय—यद्वत् (जैसे) आपूर्यमाणम् (सब ओरसे परिपूर्ण) अचलप्रतिष्ठम् (अचल प्रतिष्ठावाले) समुद्रम् (समुद्रमें) आपः (अनेक नदियोंका जल) प्रविशन्ति (समा जाता है) तद्वत् (वैसे ही) यम् (जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें) सर्वे कामाः (सभी कामनाएँ) प्रविशन्ति (समा जाते हैं) सः (वे) शान्तिम् (शान्ति) आप्नोति (प्राप्त करते हैं) न (न कि) कामकामी (कामनाओंको पूर्ण करनेको इच्छुक व्यक्ति)॥ २.७०॥

अनुवाद—कामी पुरुष कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं करते हैं। जिस प्रकार अनेक नदियों जल परिपूर्ण समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी समुद्रको क्षोभित नहीं कर पाता है, उसी प्रकार सभी कामनाएँ स्थितप्रज्ञ पुरुषमें प्रविष्ट होकर भी उनमें क्षोभ पैदा नहीं कर सकती हैं। अतएव वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं॥२.७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥२.७१॥

अन्वय—यः पुमान् (जो पुरुष) सर्वान् कामान् (सभी कामनाओंका) विहाय (परित्यागकर) निस्पृहः (स्पृहाशून्य) निरहङ्कार (अहङ्काररहित) निर्ममः (ममताशून्य) [सन्—होकर] चरति (विचरण करते हैं) सः (वे स्थितप्रज्ञ पुरुष ही) शान्तिम् (शान्ति) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)॥२.७१॥

अनुवाद—सभी कामनाओंका परित्यागकर जो समस्त विषयोंसे स्पृहाहीन होकर निरहङ्कार और ममताशून्य भावसे विचरण करते हैं, वे ही शान्ति लाभ करते हैं॥ २.७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥२.७२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सांख्ययोगो' नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एषा (यह) ब्राह्मी (ब्रह्मको प्राप्त हुये पुरुषकी) स्थितिः (स्थिति है) एनाम् (इस स्थितिको) प्राप्य (प्राप्तकर) न विमुह्यति (किसी प्रकारके मोहको प्राप्त नहीं होता है) अन्तकाले अपि (अन्तिम समयमें भी) अस्याम् (इसमें) स्थित्वा (स्थित होकर) ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति (ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है)॥२.७२॥

अनुवाद—अब उपसंहार करते हुये कहते हैं—जब अन्तकालमें अर्थात् मृत्युके समय भी ब्रह्मप्राप्तिकी स्थितिको प्राप्त करनेसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है, तब यदि यह स्थिति बचपनमें ही प्राप्त हो जाय, तो कहना ही क्या?

यह अध्याय गीताका सूत्र है। १ से १० श्लोक तक प्रश्नकर्त्ताके स्वभावका परिचय, १२ से ३० तक आत्म और अनात्म तत्त्वका विवेचन, ३१ से ३८ तक स्वधर्मरूप कर्मके अन्तर्गत पाप–पुण्यका विचार, ३९ से अध्यायके अन्त तक पूर्वोक्त ज्ञान और कर्मके प्रयोजक यथार्थ आत्मज्ञान साधक निष्काम कर्मयोग और उस योगमें स्थित पुरुषके जीवन और आचार–विचार प्रदर्शित हुये हैं॥२.७२॥

द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

तृतीय अध्याय (कर्मयोग)

अर्जुन उवाच—
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥३.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) जनार्दन! केशव! (हे जनार्दन! हे केशव!) चेत् (यदि) ते (आपको) बुद्धिः (गुणातीता भक्ति–विषयिणी बुद्धि) कर्मणः (कर्मकी अपेक्षा) ज्यायसी (श्रेष्ठ) मता (मान्य है) तत् (तो) माम् (मुझे) घोरे कर्मणि (युद्धरूप घोर कर्ममें) किम् (क्यों) नियोजयसि (नियोजित कर रहे हैं?)॥ ३.१॥

अनुवाद—हे जनार्दन! हे केशव! यदि आपके मतसे कर्मकी अपेक्षा व्यवसायात्मिका गुणातीत भक्ति विषयणी बुद्धि श्रेष्ठ है, तब मुझे घोर युद्धरूपी कर्ममें नियुक्त होनेकी अनुमति प्रदान कयों कर रहे हैं?॥३.१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥३.२॥

अन्वय—व्यामिश्रेण इव (नाना अर्थबोधक) वाक्येन (वाक्योंसे) मे (मेरी) बुद्धिम् (बुद्धि) मोहयसि इव (मोहित–सी कर रहे हैं) तत् (उस) एकम् (एक बात को) निश्चित्य वद (निश्चित कर कहें) येन (जिससे) अहम् (मैं) श्रेयः (कल्याण) आप्नुयाम् (प्राप्त कर सकूँ)॥३.२॥

अनुवाद—आपने मुझे जो उपदेश दिये, वे सभी श्रवणमात्रसे परस्पर स्वतन्त्र अर्थवाले बोध होते हैं। कहीं आपने भक्तकी कृपासे प्राप्य निर्गुण भक्तिका उपदेश दिया, कहीं अन्यत्र मेरा कर्मधिकार बताते हुये मुझे कर्मानुष्ठानकी आज्ञा दी। इसमें मेरा वक्तव्य यह है कि सात्त्विक कर्म राजसिक कर्मसे श्रेष्ठ है और ज्ञान सात्त्विक कर्मसे भी श्रेष्ठ है। ज्ञान भी सात्त्विक कर्मविशेष है। यदि निर्गुण भक्ति प्राप्त करनेका मेरा अधिकार नहीं है, तो मुझे सात्त्विक कर्म अर्थात् ज्ञानकी शिक्षा दीजिये, जिससे मैं उस ज्ञान द्वारा संसार बन्धनसे मुक्त होऊँ। कर्माधिकारियोंको

कर्मकी शिक्षा देना ही अच्छा है। अतएव निश्चित वाक्य द्वारा मुझे उपदेश दीजिये॥३.२॥

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३.३॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अनघ (हे निष्पाप अर्जुन!) मया पुरा प्रोक्ता (मेरे द्वारा पहले ही प्रकृष्टरूपसे बताया गया है) अस्मिन् लोके (इस लोकमें) द्विविधा (दो प्रकारकी) निष्ठा (नित्य स्थिति या मर्यादा है) सांख्यानाम् (सांख्यवादी ज्ञानियोंकी) ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोगसे) योगिनाम् (योगियोंकी) कर्मयोगेन (कर्मयोगसे)॥३.३॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—पूर्व अध्यायमें मैंने ऐसा उपदेश नहीं दिया है कि सांख्ययोग और कर्मयोग परस्पर निरपेक्ष मोक्ष–साधनके उपाय हैं। भक्तियोगके अतिरिक्त और कुछ भी मोक्ष–साधन का उपाय नहीं है। उस भक्तियोगके साधनमें दो प्रकारकी निष्ठा होती है। जो व्यक्ति शुद्ध अन्तःकारणवाले होते हैं—वे ज्ञानभूमिमें अधिरूढ़ (चढ़े हुये) होते हैं। उनकी निष्ठा सांख्य–ज्ञानयोगमें होती है। अन्तःकारण शुद्ध करनेके लिए जो कर्मयोग निष्ठा है—वह उनके लिए आदरणीय नहीं है। वे सांख्ययोग–निष्ठाके द्वारा ही भक्तियोगमें अधिरूढ़ होते हैं। दूसरी ओर जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ है—वे भगवदर्पित निष्काम–कर्मयोगके द्वारा ज्ञानभूमिमें आरोहण करते हुये अन्तमें भक्तिद्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। वस्तुतः भक्तिभूमिको प्राप्त करनेके लिए जो सोपान है—वह एक ही है। केवल आरोहियोंकी अवस्था–क्रमसे निष्ठा दो प्रकारकी होती है॥३.३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥३.४॥

अन्वय—कर्मणाम् (शास्त्रीय कर्मोंके) अनारम्भात् (अनुष्ठानोंको नहीं करनेसे) पुरुषः (पुरुष) नैष्कर्म्यम् (नैष्कर्म्यरूप ज्ञानको) न अश्नुते (नहीं प्राप्त कर सकता है) च (एवं) संन्यसनात् एव (अशुद्धचित्त व्यक्ति केवल कर्मोंके त्यागसे भी) सिद्धिम् (सिद्धि) न समधिगच्छति (नहीं प्राप्त कर सकता है)॥३.४॥

अनुवाद—शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान नहीं करनेसे नैष्कर्म्यरूप ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। शास्त्रविहित कर्मके त्यागनेसे अशुद्धचित्तवाला पुरुष किस प्रकार सिद्धि लाभ करेगा?॥३.४॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥३.५॥

अन्वय—जातु (किसी कालमें) कश्चित् (कोई) क्षणम् अपि (क्षणमात्र भी) अकर्मकृत (बिना कर्म किये) न हि तिष्ठति (रह ही नहीं सकता है) सर्वः हि (क्योंकि सभी) प्रकृतिजैः (स्वभावसे उत्पन्न) गुणैः (राग–द्वेषादि गुणोंके द्वारा) अवशः (सन्) (अधीन होकर) कर्म कार्यते (कर्ममें प्रवृत्त होते हैं)॥३.५॥

अनुवाद—अशुद्ध चित्तवाले पुरुष शास्त्रीय कर्मोंको त्यागकर भी प्रकृति–सिद्ध गुणों (सत्व–रज–तमो) के द्वारा उत्तेजित होकर अस्वतन्त्ररूपमें व्यवहारिक कार्योंको करते हैं। अतः उनके लिए शास्त्रनिर्दिष्ट चित्तशोधक कर्मोंका त्याग करना कर्त्तव्य नहीं है॥३.५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥३.६॥

अन्वय—यः (जो) विमूढात्मा (मूढ़ व्यक्ति) कर्मेन्द्रियाणि (कर्मेन्द्रियोंको) संयम्य (निगृहीतकर) इन्द्रियार्थान् (इन्द्रियोंके विषयोंको) मनसा स्मरेण (मन–ही–मन स्मरण करता) आस्ते (रहता है) सः (वह) मिथ्याचारः (मिथ्याचारी) उच्यते (कहलाता है)॥३.६॥

अनुवाद—जिसका चित्त शोधित नहीं हुआ है, केवल कर्मेन्द्रियोंके संयमसे उसका क्या होगा? वह व्यक्ति कर्मेन्द्रियोंको संयमितकर मन–ही–मन इन्द्रिय–विषयोंकी आलोचना करता रहता है। अतएव वैसे मूढ़ व्यक्तिको मिथ्याचारी कहा जाता है॥३.६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥३.७॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) तु यः (किन्तु जो व्यक्ति) मनसा (मनसे) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) नियम्य (वशीभूतकर) असक्तः सन् (फलकी कामनासे रहित होकर) कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रियोंसे) कर्मयोगम् (शास्त्रविहित कर्मोंका) आरभते (आरम्भ करते हैं) सः (वे) विशिष्यते (श्रेष्ठ हैं)॥३.७॥

अनुवाद—जो व्यक्ति मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशीभूत कर कर्मेन्द्रियोंके द्वारा गृहस्थ–धर्ममें कर्मयोगका आचरण करते हैं, वे उसमें असमर्थ होनेपर भी पूर्वोक्त मिथ्याचारी से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि आपाततः असमर्थ होनेपर भी कर्मयोग करते–करते क्रमशः कर्मफलकी आकाङ्क्षा त्याग करनेमें समर्थ होंगे॥३.७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥३.८॥

अन्वय—त्वम् (तुम) नियतम् (नित्य) कर्म (सन्ध्या–उपासनादि कर्म) कुरु (करो) हि (क्योंकि) अकर्मणः (कर्म नहीं करनेकी अपेक्षा) कर्म ज्यायः (कर्म करना श्रेष्ठ है) च (और) अकर्मणः (कर्म न करनेसे) ते (तुम्हारा) शरीरयात्रा अपि (शरीर–निर्वाह भी) न प्रसिध्येत् (सिद्ध नहीं होगा)॥३.८॥

अनुवाद—अनधिकारी व्यक्तिके लिए कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म ही श्रेष्ठ है। जब कर्मत्यागसे तुम्हारा शरीर निर्वाह ही नहीं होता है, तब तुम्हारे लिए कर्मत्याग किस प्रकार सम्भव है? अतएव काम्य कर्मोंको त्यागकर सन्ध्या, उपासनादि नित्यकर्मोंको करते–करते चित्तके शुद्ध होनेपर ज्ञानभूमिका अतिक्रमणकर निर्गुण भक्ति प्राप्त करोगे॥३.८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥३.९॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन!) यज्ञार्थात् (विष्णु–अर्पित निष्काम) कर्मणः अन्यत्र (कर्मके अतिरिक्त) अयम् लोकः (इस मनुष्यका) कर्म–बन्धनः (कर्मबन्धन) [भवति—होता है] तदर्थम् (विष्णुके लिए) मुक्तसङ्गः (सन्) (फलाकांक्षारहित होकर) कर्म समाचर (कर्मका भलीभाँति आचरण करो)॥३.९॥

अनुवाद—भगवदर्पित निष्काम धर्म को 'यज्ञ' कहते हैं। उस यज्ञके उद्देश्यसे जो कर्म किये जायँ, उसके अतिरिक्त अन्य जितने भी कर्म हैं, वे सभी 'कर्मबन्धन' हैं—तुम ऐसा समझो। तुम यज्ञके लिए ही सभी कर्मोंका आचरण करो। कामना–पूर्तिके उद्देश्यसे भगवदर्पित कर्म भी बन्धनका कारण होता है। अतएव तुम फलाकांक्षाशून्य होकर भगवदर्पित कर्म करो। ऐसा कर्म ही भक्तियोगका साधकस्वरूप होकर भगवत्–ज्ञान उत्पन्नकर निर्गुण भक्ति प्राप्त करायेगा॥३.९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥३.१०॥

अन्वय—पूर्वे (आदिकालमें) सहयज्ञाः (यज्ञाधिकारी ब्राह्मणादि) प्रजाः (प्रजाओंको) सृष्ट्वा (सृष्टिकर) प्रजापतिः (प्रजापति ब्रह्माने) उवाच (कहा) अनेन (इस यज्ञके द्वारा) प्रसविष्यध्वम् (वृद्धिको प्राप्त होओ) एषः (यह यज्ञ) वः (तुम लोगोंको) इष्टकामधुक् (अभीष्ट कामनाओंको देनेवाला) अस्तु (होवे)॥३.१०॥

अनुवाद—निष्काम–कर्मका आचरण ही अशुद्धचित्त व्यक्तिका कर्त्तव्य है। कर्म–संन्यास उनके लिए श्रेयकारी नहीं है। यदि किसी व्यक्तिमें निष्काम–कर्मके आचरणकी शक्ति नहीं हो, तो वह सकाम होकर भी भगवदर्पित कर्मका आचरण करे। वह किसी भी प्रकार कर्मको त्यागकर अकर्म और विकर्मको नहीं वरण करे। ब्रह्माने यज्ञके साथ प्रजाओंकी सृष्टिकर यह आदेश दिया कि तुमलोग इस यज्ञरूपी धर्मका आश्रयकर उत्तरोत्तर समृद्ध होओ, यह यज्ञ ही तुमलोगोंकी अभीष्ट कामनाओंको पूर्ण करनेवाला हो॥३.१०॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥३.११॥

अन्वय—अनेन (इस यज्ञके द्वारा) देवान् (देवताओंका) भावयत (प्रीति–विधान करो) ते देवाः (वे देवतागण) वः (तुमलोगोंको) भावयन्तु [फल प्रदानकर] (प्रसन्न करें) एवं (इस प्रकार) परस्परम् (एक दूसरेको) भावयन्तः (प्रसन्न करते हुये) परम् श्रेयः (परम कल्याण) अवाप्स्यथ (प्राप्त करोगे)॥३.११॥

अनुवाद—इस यज्ञके द्वारा देवतागण तुम्हारे प्रति प्रसन्न होवें। देवतागण प्रसन्न होकर तुमलोगोंके इष्टफलको प्रदानकर तुम्हें प्रीति–प्रदान करें॥३.११॥

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥३.१२॥

अन्वय—देवाः (देवतागण) यज्ञभाविताः (यज्ञके द्वारा प्रसन्न होकर) वः (तुमलोगोंको) इष्टान् भोगान् (अभीष्ट भोगसमूह) दास्यन्ते (प्रदान करेंगे) हि (अतः) तैः दत्तान् (उनके द्वारा प्रदत्त द्रव्योंको) एभ्यः (देवताओंको) अप्रदाय (अर्पित किये बिना) यः (जो व्यक्ति) भुङ्क्ते (भोग करता है) सः स्तेनः एव (वह चोर ही है)॥३.१२॥

अनुवाद—जो पञ्च महायज्ञादिके द्वारा उन देवताओंको उनके ही द्वारा प्रदत्त वृष्टि आदि से उत्पन्न अन्नादि प्रदान न कर स्वयं भोग करते हैं, वे चोरके रूपमें दोषके भागी होते हैं॥३.१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥३.१३॥

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः (यज्ञके अवशिष्टको ग्रहण करनेवाले साधु) सर्व किल्विषैः (सभी पापोंसे) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं) ये तु (किन्तु जो)

आत्मकारणात् (केवल अपने लिए) पचन्ति (पाक करते हैं) ते पापाः (वे दुराचारी) अघम् (पापको ही) भुञ्जते (खाते हैं)॥३.१३॥

अनुवाद—जो यज्ञका अवशिष्ट अन्नादि ग्रहण करते हैं, वे उद्यम-जनित समस्त अपरिहार्य पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। जो केवल स्वार्थपर होकर अन्नादिका भोग करते हैं, वह पाप आचरणपूर्वक समस्त पापोंका भोग करते हैं॥३.१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥३.१४॥

अन्वय—भूतानि (सभी जीव) अन्नात् (अन्नसे) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) अन्न सम्भवः (अन्नकी उत्पत्ति) पर्जन्यात् (वर्षासे होती है) यज्ञात् (यज्ञसे) पर्जन्यः भवति (वर्षा होती है) (और) यज्ञः (यज्ञ) कर्मसमुद्भवः (कर्मसे उत्पन्न होता है)॥३.१४॥

अनुवाद—अन्नसे ही सभी जीव उत्पन्न होते हैं, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञके द्वारा ही वृष्टि उत्पन्न होती है, कर्मसे यज्ञ उत्पन्न होता है॥३.१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥३.१५॥

अन्वय—कर्म ब्रह्मोद्भवम् (कर्मको ब्रह्म या वेदसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् (वेद अच्युतसे उत्पन्न हुआ है) तस्मात् (अतएव) सर्वगतम् (सर्वव्यापक) ब्रह्म (परम ब्रह्म) नित्यम् (सर्वदा) यज्ञे प्रतिष्ठितम् (यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं)॥३.१५॥

अनुवाद—कर्म ब्रह्मसे उद्भूत हुआ है, ब्रह्म अर्थात् वेद अक्षर अर्थात् अच्युतसे उत्पन्न हुये हैं। अतएव जगत्-चक्र-प्रवृत्तिके कारणस्वरूप जो यज्ञ है, उनका अनुष्ठान करना उस अधिकारवालोंका नितान्त कर्त्तव्य है। उनमें सर्वगत (सर्वव्यापक) ब्रह्म नित्य प्रतिष्ठित है॥३.१५॥

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥३.१६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यः (जो व्यक्ति) एवं (इस प्रकार) प्रवर्त्तितम् (प्रवर्त्तित) चक्रम् (कर्मचक्रका) इह (इस संसारमें) न अनुवर्त्तति (नहीं आचरण करता है) सः (वह) अघायुः (पापजीवन) इन्द्रियारामः (इन्द्रियासक्त) मोघम् (वृथा ही) जीवति (जीवित रहता है)॥३.१६॥

अनुवाद—हे पार्थ! काम्य कर्मके अधिकारी व्यक्तियोंमें से जो इस जगत्–चक्र–प्रवर्त्तकरूप यज्ञका अनुष्ठान नहीं करते हैं, वे पापजीवनयुक्त इन्द्रियोंका सेवक बनकर व्यर्थ ही जीवन धारण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगमें पाप–पुण्यका अधिकार (विचार) नहीं है। क्योंकि, शास्त्रोंमें इसे निर्गुणा भक्ति प्राप्त करनेके प्रशस्त पथके रूपमें बताया गया है। उस पथका आश्रय करनेवाले व्यक्तिके लिए चित्तशुद्धि अर्थात् कषायका नाश अनायास ही प्राप्य है। जिन्होंने भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगका अधिकार प्राप्त नहीं किया है, वे सभी ही कामना और इन्द्रियतृप्तिके वशीभूत होते हैं, अतः वे पापमें रत रहते हैं। उनके पाप करनेकी प्रवृत्तिको संकुचित करनेके लिए पुण्यकर्म ही एकमात्र उपाय है। पापके उपस्थित होनेपर प्रायश्चित ही उनके लिए अवलम्बनीय है। यज्ञकी व्यवस्था ही धर्म या पुण्य कर्म है। जिससे सभी जीवोंका शुभ और जगत्–चक्रकी गति सुन्दररूपसे साधित हो, वही पुण्य है। पुण्यकी व्यवस्थासे 'पञ्चसूना' आदि अपरिहार्य पाप नष्ट हो जाते हैं। अनुष्ठानकर्त्ताके अपने सुख और इन्द्रियतृप्तिके लिए, जगत्के मङ्गलकी रक्षा करते हुये जितना स्वीकार किया जा सकता है, उतना 'यज्ञाङ्ग' होकर पुण्यके रूपमें परिगणित होता है। जिन अलक्षित विधियोंके द्वारा जगत्–मङ्गलरूप फलकी उत्पत्ति हो, वे सभी भगवान्की शक्तिसे उत्पन्न देवता विशेष हैं। उन विधिरूप देवताओंको प्रसन्नकर उनकी अनुकम्पासे प्रसन्नता प्राप्त करनेपर और कोई पाप नहीं रहता है—इसे ही कर्मचक्र कहा जाता है। इस प्रकार देवताओंकी पूजाके द्वारा जो कर्म स्वीकृत हैं, उन्हें 'भगवदर्पित काम्य कर्म' कहते हैं। जो उन विधियोंको प्राकृतिक विधि जानकर कार्य करते हैं, वे केवल नैतिक लोग हैं, विष्णुको अर्पित कर्मोंका आचरण करनेवाले नहीं हैं। अतएव वैसा न होकर भगवदर्पित काम्यकर्मोंका आचरण करना ही उस अधिकारी जीवोंके लिए मङ्गलजनक है॥३.१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥३.१७॥

अन्वय—यः तु मानवः (किन्तु जो व्यक्ति) आत्मरतिः (आत्माराम) आत्मतृप्तः एव च (और आत्मासे ही तृप्त) आत्मनि एव सन्तुष्टः च (आत्मामें ही सन्तुष्ट) स्यात् (हैं) तस्य (उनके लिए) कार्यम् (कर्त्तव्य कर्म) न विद्यते (नहीं है)॥ ३.१७॥

अनुवाद—कर्मचक्रमें वर्त्तमान ऐसे जीव 'कर्त्तव्य' समझकर कर्मका अनुष्ठान करते हैं। किन्तु जो जीव आत्मरति अर्थात् पृथक्‌रूपमें आत्म और अनात्म तत्त्व की विवेचना करनेमें समर्थ होकर आत्मवस्तुमें ही रत हैं, वे आत्मतृप्त और आत्मवस्तुमें ही सन्तुष्ट रहते हैं। वे 'कर्त्तव्य' समझकर कर्मका अनुष्ठान नहीं करते, अपितु केवल शरीरयात्रा–निर्वाहके लिए कर्म करते हुये कर्मचक्रसे निवृत्तिरूप शान्तिका अनुसन्धान करते हैं। अतएव समस्त कर्मोंके करनेपर भी वे नित्य और काम्य कर्मका अनुष्ठान नहीं करते। अतः उनके कर्मको 'कर्म' संज्ञासे अभिहित नहीं किया जाता है। उनके कर्मोंको अवस्था–भेदसे या तो ज्ञान, अथवा भक्ति कहा जाता है॥३.१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३.१८॥

अन्वय—इह (इस जगत्‌में) कृतेन (अनुष्ठित कर्मसे) तस्य (उन आत्माराम पुरुषका) अर्थः (पुण्यफल) न एव (नहीं होता है) अकृतेन च (और कर्मके अनुष्ठानको नहीं करनेसे भी) कश्चन न (कोई दोष नहीं है) अस्य (इनका) सर्वभूतेषु च (ब्रह्माण्ड स्थित समस्त भूतोंमें भी) कश्चिदर्थ (अपने प्रयोजनके लिए) व्यपाश्रयः न (कुछ भी आश्रयणीय नहीं है)॥३.१८॥

अनुवाद—आत्मामें ही आनन्दका अनुभव करनेवाले व्यक्तिको कर्त्तव्यानुष्ठानके कारण पुण्य और कर्त्तव्यकर्मके अनुष्ठानको नहीं करनेसे पाप सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें स्थावरादि जीवोंमें जो स्वार्थ हैं, वे इनके आश्रयणीय नहीं हैं। आत्मरतिके द्वारा सन्तुष्ट होकर उनका पाप–पुण्यका उद्देश्य नहीं रहता है। स्वभावतः ही वे जो कुछ करें या न करें, उनके लिए सभी मङ्गलमय है॥ ३.१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥३.१९॥

अन्वय—तस्मात् (अतएव) असक्तः (अनासक्त होकर) सततम् (निरन्तर) कार्यम् (कर्त्तव्य) कर्म (कर्मका) समाचर (भलीभाँति आचरण करो) हि (क्योंकि) असक्तः (अनासक्त होकर) कर्म आचरण (कर्मका आचरण करनेसे) पुरुषः (पुरुष) परम् (मोक्ष) आप्नोति (प्राप्त करता है)॥३.१९॥

अनुवाद—कर्मफलमें अनासक्त होकर तुम सर्वदा कर्मानुष्ठान करो, क्योंकि अनासक्त भावसे कर्म करते–करते जीवको मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष और कुछ

नहीं है, वरं सभी कर्मोंके चरम परिपक्व अवस्थामें जो परम भक्ति होती है—वही मोक्ष है॥३.१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥३.२०॥

अन्वय—जनकादयः (जनकादि राजर्षिगण) कर्मणा एव हि (कर्मके द्वारा ही) संसिद्धिम् (संसिद्धिको) आस्थिताः (प्राप्त हुये थे) लोकसंग्रहम् अपि संपश्यन् (लोक–शिक्षाके दृष्टिकोणसे भी) (कर्म) कर्त्तुम् एव अर्हसि (कर्म करना ही उचित है)॥३.२०॥

अनुवाद—जनक आदि ज्ञानके अधिकारी व्यक्तियोंने भी कर्मके द्वारा भक्तिरूपी संसिद्धिको प्राप्त किया था। अतएव लोक–शिक्षाके लिए भी तुम कर्म करनेके योग्य बनो॥३.२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥३.२१॥

अन्वय—श्रेष्ठः (श्रेष्ठ पुरुष) यत् यत् (जो जो) आचरति (आचरण करते हैं) इतरः जनः (अन्य लोग भी) तत्–तत् एव (उस उसका ही) आचरति (आचरण करते हैं) सः (वे) यत् (जो कुछ) प्रमाणम् कुरुते (प्रमाणित करते हैं) लोकः (लोग भी) तत् (उसका) अनुवर्त्तते (अनुवर्त्तन करते हैं)॥३.२१॥

अनुवाद—श्रेष्ठ व्यक्ति जिस प्रकारका आचरण करते हैं, अश्रेष्ठ व्यक्ति भी उसीका ही आचरण करते हैं। वे जिसे प्रमाणके रूपमें स्वीकार करते हैं, वे भी उसीका अनुवर्त्तन करते हैं॥३.२१॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥३.२२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) मे (मेरे लिए) कर्त्तव्यम् (करणीय) न अस्ति (नहीं है) [यतः—क्योंकि] त्रिषु लोकेषु (तीनों लोकोंमें) अनवाप्तम् (अप्राप्त) अवाप्तव्यम् (प्राप्त करने योग्य) किञ्चन (कुछ भी) न अस्ति (नहीं है) तथापि अहम् (तथापि मैं) कर्मणि (कर्ममें) वर्त्ते एव च (प्रवृत्त ही हूँ)॥३.२२॥

अनुवाद—हे पार्थ! मैं परमेश्वर हूँ, अतः इस त्रिलोकमें मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, तथापि मैं कर्मका आचरण करता हूँ॥३.२२॥

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥३.२३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यदि (यदि) जातु (कभी) अहम् (मैं) अतन्द्रितः (सन्) (सावधानीपूर्वक) कर्मणि (कर्ममें) न वर्त्तेयम् (प्रवृत्त न होऊँ) [तो] हि (निश्चय ही) मनुष्याः (सभी मनुष्य) सर्वशः (सर्वतोभावेन) मम वर्त्म (मेरे पथका) अनुवर्त्तन्ते (अनुकरण करेंगे)॥३.२३॥

अनुवाद—हे पार्थ! यदि मैं कभी सावधानीपूर्वक कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ, तो निश्चय ही सभी मनुष्य सर्वतोभावेन मेरे पथका अनुकरण करेंगे॥३.२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥३.२४॥

अन्वय—चेत् (यदि) अहम् (मैं) कर्म न कुर्याम् (कर्म नहीं करूँ) [तदा—तब] इमे लोकाः (ये सभी लोग) उत्सीदेयुः (भ्रष्ट हो जाएँगे) च (एवं) [अहम्—मैं] सङ्करस्य (वर्णसङ्करका) कर्त्ता स्याम् (प्रवर्त्तक होऊँगा) [एवं अहमेव—इस प्रकार मैं ही] इमाः प्रजाः (इन सारी प्रजाओंका) उपहन्याम् (नाश करूँगा)॥३.२४॥

अनुवाद—मेरे कर्म न करनेसे, कर्मत्याग करनेके कारण सभी लोग उत्सन्न (भ्रष्ट) हो जायेंगे, और मेरे द्वारा विधि–साङ्कर्य की उत्पत्ति होनेसे समस्त प्रजा विनष्ट हो जायेगी॥३.२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥३.२५॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) कर्मणि (कर्ममें) सक्ताः (आसक्त) अविद्वांसः (अज्ञानी लोग) यथा (जिस प्रकार) कुर्वन्ति (कर्म करते हैं) लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः (लोकशिक्षाके इच्छुक) विद्वान् (ज्ञानी व्यक्ति भी) असक्तः (सन्) (अनासक्त होकर) तथा कुर्यात् (उस प्रकार ही कर्म करें)॥३.२५॥

अनुवाद—अतएव लोकशिक्षाके लिए विद्वान् व्यक्ति अनासक्तभावसे उसी प्रकार कार्य करें, जिस प्रकार अविद्वान् व्यक्ति आसक्त होकर कर्म करते हैं। अतएव विद्वान् और अविद्वानके कर्मका प्रकार पृथक् नहीं है। केवल उनमें आसक्ति और अनासक्ति–सम्बन्धी निष्ठा ही पृथक् है—ऐसा जानो॥३.२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥३.२६॥

अन्वय—विद्वान् (ज्ञानयोगके उपदेशक) कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम् (कर्ममें आसक्त अज्ञ व्यक्तियोंको) बुद्धिभेदम् न जनयेत् (कर्मत्यागपूर्वक ज्ञानका अभ्यास करो—बुद्धिमें इस प्रकारका भ्रम उत्पन्न नहीं करेंगे) (अपितु) युक्तः (सन्) (समाहित

चित्तसे) सर्वकर्माणि समाचरन् (सभी कर्मोंका भलीभाँति आचरण करते हुये) कर्मणि योजयेत् (कर्ममें नियुक्त करेंगे)॥३.२६॥

अनुवाद—जो ऐसा नहीं जानते हैं कि कर्मका तात्पर्य भक्तिको उत्पन्न करनेवाला ज्ञान है—वे अज्ञ हैं। उस अज्ञताके कारण ही वे कर्मके अवान्तर फलके रूपमें अन्य काम्य कर्मोंको स्वीकार करते हैं। अतएव वे कर्मसङ्गी (कर्मासक्त) हैं। 'अज्ञ' और 'कर्मसङ्गी' व्यक्तिको तत्त्वज्ञानका तात्पर्य बतानेपर भी वे इसमें श्रद्धाके साथ आग्रह प्रदर्शित नहीं करते हैं। अतएव उन्हें सहसा ही जड़ता त्याग करनेका उपदेश न देकर विद्वान् व्यक्ति स्वयं निष्काम कर्मयोगके साथ कर्मका आचरण करते हुये चित्तशुद्धिके लिए उन्हें कर्मका उपदेश देंगे। सहसा ही उनकी बुद्धिमें भेद (भ्रम) उत्पन्न करनेकी चेष्टा करनेसे उनका मङ्गल नहीं होगा। ज्ञानका उपदेश देनेवालोंके लिए मेरा यही उपदेश जानो। जो भक्तिका उपदेश देते हैं, उनके लिए यह उपदेश नहीं है, क्योंकि भक्तिके सम्बन्धमें अन्तःकरणकी शुद्धि होनेकी अपेक्षा नहीं है। यह बादमें विशेषरूपसे विचार करूँगा॥३.२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥३.२७॥

अन्वय—सर्वशः कर्माणि (सभी प्रकारके कर्म) प्रकृतेः गुणैः (प्रकृतिके गुणोंके द्वारा) क्रियमाणानि (किये जाते हैं) अहङ्कार-विमूढात्मा (अहङ्कारसे मोहित चित्तवाला व्यक्ति) इति मन्यते (ऐसा मानता है) अहम् कर्त्ता (मैं कर्त्ता हूँ)॥३.२७॥

अनुवाद—विद्वान् और अविद्वानका भेद बता रहा हूँ, तुम इसे श्रवण करो। अविद्याके द्वारा जड़-प्रकृतिमें आबद्ध होकर जीव प्राकृत अहङ्कारवश प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किये जा रहे समस्त कर्मोंको अपना कार्य मानकर ऐसा अभिमान करते हैं 'मैं कर्त्ता हूँ'। यही अविद्वानोंका लक्षण है॥३.२७॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥३.२८॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) गुणकर्म विभागयोः तत्त्ववित् (जो गुण-कर्म-विभागके तत्त्वको जानते हैं) (सः) तु (किन्तु वे) इति (यह) मत्वा (मानकर) न सज्जते (आसक्त नहीं होते हैं) [कि] गुणाः (इन्द्रियाँ) गुणेषु (रूपादि विषयोंमें) वर्त्तन्ते (रत हैं)॥३.२८॥

अनुवाद—हे महाबाहो! तत्त्वविद् विद्वान व्यक्ति प्राकृत गुण–कर्मोंको आत्मासे पृथक् जानकर उनका (गुण–कर्मोंका) सङ्ग नहीं करते हैं। वे केवल ऐसा सोचते हैं कि मैं (आत्मा) पृथक् हूँ, घटनावशतः प्रकृतिमें आबद्ध होकर प्रकृतिके गुण–कर्मोंके द्वारा कार्य कर रहा हूँ॥३.२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥३.२९॥

अन्वय—प्रकृतेः गुणसंमूढ़ाः (प्राकृत गुणोंमें आविष्ट पुरुष) गुणकर्मषु (विषयोंमें) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं) कृत्स्नवित् (सर्वज्ञ) तान् (उन सभी) अकृत्स्नविदः मन्दान् (अज्ञ मन्दमति व्यक्तियोंको) न विचालयेत् (विचलित नहीं करेंगे)॥३.२९॥

अनुवाद—मूढ़ व्यक्तिगण उस प्रकारकी बुद्धि न कर अपनेको प्राकृत बोध करते हैं एवं प्रकृतिके गुण–कर्मोंमें अपनेको युक्त करते हैं। उन अल्पज्ञ और मन्द व्यक्तियोंको तत्त्वविद् व्यक्ति निरर्थक विचलित नहीं करते हैं। उन लोगोंको क्रमशः अधिकारी बनाकर उस अधिकारके तत्त्वज्ञानको प्रदान करते हैं॥३.२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३.३०॥

अन्वय—अध्यात्मचेतसा (आत्मनिष्ठ चित्तसे) सर्वाणि कर्माणि (सभी कर्म) मयि (मुझमें) संन्यस्य (समर्पणकर) निराशीः (निष्काम) निर्ममः (ममताशून्य) विगतज्वरः (शोकरहित) भूत्वा (होकर) युध्यस्व (युद्ध करो)॥३.३०॥

अनुवाद—अतएव हे अर्जुन! तुम तत्त्वज्ञान–सम्पन्न अध्यात्मचेता होकर प्राकृत अहङ्कार और फलकामना का परित्यागकर समस्त कर्म मुझमें अर्पण करो एवं चिन्ता और सन्देहका परित्यागकर युद्धरूपी स्वधर्मका अवलम्बन करो॥३.३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३.३१॥

अन्वय—श्रद्धावन्तः (श्रद्धावान्) अनसूयन्तः (असूयारहित या दोषदृष्टिरहित) ये मानवः (जो सभी व्यक्ति) मे (मेरे) इदम् मतम् (इस अभिप्रायका) नित्यम् (नित्य) अनुतिष्ठन्ति (अनुसरण करते हैं) ते अपि (वे भी) कर्मभिः (कर्मोंसे) मुच्यन्ते (मुक्ति लाभ करते हैं)॥३.३१॥

अनुवाद—जो सर्वदा इस भगवदर्पित निष्काम–कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं और असूयाशून्य (ईर्ष्यारहित) होकर मेरे प्रति श्रद्धा करते हैं, वे कर्मके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करते हैं॥३.३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३.३२॥

अन्वय—ये तु (किन्तु जो) अभ्यसूयन्तः (दोषारोपण करते हुये) मे (मेरे) एतत् मतम् (इस मतका) न अनुतिष्ठन्ति (अनुवर्त्तन नहीं करते हैं) तान् (उन सबको) अचेतसः (विवेकरहित) सर्वज्ञान-विमूढान् (सभी ज्ञानोंसे विमूढ़) नष्टान् (नष्ट) विद्धि (जानो)॥३.३२॥

अनुवाद—जो मेरे इस उपदेशके प्रति असूया (दोष) प्रकाश करते हुये इसका पालन नहीं करते हैं, उन्हें समस्त ज्ञानसे वञ्चित, नष्ट और निर्बोध जानो॥३.३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३.३३॥

अन्वय—ज्ञानवान् अपि (विवेकवान् व्यक्ति भी) स्वस्याः प्रकृतेः (अपनी प्रकृति या स्वभावके) सदृशम् (अनुसार) चेष्टते (चेष्टा करते हैं) भूतानि (सभी जीव) प्रकृतिम् यान्ति (प्रकृति या स्वभावका अनुगमन करते हैं) [अतः—अतएव] निग्रहः (निग्रह) किम् करिष्यति (क्या करेगा)॥३.३३॥

अनुवाद—हे अर्जुन! ऐसा मत समझो कि अनात्म और आत्म विचारपूर्वक प्राकृत गुण-कर्मको सहसा ही त्यागकर संन्यासधर्मका आश्रय करनेसे विद्वान् पुरुषका मङ्गल होगा। ज्ञानवान् होनेपर भी बद्धजीव बहुकालसे आदृत अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही चेष्टा करेंगे। अचानक ही निग्रहका अवलम्बन करनेसे ही प्रकृति (स्वभाव) का परित्याग होता है—ऐसा नहीं है। सभी बद्धजीव सहजमें ही बहुत समयसे अभ्यस्त-चेष्टारूपी प्रकृति (स्वभाव) का अवलम्बन करेंगे। उस प्रकृतिका त्याग करनेका उपाय यह है कि उस प्रकृतिमें अवस्थित होकर सतर्कतापूर्वक प्रकृतिके अनुयायी सभी कर्मोंको करना चाहिए। जब तक हृदयमें भक्तियोगके लक्षणसे युक्त वैराग्य नहीं उत्पन्न नहीं होता है, तब तक भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग ही एकमात्र आत्मकल्याणका उपाय है। क्योंकि, उसमें स्वधर्म-पालन और स्वधर्म-संस्कार दोनों ही फल एकसाथ सम्भव हैं। स्वधर्मका त्याग करनेसे उत्पथ-गमन ही चरम फल होता है। जहाँ मेरी कृपासे या भक्तोंकी कृपासे हृदयमें भक्तियोग आविर्भूत होता है, वहाँ मेरे लिए अर्पित निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षा उत्कृष्ट पन्था लाभ करनेके कारण इस प्रकारके स्वधर्म-पालन विधिकी आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त सर्वत्र ही मेरे लिए अर्पित निष्काम कर्मयोग ही श्रेयः है॥३.३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥३.३४॥

अन्वय—इन्द्रियस्य (इन्द्रियका) इन्द्रियस्य अर्थे (अपने अपने विषयमें) रागद्वेषौ (राग एवं द्वेष) व्यवस्थितौ (अवश्यम्भावी है) अतः (अतएव) तयोः (उनके) वशम् न आगच्छेत् (अधीन मत होओ) हि (क्योंकि) तौ (राग और द्वेष) अस्य परिपन्थिनौ (साधकके विरोधी हैं)॥३.३४॥

अनुवाद—हे अर्जुन! यदि तुम कहो कि इन्द्रियोंके विषयोंको स्वीकार करनेसे अधिकांशतः जीवोंका विषय–बन्धन ही सम्भव है, कर्ममुक्ति सम्भव नहीं होगी, तो तुम मेरी बातोंको श्रवण करो। समस्त विषय ही जीवोंके विरोधी (अमङ्गलकारी) हैं —ऐसा नहीं है। विषयोंके प्रति जो राग–द्वेष है, वही जीवोंका परम शत्रु है। अतएव विषयोंको स्वीकार करते समय राग–द्वेषको वशीभूत करना चाहिए—ऐसा करनेसे समस्त विषयोंको स्वीकार करनेपर भी तुम विषयोंमें आबद्ध नहीं होओगे। जब तक यह प्राकृत शरीर है, तब तक ही विषयोंको अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु, देहात्माभिमान होनेके कारण उन–उन कार्योंमें जो रागद्वेष उत्पन्न होता है, उसे नाश करते–करते विषयोंके प्रति तुम्हें वैराग्य उत्पन्न होगा। विषयोंमें जो भगवत्–सम्बन्धी राग या द्वेष होता है अर्थात् भक्ति–उद्दीपक वस्तु अथवा कार्यमें राग और भक्ति–विघातक वस्तु अथवा कार्यमें जो द्वेष होता है, मैंने उसे दमन करनेका उपदेश नहीं दिया, बल्कि मैंने केवल आत्मसुख– सम्बन्धी राग और द्वेषको वशीभूत करनेका उपदेश दिया—ऐसा समझो॥३.३४॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥३.३५॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् (भलीभाँति अनुष्ठित) परधर्मात् (परधर्मकी अपेक्षा) विगुणः स्वधर्मः (किञ्चित् दोषयुक्त अनुष्ठित स्वधर्म) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) स्वधर्मे (अपने–अपने वर्णाश्रमोचित धर्ममें) निधनम् श्रेयः (निधन अच्छा है) परधर्मः भयावहः (परधर्म उसकी अपेक्षा भयावह है)॥३.३५॥

अनुवाद—स्वधर्मका पालन करते–करते उच्च धर्मकी प्राप्तिके पूर्व ही यदि मृत्यु हो जाती है, तब भी वह मङ्गलजनक है, क्योंकि परधर्म किसी भी अवस्थामें निर्भय नहीं होता। किन्तु, निर्गुणा भक्तिके लिए पूर्वोक्त विचार उपयुक्त नहीं होते। निर्गुणा भक्ति होनेपर बिना किसी सन्देहके स्वधर्मका त्याग किया जा सकता है, क्योंकि उस समय नित्य धर्म अर्थात् स्वरूप धर्म ही स्वधर्मके रूपमें

प्रकाशित होता है। उस स्थितिमें देह और मनका औपाधिक स्वधर्म परधर्म हो जाता है॥३.३५॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापञ्चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३.३६॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशमें आविर्भूत श्रीकृष्ण!) अथ (फिर) अयम् पुरुषः (यह पुरुष) केन प्रयुक्तः (किसके द्वारा प्रेरित होकर) अनिच्छन् अपि (न चाहता हुआ भी) बलात् इव नियोजितः (बलपूर्वक नियोजित होनेके समान) पापम् चरति (पापका आचरण करता है)॥ ३.३६॥

अनुवाद—इतना श्रवण करनेके पश्चात् अर्जुन ने कहा—हे वार्ष्णेय! किसके द्वारा नियुक्त होकर जीव अपनी इच्छाके विपरीत होनेपर भी बाध्य होकर पापका आचरण करता है। आपने तो कहा है कि जीव नित्य शुद्ध चित्स्वरूप है। यह समस्त जड़गुणों और जड़–सम्बन्धोंसे पृथक् है। तब तो जड़ जगत्में पापका आचरण करना जीवका स्व–स्वभाव नहीं है, किन्तु ऐसा देखा जाता है कि जीवगण सर्वदा ही पापका आचरण कर रहे हैं। अतएव आप मुझे स्पष्ट रूपमें बतावें कि जीवको कौन पापमें रत करता है॥३.३६॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३.३७॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) एषः कामः (यह विषयकी अभिलाषा ही) एषः क्रोधः (क्रोधमें परिणत होता है) रजोगुण समुद्भवः (रजोगुणसे उत्पन्न) महाशनः (सर्वभक्षी) महापाप्मा (अतिशय उग्र) इह एनम् वैरिनम् विद्धि (इस कामको ही जीवोंका प्रधान शत्रु जानो)॥३.३७॥

अनुवाद—अर्जुनके इस प्रश्नको श्रवणकर श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न काम ही पुरुषको पापमें प्रवृत्त कराता है। 'काम' विषयाभिलाषका स्वरूप है। काम ही अवस्था भेदसे 'क्रोध' में रूपान्तरित होता है। काम रजोगुणका आश्रयकर उत्पन्न होता है एवं जब अभिलाषाकी सिद्धिमें विघ्न पड़ता है, तब यही काम तमोगुणका आश्रयकर 'क्रोध' हो जाता है। काम अतिशय उग्र और सर्वभक्षी है, इस कामको ही जीवोंका प्रधान शत्रु जानो॥३.३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३.३८॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) वह्निः (अग्नि) धूमेन (धुएँसे) आव्रियते (आवृत रहता है) आदर्शः (दर्पण) मलेन (धूलसे) च (एवं) यथा (जिस प्रकार) गर्भः (गर्भ) उल्बेन (जरायुसे) आवृतः (आवृत रहता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (कामके द्वारा) इदम् (जगत्) आवृतम् (आवृत रहता है)॥३.३८॥

अनुवाद—उस कामने ही इस जगत्को कहीं किञ्चित् शिथिलरूपमें, कहीं गाढ़रूपमें और कहीं अत्यन्त गाढ़रूपमें आवृत कर रखा है। मैं उदाहरण देकर समझा रहा हूँ, तुम श्रवण करो। धुएँसे आवृत अग्निके समान चैतन्य जीव कामके द्वारा किञ्चित् परिमाणमें शिथिल रूपमें आवृत होनेपर भगवान्के स्मरणादि कार्योंको कर सकता है। यह मुकुलित–चेतन रूपमें निष्काम कर्मयोगाश्रित जीवोंकी अवस्थिति है। धूलसे आच्छन्न दर्पणकी भाँति चैतन्य जीव कामके द्वारा गाढ़ रूपमें आवृत होकर मनुष्यके रूपमें अवस्थित रहनेपर भी परमेश्वरको स्मरण नहीं कर पाता है। यह संकुचित–चेतनस्वरूपमें नितान्त नैतिक और नास्तिकादि जीवोंकी अवस्थिति है। वे पशु–पक्षीके समान हैं। जरायुके द्वारा आवृत गर्भकी भाँति चैतन्य जीव कामके द्वारा अतिगाढ़ रूपमें आवृत होकर आच्छादित चेतनस्वरूप वृक्षादिकी भाँति अवस्थित रहता है॥३.३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥३.३९॥

अन्वय—च (और) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) एतेन (इस) दुष्पूरेण (न पूर्ण होनेवाले) अनलेन च (इव) (अग्निके सदृश) कामरूपेण (कामरूप) नित्यवैरिणा (चिरशत्रुसे) ज्ञानिनः (ज्ञानीका) ज्ञानम् (विवेक ज्ञान) आवृतम् (आवृत है)॥ ३.३९॥

यह काम ही जीवोंके लिए अविद्या है और वही जीवोंका नित्य वैरी है। वह दुर्वारित अग्निकी भाँति चैतन्य–जीवको आवृत कर लेता है। जिस प्रकार मैं भगवान् चित्पदार्थ हूँ, उसी प्रकार जीव भी चित्पदार्थ है। मेरे और जीवके स्वरूपमें इतना ही भेद है कि मैं पूर्णस्वरूप एवं सर्वशक्तिमान् हूँ, परन्तु जीव अणुचैतन्य है एवं मेरे द्वारा प्रदत्त शक्तिसे ही कार्य करनेमें समर्थ होता है। मेरा नित्यदास्य ही जीवका नित्यधर्म है, इसका ही नाम 'प्रेम' या निष्काम जैव–धर्म है। चेतन वस्तुमात्र ही स्वभावतः स्वतन्त्र होता है। शुद्धजीव भी स्वभावतः स्वतन्त्र

होता है, अतएव स्वेच्छापूर्वक मेरा नित्यदास है। उस विशुद्ध स्वतन्त्र इच्छाकी अपगतिको ही 'अविद्या' या 'काम' कहते हैं। जो जीवसमूह स्वतन्त्र इच्छासे मेरी दास्यता स्वीकार नहीं करते हैं, वे उस पवित्र तत्त्वके अपगत– भावरूप कामको ही अङ्गीकार करते हैं। इस (काम) के द्वारा वे आवृत होते–होते आच्छादित चेतनस्वरूप जड़वत् हो जाते हैं। इसका ही नाम जीवका 'कर्मबन्धन' अथवा 'संसार–यातना' है॥३.३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥३.४०॥

अन्वय—इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) मनः (मन) बुद्धिः (बुद्धि) अस्य (इस कामके) अधिष्ठानम् (आश्रयस्थल) उच्यते (कही जाती हैं) एषः (यह काम) एतैः (इनके द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञानको) आवृत्य (आच्छादितकर) देहिनम् (जीवको) विमोहयति (विमोहित करता है)॥३.४०॥

अनुवाद—विशुद्ध ज्ञानस्वरूप जीव देहधारणकर 'देही' के नामसे विख्यात होता है। यह काम जीवके इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें अधिष्ठान करते हुये जीवके ज्ञानको आवृत किये रहता है। कामका सूक्ष्म तत्त्व अविद्या है, यह अविद्या ही सर्वप्रथम विशुद्ध अहङ्कारस्वरूप अणुचैतन्य जीवको प्राकृत अहङ्काररूप प्रथम आवरण प्रदान करती है और प्राकृत बुद्धि ही इसके आश्रयस्थलका कार्य करती है। बादमें प्राकृत अहङ्कारके परिपक्व होनेपर बुद्धि मनरूप द्वितीय आश्रयस्थल प्रदान करती है। मन विषयोंकी ओर उन्मुख होकर इन्द्रियोंके रूपमें तृतीय अधिष्ठान प्रस्तुत करता है। इन तीनों आश्रयस्थलोंका आश्रयकर काम जीवको जड़–विषयोंमें निक्षेप कर देता है। स्वतन्त्र इच्छापूर्वक मेरे प्रति उन्मुखता 'विद्या' एवं स्वतन्त्र इच्छापूर्वक मेरे प्रति विमुखता 'अविद्या' कही जाती है॥३.४०॥

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥३.४१॥

अन्वय—तस्मात् (अतः) भरतर्षभ (हे भरतर्षभ अर्जुन!) त्वम् (तुम) आदौ (सर्वप्रथम) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) नियम्य (वशीभूतकर) ज्ञान–विज्ञान–नाशनम् (ज्ञान और विज्ञानको नाश करनेवाले) पाप्मानम् (पापरूप) एनम् (इस कामको) प्रजहि (विनष्ट करो)॥३.४१॥

अनुवाद—अतएव हे भरतर्षभ! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियादिको नियमितकर ज्ञान–विज्ञानको ध्वंस करनेवाले महापापरूप कामको जीतो अर्थात् उसके अपगत भावका

नाश करते हुये उसके स्व–स्वभावको वापस लाकर उसके प्रेमात्मक स्वरूपका अवलम्बन करो। जड़बद्ध जीवका प्रथम प्रशस्त कर्त्तव्य यही है कि वह सर्वप्रथम युक्त वैराग्य और स्वधर्मका पालन करे और क्रमशः साधनभक्ति प्राप्तकर प्रेमभक्तिका साधन करे। मेरी कृपा या मेरे भक्तोंकी कृपासे जो निरपेक्ष भक्ति प्राप्त की जाती है, वह नितान्त विरल है और कहीं–कहीं यह आकस्मिकी प्रथाके रूपमें उदित होती है॥३.४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः॥३.४२॥

अन्वय—इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) पराणि आहुः (श्रेष्ठ कहा जाता है) इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियोंकी अपेक्षा) मनः (मन) परम् (श्रेष्ठ है) तु (किन्तु) बुद्धिः (बुद्धि) मनसः (मनसे) परा (श्रेष्ठ है) यः तु (एवं जो) बुद्धेः (बुद्धिसे) परतः (श्रेष्ठ है) सः (आत्मा) (वह आत्मा है)॥३.४२॥

अनुवाद—संक्षेपमें बता रहा हूँ, तुम जीव हो और यही (जीव होना ही) तुम्हारा निज तत्त्व है। आपाततः जड़बद्ध होकर इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जो आत्मा समझ रहे हो, वह अविद्याजनित भ्रम है। जड़ वस्तुकी अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। बुद्धि मनसे भी सूक्ष्म और श्रेष्ठ है और आत्मा जो कि जीव है, वह बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है॥३.४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥३.४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'कर्मयोगो' नाम तृतीयोऽध्यायः॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) एवं (इस प्रकार) बुद्धेः परम् (बुद्धिसे श्रेष्ठ जीवात्माको) बुद्ध्वा (जानकर) आत्मानम् (मनको) आत्मना (निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा) संस्तभ्य (स्थिरकर) कामरूप शत्रुम् (कामरूप शत्रुको) जहि (विनष्ट करो)॥३.४३॥

अनुवाद—इस प्रकार स्वयंको अप्राकृत तत्त्व और समस्त जड़ीय सविशेष तथा निर्विशेष चिन्तासे श्रेष्ठ भगवत्–दासरूप तत्त्व जानकर चित्–शक्तिके द्वारा निश्चल करते हुये क्रमशः दुर्जेय कामका नाश करो॥३.४३॥

तृतीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थ अध्याय (ज्ञानयोग)

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥४.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अहम् (मैंने) इमम् (इस) अव्ययम् योगम् (अविनाशी योगको) विवस्वते (सूर्यसे) प्रोक्तवान् (कहा था) विवस्वान् (सूर्यने) मनवे (मनुसे) प्राह (कहा) मनुः (मनुने) इक्ष्वाकवे (इक्ष्वाकुसे) अब्रवीत (कहा)॥४.१॥

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले—मैंने पूर्वमें सूर्यको यह अविनाशी निष्काम कर्म-साध्य ज्ञानयोग कहा था। सूर्यने इसको मनुसे कहा एवं मनुने इसे इक्ष्वाकुसे कहा॥४.१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥४.२॥

अन्वय—परन्तप (हे अर्जुन!) एवं (इस प्रकार) परम्परा प्राप्तम् (परम्परासे प्राप्त) इमम् (इस योगको) राजर्षयः (राजर्षियोंने) विदुः (जाना) महता कालेन (बहुत समय होनेसे) सः योगः (वह योग) इह (इस लोकमें) नष्टः (नष्टप्राय हो गया है)॥४.२॥

अनुवाद—इस प्रकार परम्परासे प्राप्त योगसे राजर्षिगण अवगत हुये। हे परन्तप! वह योग सुदीर्घकालवश आपाततः नष्टप्राय हो गया है॥४.२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥४.३॥

अन्वय—[त्वम्—तुम] मे (मेरे) भक्तः सखा च असि (भक्त एवं सखा हो) इति (इसलिए) अयम् सः एव पुरातनः योगः (यह वही पुरातन योग) अद्य मया (आज मेरे द्वारा) ते (तुम्हें) प्रोक्तः (कहा गया) हि (क्योंकि) एतत् (यह) उत्तमम् रहस्यम् (उत्तम रहस्य है)॥४.३॥

अनुवाद—वह सनातन योग आज मैंने तुम्हें कहा; क्योंकि तुम मेरे भक्त एवं सखा हो। अतएव यह उत्तम योग अत्यन्त रहस्यपूर्ण होनेपर भी मैंने तुम्हें इसका उपदेश दिया। समस्त वेदशास्त्रोंमें इसे ही मेरा उपदेश जानकर तुम इस योगका अवलम्बन करते हुये युद्ध करो॥४.३॥

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥४.४॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) भवतः जन्म (आपका जन्म) अपरम् (अभी हुआ है) विवस्वतः जन्म (सूर्यका जन्म) परम् (बहुत पहले प्राचीनकालमें हुआ है) तस्मात् (अतः) [अहम्—मैं] एतत् (इस बातको) कथम् (किस प्रकार) विजानीयाम् (समझँू) त्वम् (आपने) आदौ (पूर्वकालमें) विवस्वते (सूर्यको) इति (यह योग) प्रोक्तवान् (कहा था)॥४.४॥

अनुवाद—विवस्वानका जन्म प्राचीनकालमें हुआ था और आपने अभी जन्म ग्रहण किया है। अतः इस बातपर किस प्रकार विश्वास किया जाय कि आपने ही विवस्वान् अर्थात् सूर्यको इस योगका उपदेश दिया था॥४.४॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥४.५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) परन्तप अर्जुन (हे परन्तप अर्जुन!) तव च (तुम्हारे और) मे (मेरे) बहूनि जन्मानि (बहुत–से जन्म) व्यतीतानि (बीत चुके हैं) अहम् (मैं) तानि सर्वाणि (उन सबको) वेद (जानता हूँ) त्वम् (तुम) न वेत्थ (नहीं जानते हो)॥४.५॥

अनुवाद—श्रीकृष्ण बोले—हे परन्तप अर्जुन! तुम्हारे एवं मेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। परमेश्वरत्वके कारण मैं उन सबको स्मरण कर सकता हूँ। किन्तु तुम अणुचैतन्य जीव हो, अतः उन्हें स्मरण नहीं कर सकते हो। तुम मेरे सिद्ध भक्त हो। अतः मैं जब–जब जगतमें अवतीर्ण होता हूँ, तुम भी मेरी लीलाकी पुष्टि के लिए मेरे साथ जन्म ग्रहण करते हो। किन्तु एकमात्र मैं ही सर्वज्ञ हूँ— अतः मैं सभी बातोंसे अवगत हूँ॥४.५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥४.६॥

अन्वय—[अहम्—मैं] अजः (अजन्मा) अव्ययात्मा (अविनाशी) सन् अपि (होते हुये भी) भूतानाम् (जीवोंका) ईश्वरः (ईश्वर) सन् अपि (होते हुये भी) आत्ममायया (अपनी योगमायाके द्वारा) स्वाम् प्रकृतिम् (अपने सच्चिदानन्द स्वरूपका) अधिष्ठाय (अवलम्बनकर) सम्भवामि (आविर्भूत होता हूँ)॥४.६॥

अनुवाद—यद्यपि तुम और मैं पुनः पुनः इस जगतमें आविर्भूत होता हूँ, तथापि तुम्हारे और मेरे अवतरणमें विशेष भेद है। मैं समस्त जीवोंका ईश्वर, अज अर्थात् अजन्मा एवं अव्ययस्वरूप हूँ। मैं अपनी चित्–शक्तिका आश्रयकर आविर्भूत होता हूँ, किन्तु समस्त जीव मेरी माया–शक्तिके वशीभूत होकर इस जगत्में जन्म ग्रहण करते हैं, इसलिए उन्हें पूर्व जन्मकी स्मृति नहीं रहती है। जीवोंका जो लिङ्ग शरीर है, वह उनके कर्मफलसे प्राप्त होता है और उसीका आश्रयकर वे जन्म ग्रहण करते हैं। देव–तिर्यग् आदि रूपोंमें मेरा जो आविर्भाव होता है, वह केवल मेरे स्वाधीन इच्छावश ही होता है। जीवोंकी भाँति मेरा विशुद्ध चित्–शरीर लिङ्ग और स्थूल शरीरके द्वारा आवृत नहीं होता है। मेरा जो नित्य शरीर वैकुण्ठमें रहता है, उसे ही मैं अवलीला–क्रमसे इस प्रापञ्चिक जगत्में प्रकाशित करता हूँ।

यदि कहो कि प्रपञ्चमें चित्–तत्त्वका प्रकाश किस प्रकार सम्भव है, तो सुनो—मेरी शक्ति अवितर्क (तर्कसे परे) और समस्त चिन्ताओंसे अतीत है। अतएव उस शक्तिके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, तुमलोग युक्ति द्वारा उसका निर्णय नहीं कर सकते हो। सहज ज्ञानके द्वारा केवल इतना जान लेना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अविचिन्त्य शक्तिसम्पन्न भगवान् किसी प्रापञ्चिक विधिसे बाध्य नहीं हैं। उनकी इच्छा–मात्र होनेसे समस्त वैकुण्ठतत्त्व अनायास ही विशुद्धरूपमें इस जड़–जगत्में प्रकाशित हो सकता है अथवा वे समस्त जड़को परिवर्त्तितकर चित्स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। अतः समस्त प्रपञ्च–विधियोंसे अतीत मेरा यह सच्चिदानन्द–विग्रह प्रपञ्चमें प्रकट होकर भी पूर्णरूपेण शुद्ध है—इसमें सन्देह क्या है? जिस मायाके द्वारा जीव परिचालित होता है, वह भी मेरी ही प्रकृति है, किन्तु जब मैं 'अपनी प्रकृति' कहूँ, तो इससे चित्–शक्तिको ही समझना चाहिए। यद्यपि मेरी शक्ति एक है, किन्तु वही मेरे निकट चित्–शक्ति और कर्मबद्ध जीवोंके निकट माया–शक्ति है एवं नाना प्रकारके प्रभावोंसे युक्त है॥ ४.६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥४.७॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) यदा यदा हि (जब–जब) धर्मस्य (धर्मकी) ग्लानिः (हानि) अधर्मस्य (च) (और अधर्मकी) अभ्युत्थानम् (वृद्धि) भवति (होती है) तदा (तब–तब) अहम् (मैं) आत्मानम् (अपने नित्य सिद्ध देहको) सृजामि (सृष्ट देहके समान प्रदर्शित करता हूँ, प्रकट करता हूँ)॥४.७॥

अनुवाद—मेरे आविर्भावका यही कारण है कि मैं स्वेच्छामय हूँ, मेरी इच्छा होनेपर ही मैं अवतीर्ण होता हूँ। जब–जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब–तब ही मैं स्वेच्छापूर्वक आविर्भूत होता हूँ। जगत्‌के क्रियाकलापको संचालित करनेवाली मेरी समस्त विधियाँ अजेय हैं, किन्तु कालक्रमसे जब ये सारी विधियाँ किसी अनिर्देश्य कारणवश विगुण हो जाती हैं, तभी अधर्म प्रबल हो उठता है। मेरे अतिरिक्त उस दोषके निवारणमें कोई समर्थ नहीं है। अतएव मैं अपनी चित्–शक्तिके सहयोगसे इस प्रपञ्चमें उदित होकर इस धर्मग्लानिको दूर करता हूँ। केवल इस भारत–भूमिमें ही मेरा उदय होता है—ऐसा नहीं है। मैं देवता, पशु, पक्षी आदि सभी योनियोंमें आवश्यकतानुसार इच्छापूर्वक उदित होता हूँ।

अतः ऐसा मत समझो कि मैं म्लेच्छ अन्त्यजादिके बीच उदित नहीं होता हूँ। वे सभी शोच्य पुरुषगण जितने परिमाणमें भी धर्मको स्वधर्मके रूपमें स्वीकार करते हैं, उतने परिमाणमें धर्मकी ग्लानि होनेपर उनके बीच शक्त्यावेश–अवतारके रूपमें प्रादुर्भूत होकर उनके धर्मकी रक्षा करता हूँ। किन्तु, भारत–भूमिमें वर्णाश्रम–धर्मरूप साम्बन्धिक स्वधर्मके भलीभाँति आचरित होनेके कारण उस देशवासी अपनी प्रजाओंके धर्म–संस्थापनके लिए मैं विशेष यत्न करता हूँ। अतएव युगावतार, अंशावतार प्रभृति जितने भी रमणीय अवतार हैं, उसे भारत–भूमिमें ही लक्ष्य करना चाहिए। जहाँ वर्णाश्रमधर्म नहीं है, वहाँ निष्काम कर्मयोग, इसके साध्य ज्ञानयोग और चरमफलरूप भक्तियोग भलीभाँति आचरित नहीं होता है। तब भी अन्त्यजोंमें जो थोड़ी–बहुत भक्तिका उदय देखा जाता है, उसे भक्तकी कृपासे उत्पन्न आकस्मिकी प्रथासे सम्बन्धित जानो॥४.७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥४.८॥

अन्वय—साधूनाम् (अपने एकान्त भक्तोंके) परित्राणाय (परित्राणके लिए) दुष्कृताम् (दुष्टोंके) विनाशाय (विनाशके लिए) धर्मसंस्थापनार्थाय च (एवं धर्मकी संस्थापनाके लिए) युगे युगे (युग–युगमें) सम्भवामि (आविर्भूत होता हूँ)॥४.८॥

अनुवाद—राजर्षि, ब्रह्मर्षि आदि जो मेरे भक्त हैं—मैं उनकी सत्तामें शक्तिका संचारकर वर्णाश्रम धर्मकी संस्थापना करता हूँ। किन्तु, परमभक्त साधुओंकी अभक्त व्यक्तियोंसे रक्षाके लिए मेरे अवतारकी आवश्यकता होती है। अतएव युगावतारके रूपमें मैं साधुओंकी रक्षा करता हूँ, असाधुओंको पृथक्कर नाश्य– धर्म स्थापित करता हूँ एवं श्रवण–कीर्त्तनादि भक्तिका प्रचारकर जीवोंके नित्यधर्मकी संस्थापना करता हूँ। मैं युग–युगमें अवतीर्ण होता हूँ—इस कथनसे यह स्वीकार करना चाहिए कि कलियुगमें भी मेरा अवतार होता है। कलिकालके अवतारमें केवल कीर्त्तनादिके द्वारा परम दुर्लभ प्रेमका संस्थापन करूँगा, इस अवतारका अन्य और कोई तात्पर्य नहीं होनेके कारण सभी अवतारोंसे श्रेष्ठ होनेपर भी जनसाधारणके लिए यह गोपनीय है। मेरे परम भक्तगण स्वभावतः इस अवतारके द्वारा विशेष रूपसे आकृष्ट होंगे, यह तुम भी उनके साथ अवतीर्ण होकर देख सकोगे। कलिजन–निस्तारक इस गुह्य अवतारका परम रहस्य यह है कि इसमें दुष्कृतिवान लोगोंके दुष्कृति–विनाशके अतिरिक्त असुर–विनाशादि कार्य नहीं हैं॥४.८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥४.९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) मे (मेरे) जन्म कर्म च (जन्म और कर्म) दिव्यम् (अप्राकृत हैं) एवम् (इस प्रकार) यः (जो) तत्त्वतः (यथार्थ रूपमें) वेत्ति (जान लेते हैं) सः (वे) देहम् त्यक्त्वा (वर्त्तमान शरीरको त्यागकर) पुनः जन्म न एति (पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते हैं) माम् एति (मुझे प्राप्त करते हैं)॥४.९॥

अनुवाद—अचिन्त्य शक्तिके द्वारा मैं जो दिव्य जन्म और कर्म स्वीकार करता हूँ, जो पूर्वोक्त तत्त्व विचार–क्रमसे इसे जानते हैं, वे देह त्याग करनेके पश्चात् पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, बल्कि मेरी चित्त्–शक्तिके प्रकाशरूप ह्लादिनी–शक्तिके वशीभूत होकर मेरी नित्य सेवा प्राप्त करते हैं। तत्त्वज्ञानके अभावमें जो व्यक्ति मेरे जन्म–कर्म और प्रपञ्चमें प्रकाशित देहको अनित्य और प्रापञ्चिक मानते हैं, वे अविद्यावशतः संसार प्राप्त करते हैं। कर्म–जड़ पुरुषगण प्रायः इस प्रकारके सिद्धान्तके द्वारा कर्म–जड़तामें आबद्ध रहते हैं। साधुकी कृपाके अतिरिक्त विमल भक्ति उत्पन्न नहीं होती है॥४.९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥४.१०॥

अन्वय—वीतरागभयक्रोधा (राग, भय और क्रोधशून्य) मन्मया (मेरे एकचित्त) माम् उपाश्रिताः (मेरे शरणागत) [सन्तः—होकर] ज्ञानतपसा (ज्ञानरूपी तपस्या द्वारा) पूताः (पवित्र) [सन्तः—होकर] बहवः (अनेक भक्त) मद्भावम् (मेरी प्रेमाभक्ति) आगताः (प्राप्त किये हैं)॥४.१०॥

अनुवाद—मूर्ख व्यक्ति मेरे जन्म, कर्म और शरीरके चिन्मयत्व तथा विशुद्धत्वके विचारके सम्बन्धमें तीन प्रवृत्तियोंसे परिचालित होते हैं, यथा—दूसरी वस्तुमें राग, भय और क्रोध। जिनकी बुद्धि अत्यन्त जड़–बद्ध है, वे जड़–तत्त्वमें इतने दूर तक अनुरागका प्रकाश करते हैं कि चित्–तत्त्वके नामसे कोई नित्य वस्तु है—इसे स्वीकार ही नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वभावको ही परमतत्त्व कहते हैं। इनमें से कोई कोई जड़को ही नित्य कारण बताकर इसे चित्–तत्त्वके जनकके रूपमें निर्दिष्ट करते हैं। ये समस्त जड़वादी, स्वभाववादी या चैतन्यहीन विधिवादी अन्य (वस्तुमें) रागसे परिचालित होकर परमतत्त्वरूप चित्–रागसे शनैः शनैः वञ्चित हो जाते हैं।

कोई कोई विचारक चित्–तत्त्वको एक नित्य पदार्थके रूपमें स्वीकार तो करते हैं, किन्तु सहज ज्ञानका परित्यागकर सर्वदा युक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं। वे जड़में जितने भी प्रकारके गुण और कर्मोंको देखते हैं, असत् कहते हुये उन सबका सतर्कतापूर्वक परित्यागकर अस्फुट, जड़–विपरीतके नामसे एक अनिर्देश्य ब्रह्मकी कल्पना करते हैं। वह और कुछ नहीं, अपितु मेरी मायाका व्यतिरेक प्रकाशमात्र है। वह मेरा नित्य स्वरूप नहीं है। बादमें वे इस भयसे मेरे स्वरूपध्यान और स्वरूप–लिङ्गपूजाको छोड़ देते हैं कि कहीं इस ध्यान और चिन्तासे किसी प्रकारके जड़–धर्मका आश्रय न हो जाय। इस भयके कारण वे परमतत्त्वके स्वरूपसे वञ्चित हो जाते हैं। और कोई कोई जड़से अतीत किसी वस्तुको स्थिर (निर्दिष्ट) न कर पानेके कारण क्रोधाविष्ट चित्तसे शून्य और निर्वाणको ही परमतत्त्वके रूपमें स्थिर करते हैं। बौद्ध–जैनादि मत इससे ही उत्पन्न हुये हैं। इस प्रकार राग, भय और क्रोधसे रहित होकर मेरा ही सर्वत्र दर्शन करते हुये और भलीभाँति मेरे शरणागत होकर पूर्वोक्त ज्ञानको अङ्गीकारकर एवं पूर्वोक्त कुयुक्ति विषदाह सहनरूपी तापसे पवित्र होकर बहुतसे लोगोंने मेरे पवित्र प्रेमको प्राप्त किया है॥४.१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥४.११॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) ये (जो) यथा (जिस प्रकार) माम् (मुझे) प्रपद्यन्ते (भजते हैं) अहम् (मैं) तान् (उनको) तथा एव (उसी प्रकार) भजामि (भजता हूँ) [क्योंकि] मनुष्याः (सभी मनुष्य) सर्वशः (सब प्रकारसे) मम वर्त्म (मेरे पथका) अनुवर्त्तन्ते (अनुसरण करते हैं)॥४.११॥

अनुवाद—जो व्यक्ति जिस भावसे मेरे प्रति अनन्य भक्ति स्वीकार करते हैं, मैं उनका उसी भावसे भजन करता हूँ। सभी मतोंका चरम उद्देश्यस्वरूप मैं, सबको ही प्राप्य हूँ। जो शुद्धभक्त हैं, वे परमधाममें मेरे सच्चिदानन्द विग्रहकी नित्यकाल सेवाकर परमानन्दको प्राप्त करते हैं। जो निर्विशेषवादी हैं, मैं उनको (उनके) आत्मविनाश द्वारा निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप निर्वाण—मुक्ति प्रदान करता हूँ। मेरे सच्चिदानन्द विग्रहके नित्यत्त्वको नहीं स्वीकार करनेके कारण उनके चिदानन्द स्वरूपका लोप हो जाता है। उनमें—से निष्ठाभेदके अनुसार किसी—किसीको नश्वर जन्म भी प्रदान करता हूँ। जो शून्यवादी हैं, मैं शून्यस्वरूप होकर उनकी सत्ताको शून्यगत कर देता हूँ। जो जड़, जड़कर्म अथवा जड़विधिवादी हैं, उनकी आत्माको आच्छादित चेतनरूपमें जड़प्राय बनाकर जड़रूपमें ही उनको प्राप्य होता हूँ। जो योगी हैं, उनके निकट मैं ईश्वरके रूपमें विभूति प्रदान करता हूँ अथवा कैवल्य दान करता हूँ। इस प्रकार सर्वस्वरूप होकर मैं सभी मतवादियोंके लिए प्राप्य होता हूँ। परन्तु, इन सभीमें मेरी सेवा—प्राप्तिको ही प्रधान समझना चाहिए। मनुष्यमात्र ही मेरे विविध पथका अनुसरण करते हैं॥४.११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥४.१२॥

अन्वय—कर्मणाम् (कर्मोंके) सिद्धि (फलकी) काङ्क्षन्तः (अभिलाषा करनेवाले) इह (इस) मानुषे लोके (मनुष्य लोकमें) देवताः (देवताओंकी) यजन्ते (पूजा करते हैं) हि (क्योंकि) कर्मजा (कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला) सिद्धिः (फल) क्षिप्रम् (शीघ्र) भवति (प्राप्त होता है)॥४.१२॥

अनुवाद—अर्जुनके प्रश्नोत्तरमें अपने स्वरूप और सम्बन्ध विष्यक तत्त्वको स्पष्ट रूपमें बोलकर श्रीभगवान् पुनः क्रमानुसार पूर्व—प्रस्तावित कर्म—तत्त्वके विचारका उपदेश देने लगे। हे अर्जुन! मैंने पहले ही बताया है कि कर्म—तत्त्वको अच्छी तरह समझनेसे कर्मबन्धन दूर होता है। मैंने यह भी बताया है कि विकर्म

और अकर्म परित्यज्य हैं। केवल कर्म ही अवस्थानुसार ग्राह्य है। यह कर्म भी तीन प्रकार का है—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इसमें कर्मसिद्धिके लिए मनुष्य फलकामी होकर विविध देवताओंकी उपासना करते हैं। इसके द्वारा मनुष्य लोकमें कर्मका फल अतिशीघ्र प्राप्त होता है। अकर्म और विकर्म की अपेक्षा काम्य कर्म भी अच्छा है। इस नश्वर संसारकी उन्नतिकी कामनासे मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं, उससे उस–उस कर्मफलको देनेवाले क्षुद्र–क्षुद्र देवतागण सन्तुष्ट होकर शीघ्र ही फल प्रदान करते हैं। वे देवतागण कौन हैं—इसे मैं तुम्हें क्रमशः बताऊँगा॥४.१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥४.१३॥

अन्वय—गुणकर्मविभागशः (गुण और कर्मके विभागानुसार) चातुर्वर्ण्यम् (ब्राह्मणादि चार प्रकारके वर्ण) मया (मेरे द्वारा) सृष्टम् (सृष्ट हुये हैं) तस्य (उसका) कर्त्तारम् अपि (कर्त्ता होनेपर भी) अव्ययम् माम् (मुझ अविनाशीको) अकर्त्तारम् (अकर्त्ता ही) विद्धि (जानो)॥४.१३॥

अनुवाद—गुण–कर्म विभागपूर्वक मैंने ही चारों वर्णोंका सृजन किया है। मेरे अतिरिक्त जगतमें कोई कर्त्ता नहीं है, अतएव सभी वर्णों और वर्णधर्मोंका कर्त्ता मेरे सिवाय और कोई नहीं है। किन्तु वर्णधर्मका कर्त्ता होनेपर भी मुझे अकर्त्ता और अव्यय (अविनाशी) के रूपमें ही जानना होगा। अपनी माया शक्तिके द्वारा मैंने इस वर्णधर्मकी सृष्टि की है। वस्तुतः चित्–शक्तिके अधीश्वर मुझको कर्ममार्गकी सृष्टि द्वारा वैषम्य नहीं होता है। जीवके अदृष्ट अर्थात् स्वातन्त्र्य–धर्मका अपव्यवहार ही इसका कारण है॥४.१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥४.१४॥

अन्वय—कर्माणि (समस्त कर्म) माम् (मुझे) न लिम्पन्ति (लिप्त नहीं करते) [हि—क्योंकि] कर्मफले (कर्मफलमें) मे (मेरी) न स्पृहा (स्पृहा नहीं है) इति (इस प्रकार) यः (जो) माम् (मुझे) अभिजानाति (तत्त्वतः जान लेते हैं) सः (वे) कर्मभिः (कर्मोंसे) न बध्यते (आबद्ध नहीं होते हैं)॥४.१४॥

अनुवाद—जीवके अदृष्टवशतः मैंने जो कर्मतत्त्व सृष्ट किया है, वह मुझे नहीं लिप्त कर सकता है। कर्मफलमें भी मेरी स्पृहा नहीं है, क्योंकि मैं षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हूँ, अतः यह अतितुच्छ कर्मफल मेरे लिए नितान्त अकिञ्चित्कर हैं।

जीवके कर्ममार्ग और मेरी स्वतन्त्रताका विचार करते हुये, जो मेरे अव्यय तत्त्वसे अवगत हो सकते हैं, वे कभी भी कर्मसे बद्ध नहीं होते हैं। वे शुद्ध भक्तिका आचरणकर मुझे ही प्राप्त करते हैं॥४.१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥४.१५॥

अन्वय—पूर्वैः (पूर्वकालीन) मुमुक्षुभिः अपि (मुमुक्षुगणके द्वारा भी) एवं ज्ञात्वा (ऐसा ही जानकर) कर्म कृतम् (लोक–प्रवर्त्तनके लिए कर्म किये गये हैं) तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) [अपि—भी] पूर्वैः (प्राचीन पुरुषोंके द्वारा) पूर्वतरम् कृतम् (पुरातनकालमें अनुष्ठित) कर्म एव (कर्म ही) कुरु (करो)॥४.१५॥

अनुवाद—पूर्व–पूर्व मुमुक्षुगण इसी तत्त्वसे अवगत होकर सकाम कर्मका परित्यागकर मदर्पित (मेरे अर्पित) निष्काम–कर्मका अनुष्ठान किया है। अतएव तुम भी जनकादि पूर्व महाजनोंके द्वारा अनुष्ठित इस निष्काम–कर्मका ही अवलम्बन करो॥४.१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥४.१६॥

अन्वय—किम् कर्म (कर्म क्या है) किम् अकर्म (अकर्म क्या है) इति अत्र (इस विषयमें) कवयः अपि (विवेकी पुरुष भी) मोहिताः (मोहित होते हैं) ते (तुम्हें) तत् कर्म (वह कर्म–तत्त्व) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अशुभात् (कर्म–बन्धनसे) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे)॥४.१६॥

अनुवाद—किसे कर्म कहते हैं और किसे अकर्म कहते हैं—इसे निश्चित करनेमें बुद्धिमानोंको भी मोह (भ्रम) हो जाता है। मैं तुम्हें उसी विषयमें उपदेश दे रहा हूँ। तुम इससे अवगत होकर समस्त अशुभोंसे मोक्ष प्राप्त करो॥४.१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥४.१७॥

अन्वय—कर्मणः अपि (कर्म भी) बोद्धव्यम् (जानना चाहिए) विकर्मणः च (और विकर्म भी) बोद्धव्यम् (जानना चाहिए) अकर्मणः च (तथा अकर्म भी) बोद्धव्यम् (जानना चाहिए) हि (क्योंकि) कर्मणः (कर्मका) गतिः (तत्त्व) गहन (अतिशय दुर्गम है)॥४.१७॥

अनुवाद—कर्मकी गति, विकर्मकी गति और अकर्मकी गति का पृथक्–पृथक् विचार करना कर्त्तव्य है। कर्मका निगूढ़ तत्त्व अतिशय दुर्गम है। कर्त्तव्यका

आचरण ही 'कर्म' है, निषिद्धका आचरण ही विकर्म है और यह दुर्गति प्राप्त करानेवाला है। कर्मका न करना ही 'अकर्म' है। कर्मके नहीं करनसे निःश्रेयस (कल्याण) प्राप्त होता है—इसका तत्त्व जानना उचित है॥४.१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥४.१८॥

अन्वय—यः (जो) कर्मणि (कर्ममें) अकर्म (अकर्म) च (एवं) अकर्मणि (अकर्ममें) कर्म (कर्म) पश्येत् (देखते हैं) सः (वे) मनुष्येषु (मनुष्योंमें) बुद्धिमान् (बुद्धिमान् हैं) सः (वे) युक्तः (योगी) कृत्स्न कर्मकृत (समस्त कर्मोंके कर्त्ता हैं)॥ ४.१८॥

अनुवाद—जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मका दर्शन करते हैं, वे ही मनुष्योंमें बुद्धिमान, युक्त (योगी) एवं सम्पूर्ण कर्मोंके अनुष्ठाता हैं। तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्मयोगीके समस्त कर्म ही कर्म-संन्यासरूप अकर्म है एवं कर्म-त्याग ही उनका निष्काम कर्मानुष्ठान है अर्थात् समस्त कर्मोंको करने पर भी वे कर्मी नहीं हैं, उनके अकर्म और कर्मका एक ही स्वरूप है॥४.१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥४.१९॥

अन्वय—यस्य (जिनके) सर्वे समारम्भाः (सभी कर्म) कामसङ्कल्पवर्जिताः (कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं) [च—तथा] ज्ञानाग्नि-दग्धकर्माणम् (ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध हो गये हैं) तम् (उनको) बुधाः (ज्ञानिजन) पण्डितम् (पण्डित) आहुः (कहते हैं)॥४.१९॥

अनुवाद—जिनके काम-सङ्कल्पशून्य समस्त कर्म भलीभाँति अनुष्ठित होते हैं, वे ज्ञानकी अग्नि-द्वारा दग्धकर्मा और पण्डित कहे जाते हैं। वे शास्त्रविहित या निषिद्ध जो कुछ करते हैं, वे सभी निष्काम कर्मयोगसे प्राप्त ज्ञानकी अग्निके द्वारा भस्मीभूत हो जाते हैं॥४.१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥४.२०॥

अन्वय—[यः—जो] कर्मफलासङ्गम् (कर्मफलमें आसक्तिका) त्यक्त्वा (परित्यागकर) नित्यतृप्तः (अपने नित्य आनन्दमें परितृप्त हैं) निराश्रयः (योगक्षेमके लिए आश्रयकी अपेक्षा नहीं करते हैं) सः (वे) कर्मणि (कर्ममें) अभिप्रवृत्तः

(भलीभाँति प्रवृत्त होकर) किञ्चित् एव (कुछ भी) न करोति (नहीं करते हैं)॥ ४.२०॥

अनुवाद—जो योग और क्षेमके लिए आश्रयरहित और निज आनन्दमें परितृप्त होकर कर्मफलमें आसक्तिका परित्याग करते हुये समस्त कर्मोंमें अभिप्रवृत्त होते हैं, वे समस्त कर्मोंको करने पर भी कुछ नहीं करते हैं अर्थात् इन समस्त कर्मफलोंमें आबद्ध नहीं होते हैं॥४.२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४.२१॥

अन्वय—निराशीः (जो कामनाशून्य हैं) यतचित्तात्मा (जिनके चित्त और देह संयत हैं) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (सभी प्रकारके भोग–सामग्रियोंका परित्याग कर चुके हैं) केवलम् (केवल) शारीरम् (शरीरकी रक्षाके लिए) कर्म कुर्वन् (कर्म करते हुये) किल्बिषम् न आप्नोति (पापग्रस्त नहीं होते हैं)॥४.२१॥

अनुवाद—वे अपने शरीर और चित्तको बुद्धिके अधीन रखकर फलकी आशा और समस्त परिग्रह अर्थात् संग्रहकी चेष्टाका त्याग करते हुये केवल शरीरयात्राके निर्वाहके लिए कर्म करते हैं, इससे उन्हें कर्मसे उत्पन्न पाप या पुण्य कुछ भी नहीं होता है॥४.२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥४.२२॥

अन्वय—[यः—जो] यदृच्छालाभसन्तुष्टः (अयाचित प्राप्त द्रव्यसे परितुष्ट) द्वन्द्वातीतः (शीत–उष्णादि द्वन्द्व विषयोंमें सहनशील) विमत्सरः (मत्सरतारहित) सिद्धौ असिद्धौ च (सिद्धि एवं असिद्धिमें) समः (समभाव हैं) [सः—वे] कृत्वा अपि (कर्म करनेपर भी) न निबध्यते (बन्धन प्राप्त नहीं होते हैं)॥४.२२॥

अनुवाद—अनायास ही जो प्राप्त होता है, वे उससे सन्तुष्ट रहते हैं। सुख–दुःख, राग–द्वेष इत्यादि द्वन्द्वके वशीभूत नहीं होते हैं, मात्सर्यको दूर रखते हैं, कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धिसम्पन्न रहते हैं। अतएव वे जो भी कर्म करते हैं, उससे स्वयं बद्ध नहीं होते हैं॥४.२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥४.२३॥

अन्वय—गतसङ्गस्य (आसक्तिरहित) मुक्तस्य (मुक्त) ज्ञानस्थितचेतसः (ज्ञानमें स्थित चित्तवाले पुरुषोंके) यज्ञाय (परमेश्वरकी आराधनाके लिए) आचरतः (कर्मका

आचरण करनेवाले पुरुषके) समग्रम् (सम्पूर्ण) कर्म (कर्म) प्रविलीयते (भलीभाँति विलीन हो जाते हैं)॥४.२३॥

अनुवाद—निःसङ्ग, मुक्त, ज्ञानमें अवस्थित चित्तवाले पुरुषका यज्ञके लिए जो कर्म आचरित होता है, प्रकृष्ट रूपसे उसका लय हो जाता है। कर्म–मीमांसकगण जिसे 'अपूर्व' कहते हैं, निष्काम कर्मयोगीके समस्त कर्म उस अपूर्वताको प्राप्त नहीं होते हैं। कर्म–मीमांसक जैमिनीका मत यह है कि पुरुषके द्वारा किये गये कर्म 'अपूर्व' स्वरूप प्राप्त होकर जन्म–जन्मान्तरमें फल प्रदान करते हैं। निष्काम कर्मयोगीके पक्षमें यह असम्भव है॥४.२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥४.२४॥

अन्वय—[जिस यज्ञमें] अर्पणम् (अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि) ब्रह्म (ब्रह्म हैं) हविः ब्रह्म (घृतादि हवन सामग्रियाँ भी ब्रह्म हैं) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्म ही अग्नि है, उसमें) ब्रह्मणा (ब्रह्मरूप होताके द्वारा) हुतः (आहुति भी ब्रह्म है) तेन ब्रह्मकर्म समाधिना (ब्रह्मरूप कर्ममें एकाग्रचित्त उस व्यक्तिके द्वारा) ब्रह्म एव (ब्रह्म ही) गन्तव्यम् (प्राप्त किये जाने योग्य है)॥४.२४॥

अनुवाद—यज्ञरूप कर्मसे किस प्रकार ज्ञानका उदय होता है, उसे श्रवण करो। यज्ञ जितने प्रकारके होते हैं, उसे बादमें बता रहा हूँ, अभी यज्ञके मूलतत्त्वके विषयमें बता रहा हूँ, श्रवण करो। जड़बद्ध जीवके लिए जड़कार्य अनिवार्य हैं। उस जड़कार्यमें जितने परिमाणमें चित्–तत्त्वकी आलोचना हो सकती है, उसे भलीभाँति करनेका नाम 'यज्ञ' है। जड़में चिद्भावके आविर्भूत होनेपर उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। वह ब्रह्म मेरी ही ज्योति या किरण है। चित्–तत्त्व समस्त जड़–जगत्से विलक्षण है। जब अर्पण, हविः, अग्नि, होता और फल—ये पाँचों ब्रह्मके अधिष्ठान होते हैं, तब यथार्थ यज्ञ होता है। कर्मको ब्रह्मस्वरूप बनाते हुये कर्ममें ही जिनकी एकाग्रचित्तरूपी समाधि होती है, वे अपने समस्त कर्मोंका अनुष्ठान यज्ञके रूपमें करते हैं। उनके अर्पण, हविः, अग्नि, होता अर्थात् स्वसत्ता—ये सभी ब्रह्मात्मक हैं, अतः उनकी गति भी 'ब्रह्म' है॥४.२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥४.२५॥

अन्वय—अपरे (अन्य) योगिनः (कर्मयोगिगण) दैवम् एव यज्ञम् (देवताओंके यज्ञकी) पर्युपासते (भलीभाँति उपासना करते हैं) अपरे (अन्य अर्थात् ज्ञानयोगिगण)

ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूप अग्निमें) यज्ञेन एव (यज्ञके द्वारा ही) यज्ञम् (यज्ञको) उपजुह्वति (आहुति प्रदान करते हैं)॥४.२५॥

अनुवाद—इस प्रकार जो यज्ञके लिए व्रती होते हैं, वे योगी हैं। यज्ञके प्रकार–भेदसे योगी भी अनेक प्रकारके हैं। जितने प्रकारके यज्ञ हैं, उतने प्रकारके योगी भी हैं। इस प्रकार भिन्न–भिन्न रूपोंमें देखनेसे यज्ञ और योगी अनेक प्रकारके होते हैं। परन्तु, विज्ञानपूर्वक विभाग करनेसे समस्त यज्ञ ही कर्मयज्ञ या द्रव्यमययज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ या चित्–आलोचनारूप यज्ञ—इन दो भागोंमें विभक्त होते हैं, इसे बादमें बताऊँगा। अभी कुछ–एक प्रकारके यज्ञोंके विषयमें बता रहा हूँ, श्रवण करो। कर्मयोगीगण देवयज्ञकी उपासना करते हैं, उसमें इन्द्र–वरुणादि रूपमें मेरे मायिक सामर्थ्यविशिष्ट अधिकृत पुरुषोंका यजन होता है, इसके द्वारा भी वे क्रमशः निष्काम कर्मयोगको प्राप्त करते हैं। ज्ञानयोगीगण 'प्रणव' रूप मन्त्रके द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य अवलम्बनपूर्वक 'ब्रह्म', जो कि 'तत्' पदार्थ है, उसमें 'त्वं' अर्थात् जीव पदार्थका होम करते हैं। इसकी श्रेष्ठता बादमें कही जाएगी॥४.२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥४.२६॥

अन्वय—अन्ये (नैष्ठिक ब्रह्मचारीगण) संयमाग्निषु (मनः संयमरूपी अग्निमें) श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि (कर्ण आदि इन्द्रियोंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं) अन्ये (गृहस्थ) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूप अग्निमें) शब्दादीन् विषयान् (शब्दादि विषयोंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं)॥४.२६॥

अनुवाद—नैष्ठिक ब्रह्मचारीगण मनः संयमरूपी अग्निमें कर्णादि इन्द्रियोंको होम करते हैं। गृहस्थ लोग शब्दादि विषयसमूहको इन्द्रियरूपी अग्निमें होम करते हैं॥४.२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥४.२७॥

अन्वय—अपरे (अन्य योगिगण) ज्ञानदीपिते (ज्ञान द्वारा प्रकाशित) आत्मसंयम योगाग्नौ (आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें) सर्वाणि–इन्द्रियकर्माणि (सभी इन्द्रियोंकी क्रियाओंकी) प्राणकर्माणि च (और प्राणोंकी क्रियाओंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं)॥४.२७॥

अनुवाद—प्रत्यगात्मा (ब्रह्म या जीवात्मा या परमात्मा) का अनुसन्धान करनेवाले कैवल्यवादी पातञ्जल आदि योगिगण समस्त इन्द्रियोंके कर्म और दस

प्रकारके प्राणोंके कर्मोंको 'त्वं' पदार्थस्वरूप शुद्धजीवात्मरूप अग्निमें होम करते हैं। विषयकी ओर अभिमुख आत्माका ही नाम 'परागात्मा' एवं विषयत्यागी आत्मका ही नाम 'प्रत्यगात्मा' है। ये लोग ऐसा सिद्धान्त करते हैं कि एक प्रत्यगात्माके अतिरिक्त मन आदि कुछ भी नहीं हैं॥४.२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥४.२८॥

अन्वय—[केचित्—कोई कोई] द्रव्ययज्ञाः (द्रव्यदानरूप यज्ञ करते हैं) [केचित्—कोई कोई] तपोयज्ञाः (तपस्यारूप यज्ञ करते हैं) [केचित्—कोई कोई] योगयज्ञाः (योगरूप यज्ञ करते हैं) अपरे (और कुछ अन्य) स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः (वेदपाठ और इसके ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं) [एते सर्वे—ये सभी] यतयः (प्रत्यत्नशील व्यक्ति) संशितव्रताः (तीक्ष्णव्रत करनेवाले हैं)॥४.२८॥

अनुवाद—इन सभी यज्ञोंको चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—द्रव्यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ एवं स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ। द्रव्योंसे सम्बन्धित यज्ञको 'द्रव्ययज्ञ', कृच्छ चान्द्रायण और चातुर्मास्यादि व्रतको 'तपोयज्ञ' अष्टाङ्गयोगको 'योगयज्ञ' और वेदार्थ विचारपूर्वक चित्-अचित् विचारको 'ज्ञानयज्ञ' कहा जाता है। इन चारों प्रकारके यज्ञके लिए यत्नशील व्यक्तिको 'तीक्ष्णव्रत यति' कहा जाता है॥४.२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥४.२९॥

अन्वय—अपरे (प्राणायामनिष्ठ व्यक्ति) अपाने (अपान वायुमें) प्राणम् (प्राणवायुकी) जुह्वति (आहुति देते हैं) तथा (इसी प्रकार) प्राणे (प्राणवायुमें) अपानम् (अपान वायुकी) [जुह्वति—आहुति देते हैं] प्राण-अपान-गती (प्राण और अपानकी गति) रुद्ध्वा (रोककर) प्राणायाम परायणाः (प्राणायामपरायण होते हैं) अपरे (कोई-कोई) नियताहाराः (आहारसंयमी) प्राणेषु (प्राणोंमें) प्राणान् (प्राणोंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं)॥४.२९॥

अनुवाद—वेदशास्त्र और उसके अनुगत स्मृतिशास्त्रमें ये चार प्रकारके यज्ञ लक्षित होते हैं। इसके अतिरिक्त समयानुसार वेदके अर्थके विस्तृत रूप तन्त्रादि शास्त्रोंमें हठयोग और नाना प्रकारके संयम-व्रतरूपी योगोंका उपदेश दिया गया है। इसके अनुगत पुरुष प्राणायामनिष्ठ होकर अपानवायुमें प्राणवायुको और प्राणवायुमें अपानवायुको रुद्ध करते हैं तथा क्रमशः प्राणवायु एवं अपान वायुके गतिरोध द्वारा

कुम्भकका अभ्यास करते हैं। कोई–कोई आहार घटाकर सभी प्राणोंको होम करते हैं॥४.२९॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥४.३०॥

अन्वय—एते सर्वे अपि (ये सभी) यज्ञविदः (यज्ञके ज्ञाता हैं) यज्ञक्षयितकल्मषाः (यज्ञके द्वारा पापरहित होकर) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञके अवशेषरूप अमृतका भोगकर) सनातनम् ब्रह्म (सनातन ब्रह्मको) यान्ति (प्राप्त होते हैं)॥४.३०॥

अनुवाद—ये सभी यज्ञतत्त्वविद् हैं और यज्ञ द्वारा पापरहित होकर यज्ञके अवशिष्ट अमृतका भोजनकर बादमें पूर्वोक्त सनातन ब्रह्मको प्राप्त करते हैं॥४.३०॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥४.३१॥

अन्वय—कुरुसत्तम (हे कुरुश्रेष्ठ!) अयज्ञस्य (यज्ञ न करनेवालेको) न अयम् लोकः [अपि] (यह अल्प सुखविशिष्ट मनुष्यलोक भी नहीं है) अन्यः (अन्य देवादिलोक) कुतः [प्राप्तव्यः] (किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं)॥४.३१॥

अनुवाद—अतएव हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ न करने– वालेके लिए इहलोककी ही प्राप्ति सम्भव नहीं है, तो परलोक–प्राप्ति किस प्रकार सम्भव होगी? अतएव यज्ञ ही कर्त्तव्य कर्म है। इससे यही समझना चाहिए कि स्मार्त–वर्णाश्रम, अष्टाङ्गयोग एवं वैदिक योगादि सभी 'यज्ञ' हैं। ब्रह्मज्ञान भी यज्ञविशेष है। यज्ञके अतिरिक्त जगत्में और कुछ कर्म नहीं है और यदि कुछ है, तो वह विकर्म है॥४.३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥४.३२॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) ब्रह्मणः मुखे (वेद द्वारा) बहुविधाः (अनेक प्रकारके यज्ञ) विततः (विस्तृत रूपमें वर्णित हुये हैं) तान् सर्वान् (उन सबको) कर्मजान् (कर्मजनित) विद्धि (जानो) एवं (इस प्रकार) ज्ञात्वा (जानकर) विमोक्ष्यसे (मुक्ति प्राप्त करोगे)॥४.३२॥

अनुवाद—ये समस्त प्रकारके यज्ञ या तो वेदमें वर्णित हैं या वेदके अनुगत अन्य शास्त्रोंमें वर्णित हैं। ये सभी तन–मन–वचनके कर्मसे जनित हैं, अतएव कर्मज हैं। इस प्रकार कर्मतत्त्वका विचार करनेमें समर्थ होनेपर तुम कर्मबन्धनसे मुक्ति लाभ कर सकोगे॥४.३२॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥४.३३॥

अन्वय—परन्तप पार्थ (हे परन्तप पार्थ!) ज्ञानयज्ञः (ज्ञानयज्ञ) द्रव्यमयात् यज्ञात् (द्रव्यमय यज्ञसे) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) सर्वम् कर्म (समस्त कर्म) अखिलम् ज्ञाने (अव्यर्थरूप ज्ञानमें) परिसमाप्यते (समाप्त होते हैं)॥४.३३॥

अनुवाद—यद्यपि इन समस्त यज्ञोंसे क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति और बादमें शान्तिकी प्राप्ति एवं अन्तमें मुक्ति–लाभरूपी जीवोंका मङ्गल उदित होता है, तथापि इन यज्ञोंके सम्बन्धमें एक निगूढ़ विचार है, वही ज्ञातव्य है। निष्ठाके भेदसे उक्त यज्ञ समुदायमें कभी केवल द्रव्यमय यज्ञ होता है, कभी ज्ञानमय यज्ञ होता है। ज्ञानमय यज्ञ द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। हे पार्थ! समस्त कर्म ही ज्ञानमें परिसमाप्ति लाभ करते हैं। जब अनुष्ठित होते–होते समस्त यज्ञ चिदालोचनासे रहित हो जाते हैं, तभी समस्त व्यापार केवल द्रव्यमय होते हैं। जब चिदालोचनाका क्रम चलता रहता है, तब वस्तुतः द्रव्यमय होकर भी ये चिन्मय अथवा ज्ञानमय हो जाते हैं। यज्ञकी केवल द्रव्यमय अवस्थाको 'कर्मकाण्ड' कहा जाता है। यज्ञ कार्यके अनुष्ठानमें इससे विशेष सतर्क रहना पड़ता है॥४.३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥४.३४॥

अन्वय—प्रणिपातेन (ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुके निकट दण्डवत् प्रणाम द्वारा) परिप्रश्नेन (सङ्गत प्रश्न द्वारा) सेवया (सेवा द्वारा) तत् (उस ज्ञानको) विद्धि (समझो) तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः (तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण) ते (तुम्हें) ज्ञानम् (ज्ञानका) उपदेक्ष्यन्ति (उपदेश देंगे)॥४.३४॥

अनुवाद—यदि तुम कहो कि इस द्रव्यमय और ज्ञानमय यज्ञके भेदका विचार मेरे लिए कठिन है, तो मेरा उपदेश यह है कि तुम भेद विचारपूर्वक यह ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तत्त्वदर्शी गुरुका आश्रय ग्रहण करो। तुम उन तत्त्वदर्शी गुरुको दण्डवत् प्रणामपूर्वक और अकृत्रिम सेवाके द्वारा सन्तुष्टकर इस तत्त्वके विषयमें जिज्ञासा करो, वे तुम्हें ज्ञानका उपदेश देंगे॥४.३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥४.३५॥

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव!) यत् (जिस ज्ञानको) ज्ञात्वा (जानकर) पुनः (पुनः) एवं मोहम् (इस प्रकार मोहको) न यास्यसि (नहीं प्राप्त करोगे) येन

(जिस ज्ञानसे) अशेषाणि भूतानि (निखिल जीवोंको) आत्मनि (आत्मामें) अथो मयि (अनन्तर मुझ परमात्मामें) द्रक्ष्यसि (दर्शन करोगे)॥४.३५॥

अनुवाद—अभी तुम मोहके कारण युद्धरूप स्वधर्मको त्यागनेकी चेष्टा कर रहे हो। गुरुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके बाद तुम और मोहका आश्रय ग्रहण नहीं करोगे। उस तत्त्वज्ञानके द्वारा तुम यह जान पाओगे कि मनुष्य, पशु–पक्षी इत्यादि समस्त प्राणी एक जीवात्मरूप तत्त्वमें अवस्थित हैं, उपाधि द्वारा उनका जड़ीय तारतम्य घटित हुआ है। वे जीवसमुदाय परम कारणरूप भगवत्–स्वरूप मुझमें शक्तिकार्यके रूपमें रहते हैं॥४.३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥४.३६॥

अन्वय—चेत् (यदि) सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि (समस्त पापियोंकी अपेक्षा भी) पापकृत्तमः (अतिशय पाप करनेवाला) असि (हो) [तथापि—तो भी] ज्ञानप्लवेन एव (ज्ञानरूपी नौकाका आश्रयकर) सर्वम् वृजिनम् (सम्पूर्ण पापसमुद्रसे) सन्तरिष्यसि (भलीभाँति तर जाओगे)॥४.३६॥

अनुवाद—यद्यपि तुम अत्यन्त पापाचारी हो, तथापि इस ज्ञानपोतपर चढ़कर तुम समस्त दुःख–समुद्रको पार कर जाओगे॥४.३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥४.३७॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यथा (जिस प्रकार) समिद्धः अग्निः (प्रज्वलित अग्नि) एधांसि (काष्ठादि इन्धनको) भस्मात् कुरुते (भस्म कर देता है) तथा (उसी प्रकार) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूप अग्नि) सर्वकर्माणि (समस्त कर्मोंको) भस्मात् कुरुते (भस्म कर देता है)॥४.३७॥

अनुवाद—जैसे प्रबल रूपमें ज्वलित अग्नि काष्ठादिको जलाकर भस्म कर देती है, हे अर्जुन! वैसे ही ज्ञानाग्नि भी समस्त कर्मोंको दग्ध कर देती है॥ ४.३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥४.३८॥

अन्वय—इह (इस लोकमें) ज्ञानेन सदृशम् (ज्ञानके सदृश) पवित्रम् (पवित्र) न हि (और कुछ भी नहीं है) तत् (उस ज्ञानको) कालेन (काल–क्रमसे)

योगसंसिद्धः (निष्काम कर्मयोगमें सम्यक् सिद्ध व्यक्ति) स्वयम् (स्वयं ही) आत्मनि (अपने हृदयमें) विन्दति (प्राप्त करते हैं)॥४.३८॥

अनुवाद—ज्ञान अर्थात् चिन्मय-तत्त्वके समान पवित्र पदार्थ इस संसारमें और कुछ नहीं है। तुम अपने आत्मामें निष्काम-कर्मयोगके फलस्वरूप उस ज्ञानको काल-क्रमसे प्राप्त करोगे। इस वाक्यसे यही समझो कि शान्ति ही ज्ञानका फल है जो कि ज्ञानसे श्रेष्ठ है। 'ज्ञानके समान पवित्र और कुछ नहीं है'—इसे कहनेसे यह नहीं बताया गया कि ज्ञानसे उत्कृष्ट तत्त्व ही नहीं है॥४.३८॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥४.३९॥

अन्वय—श्रद्धावान् (श्रद्धावान्) तत्परः (साधनपरायण) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) ज्ञानम् (ज्ञानको) लभते (प्राप्त करते हैं) ज्ञानम् लब्ध्वा (ज्ञानको प्राप्तकर) अचिरेण (शीघ्र ही) पराम् शान्तिम् (संसारक्षयरूपी परम शान्ति) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)॥४.३९॥

अनुवाद—जितेन्द्रिय और तत्पर होकर श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान लाभ करते हैं। जिनकी निष्काम-कर्मयोगमें श्रद्धा नहीं है, वे व्यक्ति इसके अधिकारी नहीं है। श्रद्धासहित निष्काम-कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे वे अति शीघ्र पराशान्ति प्राप्त करते हैं। 'पराशान्ति' किसे कहा जाता है, यह बता रहा हूँ॥४.३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४.४०॥

अन्वय—अज्ञः (अज्ञ) अश्रद्धधानः च (और श्रद्धाविहीन) संशयात्मा च (एवं संशययुक्त व्यक्ति) विनश्यति (विनाशको प्राप्त होता है) संशयात्मनः (संशययुक्त व्यक्तिके लिए) न (न) अयम् लोक (यह लोक है) न परः (न पर लोक है) न सुखम् अस्ति (न सुख है)॥४.४०॥

अनुवाद—कर्मतत्त्वसे अनभिज्ञ और अश्रद्धालु व्यक्ति सर्वदा संशयात्मा होते हैं। ऐसे लोगोंका मङ्गल नहीं होता है। उन्हें इस लोक या परलोकमें सुख नहीं मिलता है, क्योंकि संशयरूपी दुःख ही उनकी शान्तिको नष्ट कर देता है॥४.४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥४.४१॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) योगसंन्यस्त कर्माणम् (जिन्होंने निष्काम कर्मयोगके द्वारा संन्यासविधिसे कर्मत्याग किया है) ज्ञान संछिन्नसंशयम् (ज्ञानके

द्वारा संशयका नाश कर लिया है) आत्मवन्तम् (आत्मस्वरूपको उपलब्ध किया है) [उन्हें] कर्माणि (कर्मसमूह) न निबध्नन्ति (नहीं बाँधते हैं)॥४.४१॥

अनुवाद—अतएव हे धनञ्जय! जो निष्काम–कर्मयोग द्वारा कर्म–संन्यास करते हैं, ज्ञान द्वारा संशय नाश करते हैं और आत्माके चिन्मय स्वरूपसे अवगत हैं, उन्हें कोई कर्म आबद्ध नहीं करता है॥४.४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४.४२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'ज्ञानयोगो' नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

अन्वय—तस्मात् (अतएव) भारत (हे भारत!) आत्मनः (अपने) अज्ञानसम्भूतम् (अज्ञानसे उत्पन्न) संशयम् (संशयको) ज्ञानासिना (ज्ञानरूपी तलवारसे) छित्वा (छेदकर) योगम् (निष्काम कर्मयोगका) आतिष्ठ (आश्रयकर) उत्तिष्ठ (युद्धके लिए खड़े हो जाओ)॥४.४२॥

अनुवाद—अतएव हे भारत! निष्काम कर्मयोगके विषयमें तुम्हारा जो संशय हुआ है, वह अज्ञानसे उत्पन्न है। उसका तुम ज्ञानरूपी खड्गसे छेदन करो और निष्काम कर्मयोगका आश्रय लेते हुये युद्ध करो॥४.४२॥

चतुर्थ अध्याय समाप्त

पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चम अध्याय (कर्मसंन्यासयोग)

अर्जुन उवाच—
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥५.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) [त्वम्—आप] कर्मणाम् (कर्मोंके) संन्यासम् (त्यागको) [कथयित्वा—कहकर] पुनः (पुनः) योगम् (कर्मयोगकी भी) शंससि च (प्रशंसा भी कर रहे हैं) एतयोः (इन दोनोंमें से) यत् (जो) एकम् (एक) मे (मेरे लिए) श्रेयः (मङ्गलजनक हो) तत् (उसे) सुनिश्चितम् (सुनिश्चितरूपमें) ब्रूहि (कहिए)॥५.१॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आपने कहा कि योग द्वारा कर्मत्याग करो एवं पुनः कहा कि ज्ञानके द्वारा संशय दूर करते हुये युद्धरूपी कर्म करो। अतएव मुझे निश्चितपूर्वक बतावें कि मैं कर्मत्याग और कर्मयोग इन दोनोंमें से क्या करूँ?॥५.१॥

श्रीभगवानुवाच—
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥५.२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) संन्यासः कर्मयोगः च (संन्यास और कर्मयोग) उभौ (दोनों ही) निःश्रेयस्कर (कल्याणकारी हैं) तु (किन्तु) तयोः (उन दोनोंमें) कर्मयोगः (निष्काम कर्मयोग ही) कर्मसंन्यासात् (कर्मसंन्याससे) विशिष्यते (श्रेष्ठ है)॥५.२॥

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले—संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मङ्गलजनक हैं। इनमें कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। कर्ममें आसक्तिके त्यागको ही 'संन्यास' कहा जाता है। वास्तवमें कर्मत्यागका उपदेश नहीं हुआ है॥५.२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥५.३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) यः न द्वेष्टि (जो किसीसे द्वेष नहीं करते हैं) न काङ्क्षति (न किसी वस्तुकी आकांक्षा करते हैं) सः (वे) नित्य संन्यासी ज्ञेयः (नित्य संन्यासी समझने योग्य हैं) हि (क्योंकि) निर्द्वन्द्वः (राग–द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित व्यक्ति ही) बन्धात् (संसार–बन्धनसे) सुखम् (अनायास) प्रमुच्यते (प्रकृष्टरूपसे मुक्त होते हैं)॥५.३॥

अनुवाद—हे महाबाहो! जो द्वन्द्वरहित हैं और कर्मफल के प्रति आकांक्षा या द्वेष नहीं करते हैं, वे ही नित्य संन्यासी हैं। वे ही परम सुखपूर्वक कर्मबन्धनसे मुक्ति प्राप्त करते हैं॥५.३॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥५.४॥

अन्वय—बालाः (अज्ञ व्यक्ति) साङ्ख्ययोगौ (सांख्य और कर्मयोगको) पृथक् (पृथक्–पृथक्) प्रवदन्ति (कहते हैं) पण्डिताः न (न कि पण्डितगण) एकम् अपि (एकका भी) सम्यक् आस्थितः (भलीभाँति आश्रय करनेवाले) उभयोः (दोनोंके) फलम् (मोक्ष फलको) विन्दते (प्राप्त करते हैं)॥५.४॥

अनुवाद—तुम्हें संन्यास और कर्मयोगका मूलतत्त्व कह रहा हूँ, श्रवण करो। अपण्डित औार मूढ़ मीमांसकगण ही सांख्ययोग और कर्मयोगको पृथक्–पृथक् पद्धतिके रूपमें प्रकाशित करते हैं, परन्तु पण्डितजन ऐसा नहीं कहते हैं। सांख्ययोग या कर्मयोगमेंसे किसीका भी सुष्ठुपूर्वक आचरण करो, उससे दोनोंका ही फल तुम प्राप्त करोगे॥५.४॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥५.५॥

अन्वय—साङ्ख्यैः (संन्यासके द्वारा) यत् (जो) स्थानम् (स्थान) प्राप्यते (प्राप्त किया जाता है) योगैः अपि (योगके द्वारा भी) तत् गम्यते (वही स्थान प्राप्त होता है) यः (जो) साङ्ख्यम् च योगम् च (सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगको) एकम् पश्यति (समान फलदायी देखते हैं) सः (वे) पश्यति (देखते हैं अर्थात् तत्त्वदर्शी हैं)॥५.५॥

अनुवाद—अतएव उक्त दोनों पद्धतियाँ एक ही हैं, केवल दोनोंके नाम ही भिन्न हैं। जो सांख्य और योगको 'एक' समझते हैं, वे ही उनके तत्त्वको जानते हैं॥५.५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥५.६॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) अयोगतः (निष्काम कर्मयोगके बिना) संन्यासः (संन्यास) दुःखम् आप्तम् (दुःखदायी है) तु (किन्तु) योगयुक्तः (निष्काम कर्मवान्) मुनिः (ज्ञानी) [सन्—होकर] न चिरेण (शीघ्र ही) ब्रह्म (ब्रह्मको) अधिगच्छति (प्राप्त होते हैं)॥५.६॥

अनुवाद—हे महाबाहो! कर्मयोगके बिना केवल कर्मत्यागरूपी संन्यास दुःखजनक होता है। किन्तु, योगयुक्त मुनि बिना किसी क्लेशके ही ब्रह्मको प्राप्त करते हैं॥५.६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥५.७॥

अन्वय—योगयुक्तः (निष्काम कर्मयोगी) विशुद्धात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाला) विजितात्मा (जिन्होंने बुद्धिको वशमें कर लिया है) जितेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) सर्वभूतात्मभूतात्मा (सभी जीवोंके अनुरागभाजन) कुर्वन् अपि (कर्म करनेपर भी) न लिप्यते (उसमें लिप्त नहीं होते हैं)॥५.७॥
योग युक्त ज्ञानी तीन प्रकारके होते हैं—

अनुवाद—विशुद्धबुद्धि, विशुद्धचित्त और जितेन्द्रिय। ये क्रमशः एक दूसरेसे उत्कृष्ट हैं। ये सभी जीवोंके अनुरागभाजन होकर समस्त कर्मोंको करनेपर भी उसमें लिप्त नहीं होते हैं॥५.७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् श‍ृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन्॥५.८॥५.
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥५.९॥

अन्वय—युक्तः (कर्मयोगी) तत्त्ववित् (तत्त्वज्ञ) [सन्–होकर] पश्यन् (दर्शन) श‍ृण्वन् (श्रवण) स्पृशन् (स्पर्श) जिघ्रन् (घ्राण) अश्नन् (भोजन) गच्छन् (गमन) स्वपन् (निद्रा) श्वसन् (श्वास ग्रहण) प्रलपन् (कथन) विसृजन (त्याग) गृह्णन् (ग्रहण) उन्मिषन् (उन्मीलन) निमिषन् अपि (कुर्वन्) (और निमीलनादि करनेपर भी) इति धारयन् (बुद्धिके द्वारा निश्चयकर) इति मन्येत (ऐसा समझते हैं कि) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेषु (अपने– अपने विषयोंमें) वर्त्तन्ते (तल्लीन हैं) [अहम्—मैं] किञ्चित् एव (कुछ भी) न करोमि (नहीं करता हूँ)॥५.८–९॥

अनुवाद—कर्मयोगी दर्शन, श्रवण, स्पर्शन, घ्राण, भोजन, गमन, निद्रा और श्वासादि क्रिया करनेपर भी तत्त्वज्ञानवश ऐसा मानते हैं कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। प्रलाप, द्रव्य–त्याग, द्रव्य–ग्रहण, उन्मेष और निमेषके समय ऐसा मानते हैं कि मैं जिस जड़देहमें अवस्थित हूँ, वही इन सभी कार्योंको कर रहा है, वस्तुतः मैं कुछ भी नहीं करता हूँ॥५.८–९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥५.१०॥

अन्वय—यः (जो) सङ्गम् त्यक्त्वा (कर्मासक्ति त्यागकर) कर्माणि (कर्मोंको) ब्रह्मणि (मुझ परमेश्वरमें) आधाय (समर्पणकर) करोति (करते हैं) सः (वे) अम्भसा (जलसे) पद्मपत्रम् इव (कमलके पत्तेकी भाँति) पापेन (पापसे) न लिप्यते (लिप्त नहीं होते हैं)॥५.१०॥

अनुवाद—जो कर्मको ब्रह्ममें अर्पण करते हुये फलासक्ति त्यागकर कर्म करते हैं, जैसे जलमें रहनेपर भी पद्म–पत्र जलसे लिप्त नहीं होता है, वैसे ही वे भी पाप कर्मसे लिप्त नहीं होते हैं॥५.१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥५.११॥

अन्वय—योगिनः (योगिगण) आत्मशुद्धये (चित्तशुद्धिके लिए) सङ्गम् त्यक्त्वा (आसक्ति त्यागकर) कायेन मनसा बुद्ध्या (तन, मन और बुद्धि द्वारा) केवलैः इन्द्रियैः अपि (मनःसंयोग रहित केवल इन्द्रियोंके द्वारा भी) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करते हैं)॥५.११॥

अनुवाद—चित्तशुद्धिके लिए योगिगण कर्मफलासक्ति त्यागकर काय–मन–बुद्धि द्वारा अथवा कभी केवल इन्द्रिय द्वारा कर्म करते हैं॥५.११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥५.१२॥

अन्वय—युक्तः (निष्काम कर्मयोगी) कर्मफलम् (कर्मफलको) त्यक्त्वा (त्यागकर) नैष्ठिकीम् (निष्ठाप्राप्त) शान्तिम् (मोक्षको) आप्नोति (प्राप्त होते हैं) अयुक्तः (सकाम कर्मी) कामकारेण (कामप्रवृत्तिवश) फले सक्तः (फलमें आसक्त होकर) निबध्यते (बन्धनको प्राप्त होता है)॥५.१२॥

अनुवाद—योगी कर्मफलको त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति अर्थात् कर्म–मोक्ष प्राप्त करते हैं, दूसरी ओर अयुक्त पुरुष अर्थात् सकाम–कर्मी काम प्रवृत्तिके कारण फलासक्ति द्वारा कर्मबद्ध होते हैं॥५.१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥५.१३॥

अन्वय—वशी (जितेन्द्रिय) देही (जीव) सर्वकर्माणि (सभी कर्मोंको) मनसा (मन द्वारा) संन्यस्य (सम्यक् त्यागकर) नवद्वारे पुरे (नौ द्वारोंवाले शरीरमें) न एव कुर्वन् (न ही स्वयं कर्म करता हुआ) न कारयन् (न अन्योंसे करवाता हुआ) सुखम् आस्ते (सुखपूर्वक अवस्थित रहता है)॥५.१३॥

अनुवाद—बाह्य समस्त कार्योंको करने पर भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार मनके द्वारा उन सबका संन्यासकर जीव नौ द्वारोंवाले देहरूपी घरमें सुखसे निवास करता है, वह न तो स्वयं कुछ करता है, न ही किसी और से कुछ करवाता है॥ ५.१३॥

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥५.१४॥

अन्वय—प्रभुः (ईश्वर) लोकस्य (लोगोंके) न कर्त्तृत्वम् (न कर्त्तव्यको) न कर्माणि (न कर्मोंको) न कर्मफलसंयोगम् (न कर्मफलके संयोगको) सृजति (सृजित करते हैं) तु (किन्तु) स्वभावः (अनादि अविद्या) प्रवर्त्तते (प्रवृत्त हो रही है)॥ ५.१४॥

अनुवाद— ईश्वरने न लोगोंके कर्त्तृत्त्व, न कर्म और न ही कर्मफलके संयोगका सृजन किया है, बल्कि इनका स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या ही इनमें प्रवृत्त हो रही है।

जीवका कर्त्तव्य नहीं है—ऐसा कहनेसे यह मत समझो कि परमेश्वरके द्वारा ही समस्त कर्मप्रवृत्ति हुई है। 'लोगोंके कर्त्तव्य और कर्म परमेश्वरके द्वारा हैं'— ऐसा कहनेसे परमेश्वरका वैषम्य और निष्ठुरता स्वीकार करनी पड़ेगी। कर्मफलका संयोग भी उनके द्वारा नहीं हैं। ये सब जीवोंके अनादि 'अविद्या' रूपी स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं॥५.१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥५.१५॥

अन्वय—विभुः (परमेश्वर) न कस्यचित् (न किसीके) पापम् (पापको) आदत्ते (ग्रहण करते हैं) न च एव सुकृतम् (और न ही पुण्यको ग्रहण करते हैं) अज्ञानेन (अविद्या द्वारा) ज्ञानम् (जीवका स्वाभाविक ज्ञान) आवृतम् (आच्छादित है) तेन (उसीसे) जन्तवः (सभी जीव) मुह्यन्ति (मोहित हो रहे हैं)॥५.१५॥

अनुवाद—ईश्वर जीवकी सुकृति और दुष्कृतिको ग्रहण नहीं करते हैं। जीव स्वभावसे ज्ञानस्वरूप है। अविद्या-शक्तिके द्वारा उस स्वरूपके आवृत हो जानेके कारण जीव बद्धदशाको प्राप्त होता है। इस अवस्थामें जीव देहात्माभिमानरूपी मोह प्राप्तकर स्वयंको कर्म-कर्त्ता कहकर अभिमान करता है॥५.१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥५.१६॥

अन्वय—तु (किन्तु) येषाम् (जिनका) तत् अज्ञानम् (वह अज्ञान) आत्मनः ज्ञानेन (जीवविषयक ज्ञानसे) नाशितम् (विनष्ट हो गया है) तेषाम् (उनका) ज्ञानम् (ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्यके समान प्रकाशित होकर) तत्परम् (अप्राकृत परम तत्त्वको) प्रकाशयति (प्रकाशित कर देता है)॥५.१६॥

अनुवाद—ज्ञान दो प्रकारका होता है—प्राकृत और अप्राकृत। प्राकृत अथवा जड़-प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञानको ही जीवका 'अज्ञान' या 'अविद्या' कहते हैं। अप्राकृत ज्ञान ही 'विद्या' है। अप्राकृत ज्ञानोदय होनेसे जिन जीवोंका प्राकृत ज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके निकट परमज्ञानरूप अप्राकृत ज्ञान उदित होकर अप्राकृत परमतत्त्वका प्रकाश करता है॥५.१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥५.१७॥

अन्वय—तत्-बुद्धयः (जिनकी बुद्धि परमेश्वरमें ही निविष्ट है) तत् आत्मनः (जिनका मन उनके ही ध्यानमें मग्न है) तत् निष्ठाः (जो मात्र परमेश्वरके प्रति निष्ठावान् हैं) तत् परायणाः (जो उनके श्रवण-कीर्त्तन-परायण हैं) ज्ञान निर्धूत कल्मषाः (ज्ञान अर्थात् विद्या द्वारा जिनकी समस्त अविद्या नष्ट हो चुकी है) [सः —वे] अनुपरावृत्तिम् (मोक्षको) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं)॥५.१७॥

अनुवाद—जिनकी बुद्धि, मन और निष्ठाकी गति वे अप्राकृत-स्वरूपविशिष्ट परमेश्वर हैं, वे विद्या और अविद्यारूपी कल्मषको धोकर अपुनरावृत्तिरूपी मोक्ष प्राप्त करते हैं। मेरे प्रति ही जिनकी अप्राकृत रति है, उनकी जड़-रति समाप्त

हो जाती है। उस अवस्थामें मेरा नाम–श्रवण–कीर्त्तन ही उन्हें प्रिय हो जाता है॥ ५.१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥५.१८॥

अन्वय—पण्डिताः (ज्ञानिगण) विद्या–विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे (विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मणमें) श्वपाके च (एवं चाण्डालमें) गवि (गायमें) हस्तिनि (हाथीमें) शुनि च एव (एवं कुत्तेमें भी) समदर्शिनः (समदृष्टि–सम्पन्न अर्थात् समदर्शी होते हैं)॥५.१८॥

अनुवाद—अप्राकृत गुणप्राप्त समस्त ज्ञानी प्राकृतगुण द्वारा उत्तम, मध्यम और अधमरूपी वैषम्यका परित्यागकर विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल—सबके प्रति समदर्शी होकर 'पण्डित' संज्ञासे अभिहित होते हैं॥५.१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥५.१९॥

अन्वय—येषाम् (जिनका) मनः (मन) साम्ये (समत्वमें) स्थितम् (अवस्थित है) तैः (उनके द्वारा) इह एव (इस लोकमें ही) सर्गः (संसार) जितः (जीत लिया गया है) हि (क्योंकि) ब्रह्म (ब्रह्म) निर्दोषम् (दोषरहित) समम् (समभावयुक्त हैं) तस्मात् (अतः) ते (वे) ब्रह्मणि (ब्रह्ममें) स्थिताः (अवस्थित रहते हैं)॥५.१९॥

अनुवाद—जिनका मन साम्यमें अवस्थित हो गया है, वे इस लोकमें ही सर्ग अर्थात् संसारको जीत चुके हैं। वे तथा ब्रह्म—दोनों ही समत्वयुक्त एवं निर्दोष हैं, अतएव वे ब्रह्ममें ही अवस्थित हैं॥५.१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥५.२०॥

अन्वय—ब्रह्मवित् (ब्रह्मवेत्ता पुरुष) ब्रह्मणि अवस्थितः (ब्रह्ममें अवस्थित) स्थिरबुद्धिः (स्थिर बुद्धिवाले) असंमूढः (मोहरहित होते हैं) [सः—वे] प्रियम् प्राप्य (प्रिय वस्तुको प्राप्तकर) न प्रहृष्येत् (न प्रफुल्लित होते हैं) च (और) अप्रियम् प्राप्य (अप्रिय वस्तुको पाकर) न उद्विजेत् (उद्विग्न भी नहीं होते हैं)॥५.२०॥
ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्ममें अवस्थिति प्राप्तकर बाह्य वस्तुओंमें अनासक्तमना होकर स्थिर बुद्धिवाले होते हैं। वे जड़–जगत्के प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको प्राप्तकर हर्षित और उद्विग्न नहीं होते है॥५.२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥५.२१॥

अन्वय—बाह्यस्पर्शेषु (विषयसुखमें) असक्तात्मा (अनासक्त चित्तवाले) आत्मनि (आत्मामें) यत् सुखम् (जो सुख है) [तत्—उसे] विन्दति (प्राप्त करते हैं) सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्मयोगसे युक्त वे पुरुष) अक्षयम् सुखम् (अक्षय सुख) अश्नुते (प्राप्त करते हैं)॥५.२१॥

अनुवाद—वे ब्रह्मवित् पुरुष चिद्गत सुख प्राप्त करते हैं। वे ब्रह्मयोगयुक्त होकर अक्षय सुख लाभ करते हैं॥५.२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥५.२२॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) ये भोगाः (जो समस्त भोग) संस्पर्शजाः (विषय–संस्पर्शसे उत्पन्न हैं) ते हि (वे सभी निश्चय ही) दुःखयोनयः एव (दुःखके कारण हैं) [च—और] आद्यन्तवन्तः (आदि तथा अन्तविशिष्ट हैं) बुधः (ज्ञानी पुरुष) तेषु (उनमें) न रमते (नहीं अनुरक्त होते हैं)॥५.२२॥

अनुवाद—इस प्रकार विवेकवान् पुरुष इन्द्रियोंके विषय–सुखमें नहीं आसक्त होते हैं। इन्द्रियार्थ जनित समस्त सुख दुःखको ही प्रसव करते हैं। वे केवल संस्पर्शसे उत्पन्न होते हैं। हे कौन्तेय! पूर्वोक्त पण्डितगण उन सभी अनित्य सुखोंमें कभी आनन्द प्राप्त नहीं करते हैं। देह–यात्राके लिए मात्र निष्काम रूपसे उससे सम्बन्धित कर्मोंको करते हैं॥५.२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥५.२३॥

अन्वय—यः (जो) इह एव (इस जन्ममें ही) शरीरविमोक्षणात् प्राक् (शरीरके नाश होनेके पूर्व) काम–क्रोधोद्भवम् (काम और क्रोधसे उत्पन्न) वेगम् (वेगको) सोढुम् (सहनेमें) शक्नोति (समर्थ होते हैं) सः (वे) युक्तः (योगी हैं) [च—और] सः (वे ही) नरः (पुरुष) सुखी (सुखी हैं)॥५.२३॥

अनुवाद—जड़ शरीरके त्याग होने तक विषयोंको स्वीकार करना ही होगा—ऐसा जानकर जो निष्काम कर्मयोग द्वारा काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हैं, वे ही यथार्थतः सुखी हैं॥५.२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥५.२४॥

अन्वय—यः (जो) अन्तःसुखः (आत्मामें ही सुखी हैं) अन्तरारामः (आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं) तथा (उसी प्रकार) यः (जो) अन्तर्ज्योतिः एव (आत्मामें ही दृष्टियुक्त हैं) सः योगी (वे योगी) ब्रह्मभूतः (ब्रह्ममें अवस्थित होकर) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मानन्दको) अधिगच्छति (प्राप्त होते हैं)॥५.२४॥

अनुवाद—जो बाह्य जगत्के सुख, आराम और ज्योतिको अनित्य जानकर अन्तर्जगतके सुख, आराम और ज्योतिरूपी साविद्यक ज्ञानको स्वीकारकर ब्रह्मभूत होते हैं, वे ही योगी हैं एवं वे ही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होते हैं॥५.२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥५.२५॥

अन्वय—क्षीणकल्मषाः (निष्पाप) छिन्नद्वैधाः (निःसंशय) यतात्मनः (संयतचित्त) [च—और] सर्वभूतहिते रताः (सभी प्राणियोंके हितमें रत) ऋषयः (ऋषिगण) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाणको) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)॥५.२५॥

अनुवाद—संयतचित्त, सभी जीवोंके हित कार्यमें रत एवं संशयरहित निष्पाप ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण लाभ करते हैं॥५.२५॥

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥५.२६॥

अन्वय—कामक्रोध विमुक्तानाम् (काम-क्रोधसे रहित) यतचेतसाम् (संयत चित्तवाले) विदितात्मनाम् (आत्मतत्त्वको जाननेवाले) यतीनाम् (यतिगणको) अभितः (सर्वतोभावेन) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाण) वर्त्तते (उपस्थित होता है)॥५.२६॥

अनुवाद—काम-क्रोधहीन, संयतचित्त, आत्मतत्त्वज्ञ यतियोंको ब्रह्मनिर्वाण सर्वतोभावेन अविलम्ब उपस्थित होता है। संसारस्थित निष्काम कर्मयोगी सत्-असत्का विचार करते हुये प्रकृतिसे अतीत ब्रह्म नामक सद्वस्तुमें अवस्थान करते हैं, उससे जड़ीय दुःखरूपी क्लेशका निर्वाण होता है, इसे ही ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं॥५.२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥५.२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥५.२८॥

अन्वय—बाह्यान् स्पर्शादि (शब्द-स्पर्शादि बाह्य विषयोंको) बहिः कृत्वा (बहिष्कृतकर) चक्षुः च एव (और चक्षुको) भ्रुवोः अन्तरे (दोनों भृकुटियोंके

मध्यमें स्थिरकर) नासाभ्यन्तरचारिणौ (नासिकामें विचरणशील) प्राणापानौ (प्राण और अपान वायुको) समौ कृत्वा (समानकर) यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः (संयमित इन्द्रिय, मन और बुद्धिवाले) मोक्षपरायणः (मोक्षपरायण) विगतेच्छाभय–क्रोधः (इच्छा, भय और क्रोधरहित) यः मुनि (जो मुनि हैं) सः (वे) सदा (सर्वदा) मुक्तः एव (मुक्त ही हैं)॥५.२७–२८॥

अनुवाद—हे अर्जुन! भगवदर्पित कर्मयोग द्वारा ही अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञानसे 'तत्'–पदार्थ में ज्ञानस्वरूप भक्ति और गुणातीत ज्ञान द्वारा भक्तिजनित ब्रह्मानुभव क्रमशः प्राप्त होता है—ये सब बातें मैंने तुम्हें पहले ही बतलाई हैं। अभी शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्तिके ब्रह्मानुभव साधनरूप अष्टाङ्गयोगको कहूँगा, उसके आभास रूपमें कुछ बातोंको बता रहा हूँ, उसे श्रवण करो—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि बाह्य विषयोंको मनसे बहिष्कृतकर अर्थात् प्रत्याहार साधन करते हुये, चक्षुको दोनों भृकुटीके मध्य स्थितकर नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करना चाहिए। सम्पूर्ण निमीलन द्वारा निद्राकी आशङ्का और सम्पूर्ण उन्मीलन द्वारा बहिर्दृष्टिकी आशङ्का होनेके कारण अर्द्धनिमीलन द्वारा दोनों नेत्रोंको इस प्रकार नियमित करोगे कि भृकुटीके मध्यसे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिपात हो। उच्छ्वास–निःश्वासरूपसे दोनों नासिकाके अन्दर प्राणवायु और अपानवायु परिचालितकर ऊर्द्ध्व और अधोगति निरोधपूर्वक उनकी समताका साधन करना चाहिए। इस प्रकार आसीन और मुद्रायुक्त होकर, जितेन्द्रिय, जितमना और जितबुद्धि मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध त्यागपूर्वक ब्रह्मानुभव अभ्यास करनेसे गुणातीत जड़मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अतएव निष्काम कर्मयोगके साधनकालमें अष्टाङ्गयोगका भी 'तदङ्ग' (उसके अङ्ग) के रूपमें साधन किया जाता है॥५.२७–२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥५.२९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'संन्यासयोगो' नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

अन्वय—माम् (मुझे) यज्ञतपसाम् (सभी यज्ञों और तपस्याओंका) भोक्तारम् (भोक्ता) सर्वलोकमहेश्वरम् (सभी लोकोंका महानियन्ता) [च—और] सर्वभूतानाम् सुहृदम् (सभी जीवोंका सुहृद) ज्ञात्वा (जानकर) [नरः—मनुष्य] शान्तिम् (मोक्ष) ऋच्छति (प्राप्त करते हैं)॥५.२९॥

अनुवाद—पूर्वके चार अध्यायोंको श्रवणकर यह संशय होता है कि यदि कर्मयोगके अन्तमें मोक्ष प्राप्त हुआ, तो ज्ञानयोगका स्थल कहाँ है एवं ज्ञानयोगका आकार क्या है? इसी संशयको दूर करनेके लिए इस अध्यायके उपदेशसमूह कहे गये। ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग और कर्मयोग पृथक् नहीं हैं। इन दोनोंका चरम स्थान 'एक' अर्थात् भक्ति है। कर्मयोगकी प्रथम अवस्थामें कर्मप्रधान ज्ञान और शेष अवस्था (ज्ञानयोग) में ज्ञानप्रधान कर्म होता है। जीव स्वभावतः शुद्ध चिन्मय है। मायाको भोगनेकी इच्छासे जड़बद्ध होकर क्रमशः जड़के साथ एकतारूपी अधोगति प्राप्त करता है। जब तक यह जड़ शरीर है, तब तक जड़ीय कर्म अनिवार्य है। चित्–चेष्टा ही मोचनका एकमात्र उपाय है। अतः जड़देह यात्रामें शुद्ध चित्–चेष्टा जितनी प्रबल होती है, कर्म–प्रधानता उतनी क्षीण होती है। समदर्शन, विराग, चित्–चेष्टाका अभ्यास, जड़ीय काम–क्रोध आदिका जय, संशयक्षय आदि साधन करते–करते ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् जड़–निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मसुख–संस्पर्श स्वयं उपस्थित होता है। कर्मयोगके साथ देहयात्रा–निर्वाहपूर्वक यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधिरूप अष्टाङ्गयोगका साधन करते–करते भक्तका संग प्राप्तकर क्रमशः भगवद्भक्ति–सुखका उदय होता है। यही 'मुक्तिपूर्विका शान्ति' है। उस समय शुद्ध भजन–प्रवृत्ति ही जीवकी स्वमहिमा प्रकाश करती है॥ ५.२९॥

पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

षष्ठ अध्याय (ध्यानयोग)

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥६.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) यः (जो) कर्मफलम् अनाश्रितः (कर्मफलकी अपेक्षा न कर) कार्यम् कर्म (अवश्य करने योग्य कर्म) करोति (करते हैं) सः (वे) संन्यासी च योगी (संन्यासी और योगी हैं) न निरग्निः (अग्निहोत्रादि कर्मोंका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है) न च अक्रियः (और दैहिक कर्ममात्रका परित्याग करनेवाला योगी नहीं है)॥६.१॥

अनुवाद—निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मत्यागसे ही संन्यासी हुआ जाता है—ऐसा मत समझो एवं अर्द्ध निमीलित नेत्र होकर दैहिक चेष्टाशून्य होनेसे ही अष्टाङ्गयोगी हुआ जाता है—ऐसा भी नहीं है। अपितु, जो कर्मफलका त्यागकर कर्त्तव्य कर्मोंका आचरण करते हैं, उन्हें ही 'संन्यासी' एवं 'योगी'—इन दोनों नामोंसे अभिहित किया जा सकता है॥६.१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥६.२॥

अन्वय—पाण्डव (हे अर्जुन!) यम् (जिसे) संन्यासम् इति प्राहुः (पण्डितगण संन्यास कहते हैं) तम् (उसे) योगम् विद्धि (योग जानो) हि (क्योंकि) असंन्यस्तसङ्कल्पः (काम–सङ्कल्पका परित्याग करनेमें असमर्थ) कश्चन (कोई पुरुष) योगी न भवति (योगी नहीं होता है)॥६.२॥

अनुवाद—हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहा जाता है, उसको योग भी कहा जाता है। काम–सङ्कल्पका परित्याग न करनेसे जीव कभी भी 'योगी' शब्द–वाच्य नहीं हो सकता है। जिस प्रकार पहले मैंने सांख्य और कर्मयोगकी एकता को प्रतिपादित किया उसी प्रकार अब मैं अष्टाङ्गयोग और कर्मयोगकी एकता प्रतिपादित करूँगा। वस्तुतः सांख्ययोग, कर्मयोग और अष्टाङ्गयोग—ये अभिन्न हैं, मूर्खलोग ही इन्हें पृथक्–पृथक् पद्धतिके रूपमें जानते हैं॥६.२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥६.३॥

अन्वय—योगम् (निश्चल ध्यानयोगमें) आरुरुक्षोः (आरूढ़ होनेके इच्छुक) मुनेः (मुनिका) कर्म कारणम् (कर्म ही साधन) उच्यते (कहलाता है) योगारूढस्य (योगारूढ़ अवस्थामें) सशमः एव (विक्षेप कर्मोंका त्याग ही) तस्य (उस मुनिका) कारणम् उच्यते (साधन कहा जाता है)॥६.३॥

अनुवाद—'योग' एक सोपानविशेष है। जीवोंके जीवनकी अति निम्न अवस्था जड़तुल्य है। जड़ीय विषयोंमें आविष्ट रहनेकी अवस्थासे विशुद्ध चित्–अवस्था तक एक सोपान है। उस सोपानके अलग–अलग अंशोंके अलग–अलग नाम हैं। किन्तु, सम्पूर्ण सोपानका नाम ही योग है। योग–सोपानके दो विभाग हैं। योगारुरुक्षु मुनिगण अर्थात् जिन्होंने केवल आरोहण–कार्यका आरम्भ किया है, कर्म ही उनका 'कारण' अथवा 'लक्ष्य' है और आरूढ़ पुरुषके लिए 'शम' या शान्ति ही 'कारण' अथवा 'लक्ष्य' है। इन दो स्थूल विभागोंके नाम 'कर्म और 'शान्ति' हैं॥६.३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥६.४॥

अन्वय—यदा (जिस समय) न इन्द्रियार्थेषु (न इन्द्रिय–ग्राह्य विषयोंमें) न कर्मसु (न कर्मोंमें) अनुसज्जते (आसक्त होते हैं) तदा (उस समय) सर्वसङ्कल्पसंन्यासी (समस्त फलाकाङ्क्षाओंका त्याग करनेवाले) योगारूढः उच्यते (योगपथपर आरूढ़ कहे जाते हैं)॥६.४॥

अनुवाद—जिस समय इन्द्रियों और कर्मोंमें आसक्ति दूर हो जाती है एवं योगी पुरुष पूर्णरूपेण सभी सङ्कल्पोंका परित्याग कर देते हैं, उस समय ही उन्हें 'योगारूढ़' कहा जाता है॥६.४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६.५॥

अन्वय—आत्मना (अनासक्त मनके द्वारा) आत्मानम् (आत्माका) उद्धरेत् (संसारसे उद्धार करे) आत्मानम् (आत्माकी) न अवसादयेत् (अधोगति न होने दे) हि (क्योंकि) आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः (आत्माका) बन्धुः (बन्धु है) आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः (आत्माका) रिपुः (शत्रु है)॥६.५॥

अनुवाद—विषयासक्तिसे रहित मनके द्वारा ही आत्मा अर्थात् संसारकूपमें पतित जीवका उद्धार करे, आत्माको संसारसङ्कल्प (विषय–भोग) के द्वारा पतित न करे। अवस्थाके भेदसे मन ही मित्र और शत्रु होता है॥६.५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्॥६.६॥

अन्वय—येन आत्मना एव (जिसके आत्माके द्वारा ही) आत्मा (मन) जितः (जीत लिया गया है) तस्य आत्मनः (उस आत्माका) आत्मा बन्धुः (मन बन्धु है) तु (किन्तु) अनात्मनः (अजितेन्द्रिय जीवका) आत्मा एव (मन ही) शत्रुवत् (शत्रुके समान) शत्रुत्वे (अपकारमें) वर्त्तते (प्रवृत्त होता है)॥६.६॥

अनुवाद—जिस जीवने मनको जीत लिया है, मन ही उसका बन्धु है और अजितेन्द्रिय व्यक्तिका मन ही उसका शत्रु है॥६.६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥६.७॥

अन्वय—शीतोष्ण–सुख–दुःखेषु (शीत–उष्ण–सुख–दुःखमें) तथा मानापमानयोः (तथा मान–अपमानमें) प्रशान्तस्य (राग– द्वेषरहित) जितात्मनः (जितमना योगीका) आत्मा (आत्मा) परमा समाहितः [भवेत्] (अतिशय समाधिस्थ होता है)॥६.७॥

अनुवाद—योगारूढ़ पुरुषोंमें निम्नलिखित लक्षण देखोगे—उन्होंने मनको जीत लिया है, वे राग–द्वेषादिसे रहित, समाधिस्थ एवं सुख–दुःख तथा मान–अपमानमें भी अविचलित रहते हैं॥६.७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥६.८॥

अन्वय—ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा (जिनका चित्त ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है) कूटस्थः (जो विकाररहित हैं) विजितेन्द्रिय (जो जितेन्द्रिय हैं) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (जो मिट्टी, पाषाण और सोनेको एक समान देखते हैं) [सः—वे] युक्तः (योगरूढ़ पुरुष) योगी उच्यते (योगी कहलाते हैं)॥६.८॥

अनुवाद—वे उपदिष्ट ज्ञान और अपरोक्षानुभूतिरूपी विज्ञानसे परितृप्त होते हैं। वे चित्स्वभावमें स्थित तथा जितेन्द्रिय होते हैं। वे ऐसा सिद्धान्त करते हैं कि मिट्टीका ढेला, पत्थर और सोना—ये सभी जड़ परिणति–मात्र हैं, इसलिए समान ही हैं॥६.८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥६.९॥

अन्वय—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्य बन्धुषु (सुहृद, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओंमें) साधुषु (साधुओंमें) अपि च पापेषु (और पापियोंमें भी) समबुद्धिः (समान भाववाले) विशिष्यते (विशिष्ट अर्थात् अतिश्रेष्ठ होते हैं)॥ ६.९॥

अनुवाद—सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, धार्मिक और पापाचारी—इन सबके प्रति समबुद्धिवान् होनेके कारण वे श्रेष्ठ होते हैं॥६.९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥६.१०॥

अन्वय—योगी (योगी पुरुष) सततम् (सर्वदा) रहसि (निर्जन स्थानमें) एकाकी (अकेले ही) स्थितः (रहते हुये) यतचित्तात्मा (चित्त और देह संयतकर) निराशीः (आशारहित) अपरिग्रहः (एवं विषयको अस्वीकारकर) आत्मानम् (मनको) युञ्जीत (समाधियुक्त करेंगे)॥६.१०॥

अनुवाद—योगारूढ़ व्यक्ति सर्वदा एकान्तमें रहते हुये मनको समाधियुक्त करेंगे। वे देहयात्रा निर्वाहके लिए जो समस्त कार्य करेंगे, उनमें अपरिग्रह अर्थात् असत्–परिग्रहका वर्जन करेंगे और फलकी आकांक्षासे रहित होंगे॥६.१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्॥६.११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥६.१२॥

अन्वय—शुचौ देशे (पवित्र स्थानमें) न अत्युच्छ्रितम् (न अति उच्च स्थानमें) न अतिनीचम् (न अतिनिम्न स्थानमें) चेलाजिनकुशोत्तरम् (कुशासनके ऊपर मृगासन और उसके ऊपर वस्त्रासन स्थापितकर) आत्मनः (अपने) स्थिरम् आसनम् प्रतिष्ठाप्य (निश्चल आसनको भूमिपर प्रतिष्ठापितकर) तत्र आसने (उस आसनपर) उपविश्य (बैठकर) मनः एकाग्रम् कृत्वा (मनको एकाग्रकर) यतचित्त–इन्द्रिय–क्रियः (चित्त, इन्द्रिय और उनके कार्योंको संयतकर) आत्मविशुद्धये (अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए) योगम् युञ्ज्यात् (योगका अभ्यास करेंगे)॥६.११–१२॥

अनुवाद—एकान्त योगाभ्यासका नियम यह है कि कुशासनके ऊपर मृगासन और उसके ऊपर वस्त्रासन रखकर, न अत्यन्त उच्च और न अत्यन्त निम्न उस आसनको विशुद्ध भूमि पर स्थापितकर उसपर आसीन होंगे। उसपर बैठकर चित्त,

इन्द्रिय और क्रियाको नियमितकर चित्त–शुद्धिके लिए मनको एकाग्रकर योगाभ्यास करेंगे॥६.११–१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥६.१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः॥६.१४॥

अन्वय—कायशिरोग्रीवम् (शरीर, मस्तक और गर्दन) समम् (सीधा) अचलम् (निश्चल) धारयन् (धारणकर) स्थिरः (स्थिर होकर) स्वम् नासिकाग्रम् (अपनी नाकके अग्रभागको) संप्रेक्ष्य (भलीभाँति देखते हुये) दिशः च अनवलोकनम् (किसी अन्य दिशाओंमें न देखते हुये) ब्रह्मचारिव्रतस्थितः (ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित) विगतभीः (निर्भय) प्रशान्तामा (प्रशान्तात्मा) मनः संयम्य (मनको संयमितकर) मत् चित्त मत् परः (चित्तको मुझमें लगाते हुये तथा मेरे परायण होकर) युक्तः आसीत् (युक्तभावसे रहेंगे)॥६.१३–१४॥

अनुवाद—शरीर, मस्तक और ग्रीवाको एक समान रखकर, दृष्टि इधर–उधर विकेन्द्रित न हो—इसके लिए नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखते हुये, प्रशान्तात्मा, भयशून्य और ब्रह्मचर्यके व्रतमें स्थित पुरुष मनको समस्त जड़ीय विषयोंसे संयमित करते हुये चतुर्भुजस्वरूप मेरी विष्णुमूर्तिमें परमात्म–परायण होकर योगाभ्यास करेंगे॥ ६.१३–१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥६.१५॥

अन्वय—एवं (पूर्वोक्त रीतिसे) सदा एव (सर्वदा ही) आत्मानम् (मनको) युञ्जन् (योगयुक्तकर) नियतमानसः (संयतचित्त) योगी (योगी) मत् संस्थाम् (मेरे स्वरूप अर्थात् निर्विशेष ब्रह्ममें स्थित होकर) परमाम् निर्वाण (परम निर्वाणरूपी) शान्तिम् अधिगच्छति (शान्ति प्राप्त करते हैं)॥६.१५॥

अनुवाद—इस प्रकार योगाभ्यास करते–करते योगीकी जड़सम्बन्धी चित्तवृत्ति दूर हो जाती है। यदि भक्तिपरायणताका अभाव न हो, तो योगी क्रमशः मत्संस्थ निर्वाणपरा शान्ति अर्थात् जड़–मोक्ष और चित्त्–प्रकृतिको प्राप्त करते हैं॥६.१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥६.१६॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अत्यश्नतः (अधिक भोजनकारीका) न योगः अस्ति (योग नहीं सिद्ध होता है) तु (पुनः) एकान्तम् अनश्नतः (बिल्कुल अनाहारीका भी) न च (योग सिद्ध नहीं होता है) अतिस्वप्नशीलस्य (अतिशय निद्रापरायणका) न च (नहीं होता है) जाग्रतः एव न च (जाग्रत रहनेवालाका भी नहीं होता है)॥६.१६॥

अनुवाद—अधिक भोजनकारी, नितान्त अनाहारी, अधिक निद्राप्रिय और नितान्त निन्द्राशून्य व्यक्तिके लिए योग सम्भव नहीं है॥६.१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥६.१७॥

अन्वय—युक्ताहारविहारस्य (यथायोग्य आहार–विहार करनेवालेका) कर्मसु युक्तचेष्टस्य (कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका) युक्तस्वप्नावबोधस्य (यथायोग्य सोने और जागनेवालेका) योगः (योग) दुःखहा भवति (सांसारिक क्लेशोंका हरण करनेवाला होता है)॥६.१७॥

अनुवाद—युक्त–आहार, युक्त–विहार, कर्मोंमें चेष्टायुक्त, युक्त–निद्रा, युक्त–जागरण व्यक्तियोंके ही क्रमशः चेष्टा द्वारा जड़–दुःखनाशक योग सम्भव होता है॥६.१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥६.१८॥

अन्वय—यदा (जब) चित्तम् (मन) विनियतम् (विशेषरूपसे या सम्पूर्णरूपसे संयमित होकर) आत्मनि एव (आत्मामें ही) अवतिष्ठते (निश्चल भावसे अवस्थित होता है) तदा (तब) सर्वकामेभ्यः निस्पृहः (समस्त कामनाओंकी स्पृहासे रहित व्यक्ति) युक्तः इति उच्यते (युक्त कहलाते हैं)॥६.१८॥

अनुवाद—जब योगीकी चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है अर्थात् जब चित्तवृत्ति जड़–आविष्टताका परित्यागकर अप्राकृत विषयोंमें अर्थात् आत्मतत्त्वमें परिनिष्ठित होती है, तब पुरुष (योगी) समस्त जड़–कामनाओंसे रहित होकर योगयुक्त हो जाते हैं॥ ६.१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥६.१९॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) निवातस्थः (वायुरहित स्थानमें) दीपः न इङ्गते (दीप नहीं कम्पित होता है) सा (उसी प्रकार) आत्मनः (आत्मविषयक) योगम्

युञ्जतः (योगाभ्यासकारी) यतचित्तस्य योगिनः (संयतचित्त योगीकी) उपमा स्मृता (उपमा जाननी चाहिए)॥६.१९॥

अनुवाद—जिस प्रकार वायुरहित घरमें दीप अचल रहता है, संयतचित्त योगीका चित्त भी वैसा ही होता है॥६.१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥६.२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥६.२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥६.२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥६.२३॥
सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥६.२४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥६.२५॥

अन्वय—यत्र (जिस अवस्थामें) योगसेवया (योगाभ्यास द्वारा) निरुद्धम् चित्तम् (संयमित चित्त) उपरमते (विषयोंसे विरक्त हो जाता है) यत्र च (और जिस अवस्थामें) आत्मना (आत्माके द्वारा) आत्मानम् (आत्माको) पश्यन् (दर्शन करते–करते) आत्मनि एव (आत्मामें ही) तुष्यति (तुष्ट होते हैं) यत्र (जिस अवस्थामें) अयम् (ये योगी) यत् तत् बुद्धिग्राह्यम् (बुद्धि द्वारा ग्रहणीय) अतीन्द्रियम् (इन्द्रियातीत) आत्यन्तिकम् सुखम् वेत्ति (नित्य सुखका अनुभव करते हैं) च स्थितः (और जिस अवस्थामें स्थित होकर) तत्त्वतः (आत्मस्वरूपसे) न चलति (भ्रष्ट नहीं होते हैं) यम् लाभम् (जिस लाभको) लब्ध्वा (प्राप्तकर) अपरम् (अन्य लाभको) ततः अधिक (उससे अधिक) न मन्यते (नहीं मानते हैं) यस्मिन च स्थितः (एवं जिसमें स्थित होकर) गुरुणा दुःखेन अपि (गुरुतर या भयानक दुःखके द्वारा भी) न विचाल्यते (अभिभूत नहीं होते हैं) तम् (उस अवस्थाको) दुःखसंयोग वियोगम् (दुःख–संस्पर्शरहित) योगसंज्ञितम् विद्यात् (योगके नामसे जानो) सः योगः (वह योग) अनिर्विण्णचेतसा (धैर्ययुक्त चित्त द्वारा) सङ्कल्पप्रभवान् (सङ्कल्पसे उत्पन्न होनवाली) सर्वान् कामान् (समस्त कामनाओंको) अशेषतः (सम्पूर्णरूपेण) त्यक्त्वा

(त्यागकर) मनसा एव (मनके द्वारा ही) समन्ततः (सभी ओरसे) इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियोंको) विनियम्य (संयतकर) निश्चयेन (साधु–शास्त्रके वाक्यों द्वारा निश्चयपूर्वक) योक्तव्यः (योगाभ्यास करना चाहिए) धृतिगृहीतया बुद्ध्या (धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा) मनः (मनको) आत्मसंस्थम् कृत्वा (आत्मामें स्थितकर) शनैः शनैः (क्रमशः) उपरमेत् (विरक्त होंगे) किञ्चिदपि (कुछ भी) न चिन्तयेत् (चिन्ता नहीं करेंगे)॥६.२०–२५॥

अनुवाद—इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा क्रमशः विषयोंसे विरक्ति होनेसे चित्त समस्त जड़–विषयोंसे संयमित हो जाता है और तब समाधि अवस्था उपस्थित होती है। उस अवस्थामें परमात्माकार अन्तःकरण द्वारा परमात्माका दर्शनकर उससे उत्पन्न सुखका अनुभव करते हैं। पतञ्जलि मुनिने जिस दर्शनशास्त्रका प्रकाश किया है, वही शुद्ध अष्टाङ्गयोग विषयक शास्त्र है। इसके अर्थको न समझनेके कारण ही इसके टीकाकारगण इस प्रकार कहते हैं कि वेदान्तवादीगण आत्माके चिदानन्दमयत्वको ही 'मोक्ष' कहते हैं, किन्तु यह अयुक्त (गलत) है, क्योंकि यदि कैवल्य–अवस्थामें आनन्दको माना जाय तो संवेद्य–संवेदनरूप द्वैतभावको स्वीकार करनेके कारण कैवल्यकी हानि होगी। परन्तु पतञ्जलि मुनि ऐसा नहीं कहते हैं, उन्होंने अपने शेष–सूत्रमें (अंतिम सूत्रमें) मात्र इतना ही कहा है—

'पुरुषार्थशून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।'

जब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंसे रहित होनेपर समस्त गुण क्षणिक विकार उत्पन्न नहीं करें, तभी चित्त–धर्मका कैवल्य होता है। इसके द्वारा स्वरूपमें उसकी अवस्थिति होती है, तभी उसे 'चितिशक्ति' कहते हैं। सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह स्पष्ट होता है कि पतञ्जलिने चरम अवस्थामें आत्माके गुणोंका ध्वंस स्वीकार नहीं किया, बल्कि केवल गुणोंके अविकारत्वको स्वीकार किया है। 'चितिशक्ति' शब्दका तात्पर्य 'चित्–धर्म' होता है। अविकारत्वके दूर होनेपर स्वरूप–धर्मका उदय होता है। प्राकृत सम्बन्धयोगमें आत्माकी जो दशा होती है, उसीका नाम 'आत्मगुणविकार' है। उसके नष्ट हो जानेपर आत्मशक्ति, आत्मगुण या आत्मधर्ममें जो आनन्द है, उसका लोप हो जायेगा—पतञ्जलिकी ऐसी शिक्षा नहीं है। प्रकृतिके विकारसे रहित आनन्द ही प्रतिबुद्ध (उत्पन्न) होता है, वह आनन्द ही सुखस्वरूप है, यही योगका चरमफल है। यह बादमें प्रदर्शित होगा कि इसको ही भक्ति कहते हैं। समाधि दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात और

असम्प्रज्ञात। सवितर्क सविचार आदिके भेदसे सम्प्रज्ञात समाधि अनेक प्रकारकी होती है। परन्तु, असम्प्रज्ञात समाधि एक ही प्रकारकी होती है। उस असम्प्रज्ञात समाधिमें विषय–इन्द्रिय–सम्पर्क–रहित, आत्मा– काराबुद्धि–ग्राह्य आत्यन्तिक (नित्य) सुख प्राप्त होता है। उस विशुद्ध आत्मसुखमें स्थित योगीका चित्त तत्त्वसे और विचलित नहीं होता है। ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं कर सकनेपर अष्टाङ्गयोगसे जीवका कल्याण नहीं होता है, क्योंकि उसमें विभूति आदिके रूपमें जो अवान्तर फल हैं, उनमें चित्तके आकर्षित होनेपर योगीका चित्त समाधिसुखरूप चरम उद्देश्यसे विचलित हो जाता है। इस सभी बाधाओंके कारण योगसाधनके समय अनेक अमङ्गल घटित होनेका भय है। किन्तु, भक्तियोगमें ऐसी आशङ्का नहीं है—इसे बादमें बतलाया जायेगा। समाधिमें प्राप्त सुखकी अपेक्षा योगी अन्य किसी सुखको श्रेष्ठ नहीं मानते हैं अर्थात् देहयात्रा निर्वाहके समय विषयोंके साथ इन्द्रिय–संस्पर्श द्वारा जो समस्त क्षणिक सुख उत्पन्न होते हैं, उन्हें तुच्छ सुखके रूपमें ही स्वीकार करते हैं एवं दुर्घटना, पीड़ा, अभाव और मृत्युकाल तक अन्य गुरुतर दुःखोंको सहनकर अपने अन्वेषणीय समाधि–सुखका भोग करते हैं, उन समस्त दुःखोंसे परिचालित होकर परम सुखका त्याग नहीं करते हैं। वे सोचते हैं—ये दुःख उपस्थित हुये हैं, परन्तु ये अधिक समय तक नहीं रहेंगे, शीघ्र ही चले जाएँगे। योगफल प्राप्त होनेमें विलम्ब हो रहा है या व्याघात होगा—ऐसी बात सोचकर योगाभ्यासका परित्याग नहीं करेंगे अर्थात् योगफलके प्राप्त होने तक विशेष यत्नसे अध्यवसायका पालन करेंगे। योगके विषयमें प्राथमिक कार्य यह है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, सिद्धफल एवं सङ्कल्पजनित कामनाएँ सर्वतोभावेन दूरकर मनके द्वारा इन्द्रियोंको नियमित करेंगे। 'धारणारूप' अङ्गसे लब्धबुद्धि द्वारा क्रमशः वैराग्यकी शिक्षा करेंगे—इसका ही नाम 'प्रत्याहार' है। ध्यान, धारणा और प्रत्याहार द्वारा मनको भलीभाँति वशीभूतकर 'आत्मसमाधि' करेंगे। उस स्थितिमें अन्य किन्हीं विषयोंकी चिन्ता नहीं करेंगे एवं देहयात्राके लिए विषयादिकी चिन्ता करनेपर भी उसमें आसक्त नहीं होंगे—यही उपदिष्ट हुआ, यही योगका अन्त्यकृत्य है॥६.२०–२५॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥६.२६॥

अन्वय—चञ्चलम् अस्थिरम् मनः (चञ्चल और अस्थिर मन) यतः यतः निश्चलति (जहाँ–जहाँ धावित होता है अर्थात् जिन–जिन विषयोंकी ओर धावित

होता है) एतत् (इस मनको) ततः ततः (उन–उन विषयोंसे) नियम्य (निग्रहकर अर्थात् संयमितकर) आत्मनि एव (आत्मामें ही) वशम् नयेत् (स्थिर करेंगे)॥ ६.२६॥

अनुवाद—मन स्वभावतः चञ्चल और अस्थिर है। कभी–कभी विचलित होनेपर भी इसे यत्नपूर्वक नियमितकर आत्माके वशमें लाना होगा॥६.२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥६.२७॥

अन्वय—शान्तरजसम् (रजोगुणसे रहित) प्रशान्तमनसम् (प्रशान्तचित्त) अकल्मषम् (राग–द्वेषादिसे रहित) ब्रह्मभूतम् (ब्रह्मभावसम्पन्न) एनम् हि योगिनम् (इस योगीको) उत्तमम् सुखम् (आत्मानुभवरूप उत्तम सुख) उपैति (प्राप्त होता है)॥६.२७॥

अनुवाद—इस प्रकार बाधाओंको दूरकर अभ्याससे जिनका मन प्रशान्त हो गया है, वे ब्रह्मभूत, पापशून्य और रजोगुणरहित योगी पूर्वोक्त उत्तम सुख प्राप्त करते हैं॥६.२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥६.२८॥

अन्वय—एवं (इस प्रकार) विगतकल्मषः (पापरहित) योगी (योगी) सदा (निरन्तर) आत्मानम् (मनको) युञ्जन् (युक्त करते–करते योग द्वारा अनुभवकर) सुखेन (अनायास ही) ब्रह्मसंस्पर्शम् (ब्रह्म–प्राप्तिरूप) अत्यन्तम् सुखम् (परम सुख) अश्नुते (प्राप्त करते हैं)॥६.२८॥

अनुवाद—इस प्रकार आत्मसंयमी योगी कल्मषरहित होकर ब्रह्म–संस्पर्शरूपी अत्यन्त सुखका भोग करते हैं अर्थात् चित्स्वरूप परब्रह्मके तत्त्वानुशीलनरूपी 'आनन्द' को प्राप्त करते हैं—यही भक्ति है॥६.२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥६.२९॥

अन्वय—सर्वत्र समदर्शनः (सर्वत्र समदर्शी) योगयुक्तात्माः (योगयुक्त पुरुष) आत्मानम् (आत्माको) सर्वभूतस्थम् (सभी भूतोंमें अवस्थित) सर्वभूतानि च (और सभी भूतोंको) आत्मनि (आत्मामें स्थित) इक्षते (देखते हैं)॥६.२९॥

अनुवाद—वह ब्रह्मसंस्पर्श–सुख कैसा है—इसे ही संक्षेपमें बता रहा हूँ— समाधियुक्त योगीके दो व्यवहार हैं—भाव और क्रिया। उनका भाव–व्यवहार इस

प्रकारका होता है—वे सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंका दर्शन करते हैं। क्रिया-व्यवहारमें भी वे सर्वत्र समदर्शी हैं। आगेके दो श्लोकोंमें भाव एवं एक श्लोकमें क्रियाकी व्याख्या कर रहा हूँ॥६.२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥६.३०॥

अन्वय—यः (जो) माम् (मुझे) सर्वत्र (सभी भूतोंमें) पश्यति (देखते हैं) सर्वम् च (और सभीको) मयि (मुझमें) पश्यति (देखते हैं) अहम् (मैं) तस्य (उनके लिए) न प्रणश्यामि (अदृश्य नहीं होता हूँ) स च (वे भी) मे (मेरे लिए) न प्रणश्यति (अदृश्य नहीं होते हैं)॥६.३०॥

अनुवाद—जो सर्वत्र मेरा दर्शन करते हैं और मुझमें ही समस्त वस्तुओंका दर्शन करते हैं, मैं उनका ही होता हूँ अर्थात् शान्त रतिका अतिक्रमकर हमलोगोंके बीच 'मैं उनका हूँ' और 'वे मेरे हैं'—इस प्रकारका एक सम्बन्धयुक्त प्रेम उत्पन्न होता है। इस सम्बन्धके उदय होनेपर मैं उन्हें शुष्क निर्वाणरूप सर्वनाश प्रदान नहीं करता हूँ। वे मेरे दास होनेके कारण और नष्ट नहीं हो सकते हैं॥६.३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥६.३१॥

अन्वय—यः (जो योगी) सर्वभूतस्थितम् (सभी भूतोंमें स्थित) माम् (मुझे) एकत्वम् आस्थितः (एकत्व बुद्धिसे आश्रयकर) भजति (भजते हैं) सः योगी (वे योगी) सर्वथा वर्त्तमानः अपि (सभी अवस्थाओंमें रहकर भी) मयि वर्त्तते (मुझमें ही अवस्थित रहते हैं)॥६.३१॥

अनुवाद—साधनकालमें योगीके लिए जो चतुर्भुजाकार ईश्वरका ध्यान करनेके लिए बताया गया है, वह (ध्यान) समाधिकालमें निर्विकल्प-अवस्थामें परमतत्त्वके 'साधन' और 'सिद्ध'-कालगत द्वैतबुद्धिसे रहित होनेपर, मेरे सच्चिदानन्द श्यामसुन्दर मूर्त्तिमें (उसकी) एकत्व बुद्धि होती है। जो योगी सभी भूतोंमें स्थित मेरा भजन करते हैं अर्थात् श्रवण और कीर्त्तन द्वारा मेरी भक्ति करते हैं, वे कार्यकालमें 'कर्म', विचारकालमें 'ज्ञान' औार योगकालमें 'समाधि' का अनुष्ठान करनेपर भी मुझमें वर्त्तमान रहते हैं (अर्थात् कृष्ण-सामीप्यलक्षणरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं)। श्रीनारद पञ्चरात्रमें जहाँ योगका उपदेश दिया गया है, वहाँ ऐसा कथित है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।

तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत्॥

अर्थात्, दिशा और काल आदिकी सीमासे अतीत जो श्रीकृष्णमूर्त्ति है, उनमें चित्तका मनोनिवेश करनेसे तन्मयता द्वारा जीवका श्रीकृष्णरूप (परब्रह्मका) संस्पर्श–सुख उदित होता है। कृष्णभक्ति ही योगसमाधिकी चरमता है॥६.३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥६.३२॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यः (जो) सर्वत्र (सभी जीवोंके) आत्मौपम्येन (अपने समान) सुखम् वा यदि वा दुःखम् (सुख अथवा दुःखको) समम् (समान) पश्यति (देखते हैं) सः योगी (वे योगी) परमः मतः (मेरे मतानुसार श्रेष्ठ हैं)॥६.३२॥

अनुवाद—योगीका क्रिया–व्यवहार कैसा होता है—यह बता रहा हूँ, श्रवण करो—वे ही परम योगी होते हैं, जो सभीके प्रति समदृष्टि–सम्पन्न होते हैं। 'समदृष्टि' शब्दका तात्पर्य यह है कि जो व्यवहारस्थलमें अन्य समस्त जीवोंको अपने समान समझते हैं अर्थात् अन्य जीवोंके सुखको अपने सुखके समान सुखकर और अन्य जीवोंके दुःखको अपने दुःखके समान दुःखजनक समझते हैं। अतः वे समस्त जीवोंके सुखकी ही निरन्तर कामना करते हैं और तदनुरूप कार्य करते हैं। इसे ही 'समदर्शन' कहते हैं॥६.३२॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥६.३३॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) मधुसूदन (हे मधुसूदन!) त्वया (आपके द्वारा) साम्येन (सर्वत्र समदर्शनरूप) यः योग (जो योग) प्रोक्तः (कथित हुआ) चञ्चलत्वात् (चञ्चलताके कारण) अहम् (मैं) एतस्य (इसके) स्थिराम् (स्थायित्वको) न पश्यामि (नहीं देखता हूँ)॥६.३३॥

अनुवाद—अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने जिस योगका उपदेश दिया, उसे साम्यबुद्धिके साथ किस प्रकार स्थिर रखा जा सकता है—यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। विशेषतः शत्रु और मित्रके प्रति केवल दो–चार दिन ही समबुद्धि रखना सम्भव है। वैसे भावसे (समभावसे) युक्त योग किस प्रकार अनुष्ठित होता है—मैं इसे समझनेमें अक्षम हूँ॥६.३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥६.३४॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) हि (क्योंकि) मनः (मन) चञ्चलः (चञ्चल) प्रमाथि (बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंको मथ देनेवाला) बलवत् (बलवान) दृढम् (और दृढ़ है) [अतः] अहम् (मैं) तस्य (उसके) निग्रहम् (निग्रहको) वायोः इव (वायुको वशमें करनेके समान) सुदुष्करम् (अत्यन्त दुष्कर) मन्ये (मानता हूँ)॥ ६.३४॥

अनुवाद—हे कृष्ण! आपने कहा कि विवेकवती बुद्धि द्वारा चञ्चल मनको नियमित करना चाहिए, किन्तु मैं तो देखता हूँ, कि मन विवेकवती बुद्धिको भी प्रकृष्टरूपसे मथनेमें समर्थ है। अतएव वायुके समान नितान्त चञ्चल मनको वशमें करना, मेरे लिए अत्यन्त दुष्कर बोध हो रहा है॥६.३४॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥६.३५॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) असंशयम् (निःसन्देह) मनः (मन) चञ्चलम् दुर्निग्रहम् (चञ्चल और कठिनाईसे वशमें होनेवाला है) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र!) अभ्यासेन वैराग्येन च (अभ्यास और वैराग्यके द्वारा) गृह्यते (वशीभूत हो जाता है)॥६.३५॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो! तुमने जो कहा वह तो सत्य है, किन्तु योगशास्त्र विशेषरूपसे यही उपदेश देते हैं कि धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा दुर्निग्रह और चञ्चल मनको वशीभूत किया जाता है॥६.३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥६.३६॥

अन्वय—असंशयात्मना (अवशीकृत मनवालेके लिए) योगः दुष्प्राप्य (योग दुष्प्राप्य है) [तु—किन्तु] यतता वश्यात्मना (यत्नशील और वशीभूत मनवालेके लिए) उपायतः (उपाय द्वारा) अवाप्तम् शक्यः (प्राप्त किया जा सकता है) इति मे मतिः (यह मेरा मत है)॥६.३६॥

अनुवाद—मेरा उपदेश यह है कि जो वैराग्य और अभ्यास द्वारा मनको संयत करनेकी चेष्टा नहीं करते हैं, उनके लिए पूर्वोक्त योग कभी भी साधित नहीं होता है। किन्तु, जो यथार्थ उपायका अवलम्बनकर मनको वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं, वे अवश्य ही योगमें सिद्ध होते हैं। 'यथार्थ उपायके विषय' से मेरा

यही कहना है कि जो भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग द्वारा और उसके अङ्गीभूत मेरे ध्यानादि द्वारा चित्तको एकाग्र करनेका अभ्यास करते हैं एवं साथ–ही–साथ जीवन निर्वाहके लिए वैराग्यके साथ विषयको स्वीकार करते हैं, वे क्रमशः योगसिद्धि प्राप्त करते हैं॥६.३६॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥६.३७॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) श्रद्धया उपेतः (श्रद्धापूर्वक योगमें प्रवृत्त) [तु—किन्तु] अयतिः (असंयमित चित्तवाले पुरुष) योगात् (योगसे) चलितमानसः (भ्रष्टचित्तवाले होनेपर) योगसंसिद्धिम् (योग–सिद्धिको) अप्राप्यन् (नहीं प्राप्तकर) काम् गतिम् गच्छति (क्या गति प्राप्त करते हैं)॥६.३७॥

अनुवाद—इतना श्रवण करनेके पश्चात् पुनः अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आपने कहा कि सम्यक् यत्नपूर्वक अभ्यास और वैराग्य द्वारा योगसिद्धि होती है। किन्तु, जो व्यक्ति योग–उपदेशके प्रति श्रद्धान्वित होकर उसमें थोड़ा आरूढ़ होते हैं, परन्तु यति नहीं हो सकते हैं अर्थात् बहुत थोड़ा यत्न करते हैं, अभ्यास और वैराग्यके अभावमें उन व्यक्तियोंका मन विषयमें प्रवृत्त होकर योगसे विचलित हो जाता है। ऐसे लोगोंकी क्या गति होती है?॥६.३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥६.३८॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्म प्राप्तिके मार्गमें) विमूढः (विक्षिप्त) अप्रतिष्ठः (आश्रयहीन) उभय–विभ्रष्टः (कर्ममार्ग और योगमार्गसे पतित) छिन्न अभ्रम इव (खण्डित मेघके समान) क्वचित् न नश्यति (क्या नष्ट नहीं हो जाते हैं?)॥६.३८॥

अनुवाद—सकाम कर्मत्यागके बिना योग–चेष्टा नहीं होती है। मूढ़ व्यक्तियोंके लिए सकाममार्ग ही शुभदायी है, क्योंकि इसके द्वारा इस लोकका सुख और पुण्य द्वारा परलोकमें स्वर्गादि प्राप्त होते हैं। योगमें प्रवृत्त होनेपर उनका वह सकामकर्म दूर तो होता है, किन्तु पूर्वोक्त कारणोंसे (अभ्यास, वैराग्य एवं प्रयत्नके अभावमें) उन्हें योगकी सिद्धि नहीं होती है। अतः वे ब्रह्म प्राप्तिके पथमें विमूढ़ होकर अप्रतिष्ठ हो जाते हैं। क्या ऐसा होनेपर वे दोनों मार्गोंसे च्युत होकर छिन्न–भिन्न बादलकी भाँति पूर्णतः नष्ट हो जायेंगे?॥६.३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥६.३९॥

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) [त्वमेव—आप ही] मे (मेरे) एतत् संशयम् (इस संशयको) अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) छेत्तुम् (छेदन करनेमें) अर्हसि (समर्थ हैं) हि (क्योंकि) त्वदन्यः (आपके अतिरिक्त) अस्य संशयस्य (इस संशयका) छेत्ता (छेदन करनेवालेका) न उपपद्यते (मिलना असंभव है)॥६.३९॥

अनुवाद—शास्त्रकार सर्वज्ञ नहीं हैं, किन्तु आप परमेश्वर हैं, अतः आप सर्वज्ञ हैं। आपके अतिरिक्त और कोई भी इस संशयके छेदनमें समर्थ नहीं होंगे। अतएव कृपापूर्वक मेरे इस संशयका छेदन करें॥६.३९॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥६.४०॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवानने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) तस्य (उस पुरुषका) न एव इह (न तो इस लोकमें) विनाशः विद्यते (विनाश होता है) न अमुत्र (न ही परलोकमें) हि (क्योंकि) तात (हे तात!) कल्याणकृत् (शुभ अनुष्ठानको करनेवाले) कश्चित् (कोई व्यक्ति) दुर्गतिम् (दुर्गतिको) न गच्छति (प्राप्त नहीं होते हैं)॥६.४०॥

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर—श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! वर्त्तमानमें या परवर्त्तीकालमें योगका अनुष्ठान करनेवालेका कभी भी विनाश नहीं होता है। कल्याण प्रापक योगानुष्ठाताकी कभी दुर्गति नहीं होगी। मूल बात यह है कि समस्त मानव दो भागोंमें विभक्त हैं—अवैध और वैध। जो व्यक्ति केवल इन्द्रिय-तर्पण करते हैं और किसी विधिके वशीभूत नहीं हैं, वे पशुके समान विधिशून्य हैं। सभ्य हो अथवा असभ्य हो, मूर्ख हो अथवा पण्डित हो, दुर्बल हो अथवा बलवान् हो, अवैध व्यक्तिका आचरण सदा ही पशुतुल्य होता है, उनके कार्योंसे किसी प्रकारके लाभकी सम्भावना नहीं है।

वैध लोगोंको तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया जाता है—कर्मी, ज्ञानी और भक्त। कर्मियोंको भी सकाम कर्मी और निष्काम कर्मी—इन दो भागोंमें विभक्त किया जाता है। सकाम कर्मीगण अत्यन्त क्षुद्र सुखान्वेषी अर्थात् अनित्य सुखके अभिलाषी होते हैं। उनको स्वर्गादिकी प्राप्ति और सांसारिक उन्नति तो है, किन्तु वे समस्त सुख ही अनित्य हैं, अतएव जिसे जीवोंका 'कल्याण' कहा जाता है,

वह उन्हें अप्राप्य है। जड़से छुटकारा पानेके बाद नित्य आनन्दका लाभ ही जीवोंका 'कल्याण' है। अतः जिस पर्वमें उस नित्यानन्दकी प्राप्ति नहीं है, वह पर्व ही निरर्थक है। कर्मकाण्डमें जब उस नित्यानन्दकी प्राप्तिका उद्देश्य संयुक्त होता है, तभी कर्मको कर्मयोग कहते हैं। उस कर्मयोग द्वारा चित्तशुद्धि, उसके पश्चात् ज्ञानप्राप्ति, तदनन्तर ध्यानयोग और चूड़ान्तमें भक्तियोग प्राप्त होता है।

सकाम कर्ममें जो समस्त आत्मसुखोंका परित्यागकर क्लेश स्वीकार करनेका विधान है, उसके द्वारा कर्मीको भी तपस्वी कहा जाता है। तपस्या जितनी भी हो, परन्तु उसकी अवधि इन्द्रिय-सुखके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असुरगण तपस्याके द्वारा फल प्राप्तकर इन्द्रियतर्पण ही करते हैं। इन्द्रियतर्पणरूपी सीमाका अतिक्रम करनेपर सहज ही जीवोंके कल्याण-उद्देशक कर्मयोगका आगमन होता है। उस कर्मयोगमें स्थित ध्यानयोगी या ज्ञानयोगी अधिकांशतः कल्याणकारी होते हैं। सकाम कर्मसे जीवोंको जो कुछ प्राप्त होता है, अष्टाङ्गयोगीकी सभी अवस्थाओंका फल उससे श्रेष्ठ होता है॥६.४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥६.४१॥

अन्वय—योगभ्रष्टः (योगभ्रष्ट पुरुष) पुण्यकृताम् (पुण्यवान् व्यक्तियोंके) लोकान् (लोकोंको) प्राप्य (प्राप्तकर) शाश्वतीः समाः (अनेक वर्षों तक) उषित्वा (निवासकर) शुचीनाम् (सदाचार-सम्पन्न) श्रीमताम् गृहे (धनवानोंके गृहमें) अभिजायते (जन्म ग्रहण करते हैं)॥६.४१॥

अनुवाद—जो व्यक्ति अष्टाङ्गयोगसे भ्रष्ट होते हैं, उन्हें दो श्रेणीमें विभक्त किया जाता है—अल्पकालाभ्यास योगभ्रष्ट तथा चिरकालाभ्यास योगभ्रष्ट। जो योगी अल्प-अभ्यासके बाद ही योगभ्रष्ट होते हैं, वे सकाम पुण्यवानोंके प्राप्य स्वर्गादि लोकोंमें बहुत समय तक वासकर सदाचारी ब्राह्मणोंके घरमें अथवा श्रीमान् धनिक-वनिकादिके घरमें जन्म लेते हैं॥६.४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥६.४२॥

अन्वय—अथवा (अथवा) धीमताम् योगिनाम् (ज्ञानवान् योगियोंके) कुले (कुलमें) भवति (जन्म ग्रहण करते हैं) इदृशम् यत् जन्म (इस प्रकारका जो जन्म है) एतत् हि लोके (यह इस जगत्में) दुर्लभतरम् (अत्यन्त दुर्लभ है)॥६.४२॥

अनुवाद—जो योगी बहुतकाल तक अभ्यास करनेके बाद योगभ्रष्ट होते हैं, वे ज्ञानयोगियोंके घरमें जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अच्छे कुलमें जन्म ग्रहण करना दुर्लभतर जानो, क्योंकि वहाँ जन्म ग्रहण करनेसे प्रथम अवस्थासे ही उच्च सङ्गके कारण सहज ही जीवकी अधिक उन्नति सम्भव है॥६.४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥६.४३॥

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) [वे योगभ्रष्ट पुरुष] तत्र (वहाँ) पौर्वदेहिकम् (पूर्व जन्मजात) तम् (उस) बुद्धिसंयोगम् लभते (परमात्म–विषयिणी बुद्धिको प्राप्त करते हैं) ततः च (तदनन्तर) भूयः (पुनः) संसिद्धौ (उस सिद्धिको प्राप्त करनेके लिए) यतते (प्रयत्न करते हैं)॥६.४३॥

अनुवाद—हे कुरुनन्दन! वे वहाँ जन्म लेकर पूर्व देहकी बुद्धिको प्राप्त करते हैं, अतएव नैसर्गिक रुचिके कारण पुनः योगसंसिद्धिके लिए प्रयत्न करते हैं॥ ६.४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते॥६.४४॥

अन्वय—हि (निश्चय ही) तेन पूर्वाभ्यासेन एव (उस पूर्व शरीरमें किए गये अभ्यासके द्वारा ही) अवशः अपि (किसी विघ्नके उपस्थित होनेपर भी) सः (वे) ह्रियते (आकर्षित होते हैं) योगस्य (योगके विषयमें) जिज्ञासुः अपि (जिज्ञासु–मात्र होनेपर भी) शब्द ब्रह्म (वेदोक्त कर्ममार्गका) अतिवर्त्तते (अतिक्रमण करते हैं)॥ ६.४४॥

अनुवाद—निसर्गवशतः पूर्वाभ्यासके द्वारा योगशास्त्रमें जिज्ञासु पुरुष वेदोक्त सकाम कर्ममार्गका अतिक्रमण करते हैं अर्थात् सकाम–कर्ममार्गके निर्दिष्ट फलकी अपेक्षा उत्कृष्ट फल प्राप्त करते हैं॥६.४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥६.४५॥

अन्वय—तु (किन्तु) प्रयत्नात् यतमानः (प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले) संशुद्ध किल्बिषः (निष्पाप) योगी (योगी) अनेक जन्मसंसिद्धः (अनेक जन्मोंमें सिद्ध होकर) ततः (तत्पश्चात्) पराम् गति (परम गति) याति (लाभ करते हैं)॥६.४५॥

अनुवाद—तब प्रकृष्टरूपसे यत्नके साथ अभ्यास करते–करते योगीका योग परिपक्व होता है और समस्त कषाय दूर होते हैं। योगी अनेक जन्मों तक

योगाभ्यास करते-करते अन्तमें निष्पाप होकर मोक्षरूपी परमगति प्राप्त करते हैं—यही योगीका आमुत्रिक (पारलौकिक) फल है॥६.४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥६.४६॥

अन्वय—योगी (योगी) तपस्विभ्यः (तपस्वियोंसे) अधिकः (श्रेष्ठ हैं) ज्ञानिभ्यः अपि (ज्ञानियोंसे भी) अधिकः (श्रेष्ठ हैं) योगी (योगी) कर्मिभ्यः च (कर्मियोंसे भी) अधिकः मतः (श्रेष्ठ माने गये हैं) तस्मात् (अतएव) अर्जुन (हे अर्जुन!) योगी भव (योगी होओ)॥६.४६॥

अनुवाद—उत्तमरूपसे विवेचनाकर देखो कि सकाम कर्मगत तपस्वीकी अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, ज्ञानयोगी कर्मयोगीसे भी श्रेष्ठ है। सामान्य सकामकर्मीकी अपेक्षा योगी भी श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन! तुम योगी होओ॥६.४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥६.४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'ध्यानयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः॥

अन्वय—मे मतः (मेरे मतानुसार) सर्वेषाम् योगिनाम् अपि (समस्त योगियोंमें भी) सः युक्ततमः (वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं) [जो] श्रद्धावान् (श्रद्धालु) मद्‌गतेन अन्तरात्मना (मुझमें आसक्त मनके द्वारा) माम् (मुझे) भजते (भजते हैं)॥६.४७॥

अनुवाद—जितने भी प्रकारके योगी हैं, सबकी अपेक्षा भक्तियोगके अनुष्ठाता योगी ही श्रेष्ठ हैं। जो श्रद्धावान् होकर मुझे भजते हैं, वे सभी योगियोंसे श्रेष्ठ हैं। वैध मनुष्योंके बीच सकाम कर्मीको 'योगी' नहीं कहा जाता है। निष्काम कर्मी, ज्ञानी, अष्टाङ्गयोगी और भक्तियोगानुष्ठाता—ये सभी योगी हैं। वस्तुतः योग एक ही है, दो नहीं। 'योग' एक सोपानमय मार्गविशेष है। उस मार्गका आश्रयकर जीव ब्रह्मपथपर आरूढ़ होते हैं। 'निष्काम कर्मयोग' इस सोपानका प्रथम क्रम है, इसमें ज्ञान और वैराग्य संयुक्त होनेपर 'ज्ञानयोग' रूप इसका द्वितीय क्रम बनता है, इसमें पुनः 'ईश्वर-चिन्ता' रूप ध्यानके संयुक्त होनेपर 'अष्टाङ्गयोग' रूप इसका तृतीय क्रम बनता है। इस तृतीय क्रममें भगवत्प्रीति संयुक्त होनेपर 'भक्तियोग' रूप चतुर्थ क्रम बनता है। इन समस्त क्रमोंके संयुक्त होनेसे जो सोपान बनता है, उसीका नाम 'योग' है। उसी योगकी व्याख्या स्पष्टरूपमें करनेके लिए खण्डित योगोंका उल्लेख करना पड़ता है। नित्य कल्याण ही जिनका उद्देश्य है, वे योगका

ही अवलम्बन करते हैं, किन्तु प्रत्येक क्रममें उन्नत होकर सर्वप्रथम उस क्रममें निष्ठायुक्त होते हैं और अन्तमें इस क्रमका परित्यागकर ऊपरके क्रममें प्रवेश करनेके लिए पिछले क्रमकी निष्ठाका परित्याग करते हैं। जो किसी–एक क्रमविशेषमें आबद्ध रहते हैं, उस क्रमके नामसे संयुक्त एक खण्ड–योगमें ही उनकी प्रतिष्ठा है। इसलिए कोई 'कर्मयोगी', कोई 'ज्ञानयोगी', कोई 'अष्टाङ्गयोगी' या कोई 'भक्तियोगीके नामसे परिचित होते हैं। अतएव हे पार्थ! केवल मेरी भक्ति करना ही जिनका चरम उद्देश्य है, वे अन्य तीन प्रकारके योगियोंसे श्रेष्ठ हैं। तुम वही योगी अर्थात् भक्तियोगी होओ॥६.४७॥

षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

सप्तम अध्याय (विज्ञानयोग)

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥७.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) मयि (मुझमें) आसक्तमनाः (आसक्तचित्त) [तथा] मदाश्रयः (सन्) (मेरे शरणागत होकर) योगम् युञ्जन् (योगका अनुष्ठान करते–करते) समग्रम् माम् (सम्पूर्णरूपसे मुझे) असंशयम् (निःसन्देह) यथा (जिस प्रकार) ज्ञास्यसि (जानोगे) तत् (उसे) शृणु (श्रवण करो)॥७.१॥

अनुवाद—हे पार्थ! प्रथम छह अध्यायोंमें अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षा करनेवाले मोक्षदायी ज्ञान और योग (अष्टाङ्ग) के सम्बन्धमें बताया, दूसरे छह अध्यायोंमें भक्तियोगके सम्बन्धमें बता रहा हूँ, श्रवण करो। मुझमें आसक्तचित्त होकर तथा मेरे आश्रितयोग (भक्तियोगका) अभ्यास करनेसे मत्सम्बन्धी समग्र ज्ञान प्राप्त करोगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ब्रह्मज्ञानरूप जो ज्ञान है, वह समग्र नहीं है, क्योंकि वह 'सविशेष' ज्ञान नहीं है। जड़ीय–विशेषका परित्यागकर जो एक निर्विशेष चिन्ता प्राप्त की जाती है, उसमें ही निर्विशेष चिन्ताके विषयस्वरूप मेरा निर्विशेष आविर्भावरूप ब्रह्म उदित होता है। वह निर्गुण नहीं है, क्योंकि वह देह आदिसे अतिरिक्त जो सात्त्विक ज्ञान है, उतना ही है। भक्ति निर्गुण वृत्तिविशेष है; भक्तिके अवलम्बनसे ही निर्गुणस्वरूप मैं, जीवके निर्गुण नेत्रोंसे परिलक्षित होता हूँ॥७.२॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥७.२॥

अन्वय—अहम् (मैं) ते (तुम्हें) सविज्ञानम् (विज्ञानसहित) इदम् ज्ञानम् (इस ज्ञानको) अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) वक्ष्यामि (कहूँगा) यत् ज्ञात्वा (जिसे जानकर) इह (इस संसारमें) भूयः (पुनः) अन्यत् (और कुछ) ज्ञातव्यम् (जानने योग्य) न अवशिष्यते (शेष नहीं रह जाता है)॥७.२॥

अनुवाद—मेरे भक्तगण मुझमें आसक्त होनेके पूर्व मेरे सम्बन्धमें जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह ऐश्वर्यमय होता है, अतएव उसे ज्ञान कहते हैं। आसक्त हो जानेके बाद तुम्हें सम्पूर्णरूपसे विज्ञान सहित ज्ञानका उपदेश कर रहा हूँ, तुम श्रवण करो। इससे अवगत होने–मात्रसे जगतमें कुछ भी तुम्हारे लिए जानने योग्य शेष नहीं रह जायेगा॥७.२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥७.३॥

अन्वय—मनुष्याणाम् सहस्रेषु (सहस्र–सहस्र लोगोंमें) कश्चित् (कोई) सिद्धये (सिद्धिके लिए) यतति (यत्न करते हैं) यतताम् सिद्धानाम् अपि (यत्नपरायण सिद्धोंमें भी) कश्चित् (कोई) माम् (मुझे) तत्त्वतः (स्वरूपतः) वेत्ति (जानते हैं)॥ ७.३॥

अनुवाद—पूर्वके छह अध्यायोंमें उल्लिखित ज्ञानीगण और योगीगण सहज चिन्ता द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु चिन्तातीत, विलक्षण भगवत–ज्ञान उनके लिए दुर्लभ है। असंख्य जीवोंमें कदाचित् कोई मनुष्य होता है, हजारों मनुष्योंमें भी कोई–कोई कल्याण–सिद्धिके लिए यत्न करते हैं एवं हजारों सिद्ध लोगोमेंसे भी कोई–कोई मुझे अर्थात् मेरे भगवत्–स्वरूपको तत्त्वतः जानते हैं॥ ७.३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥७.४॥

अन्वयः—भूमिः (भूमि) आपः (जल) अनलः (अग्नि) वायुः (पवन) खम् (आकाश) मनः (मन) बुद्धिः (बुद्धि) अहङ्कारः एव च (और अहङ्कार) इति इयम् (इस प्रकार यह) मे प्रकृति (मेरी प्रकृति) अष्टधा भिन्ना (आठ भेदोंवाली है)॥७.४॥

अनुवाद—भगवत्स्वरूप और भगवत्–ऐश्वर्यज्ञानका ही नाम 'भगवत्–ज्ञान' है। उसकी विवृति यह है कि मैं सदा स्वरूप–संप्राप्त शक्तिसम्पन्न तत्त्वविशेष हूँ, ब्रह्म मेरे शक्तिगत एक निर्विशेष भावमात्र है, उसका (ब्रह्मका) स्वरूप नहीं है। सृष्ट जगत्की व्यतिरेक चिन्तासे ही ब्रह्मकी साम्बन्धिक अवस्थिति है। परमात्मा भी जगत्में मेरा शक्तिगत एक आविर्भाव–विशेष है, फलतः वह भी अनित्य जगत्सम्बन्धी तत्त्वविशेष है, उसका भी नित्य स्वरूप नहीं है। भगवत्स्वरूप ही मेरा नित्य स्वरूप है। उसमें मेरी दो प्रकारकी शक्तिका परिचय प्राप्त होता है।

एक शक्तिका नाम 'बहिरङ्गा' या 'मायाशक्ति' है। जड़–जननी होनेके कारण उसे 'अपराशक्ति' भी कहा जाता है। मेरी इस 'अपरा' या जड़–सम्बन्धिनी शक्तिकी तत्त्व–संख्याको लक्ष्य करना चाहिए। भूमि, जल, वायु, अग्नि और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच उनकी मात्राएँ हैं —इस प्रकार दश तत्त्व गृहीत होते हैं। अहङ्कार–तत्त्वमें कार्यभूत उनकी इन्द्रियाँ और कारणभूत महत्तत्त्व गृहीत होंगे। केवल तत्त्वसमूहमें प्रधानरूपसे भिन्न–भिन्न कार्य होनेके कारण मन और बुद्धिको तत्त्वके रूपमें अलग बताया गया। फलतः वे एक तत्त्व हैं। ये समुदाय ही मेरी बहिरङ्गा शक्तिगत हैं॥७.४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥७.५॥

अन्वय—इयम् तु (किन्तु यह) अपरा (निकृष्टा अर्थात् जड़ा प्रकृति है) इतः (इससे) अन्याम् (भिन्न) मे (मेरी) प्रकृतिम् (प्रकृतिको) पराम् (उत्कृष्ट) विद्धि (जानो) यया (जिस चेतन शक्तिसे) इदम् जगत् (यह जगत्) धार्यते (अपने कर्म द्वारा भोगनेके लिए गृहीत होता है)॥७.५॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त मेरी एक तटस्था प्रकृति है, जिसे 'परा–प्रकृति' कहा जाता है। वह प्रकृति चैतन्यस्वरूपा और जीवस्वरूपा है। समस्त जीव उसी शक्तिसे निःसृत होकर इस जड़–जगत्को चैतन्यविशिष्ट किये हुये हैं। मेरी अन्तरङ्गा शक्तिसे निःसृत चित्–जगत् और बहिरङ्गा शक्तिसे निःसृत जड़–जगत्—इन दोनों जगतोंके उपयोगी होनेके कारण जीवशक्तिको 'तटस्था शक्ति कहा जाता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥७.६॥

अन्वय—सर्वाणि भूतानि (समस्त भूत) एतत् योनीनि (पूर्वोक्त दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुये हैं) इति उपधारय (ऐसा समझो) अहम् (मैं) कृत्स्नस्य जगतः (समस्त जगत्का) प्रभवः (स्रष्टा) तथा प्रलयः (तथा संहारकर्त्ता हूँ)॥७.६॥

अनुवाद—चित्–अचित् समस्त जड़ और तटस्थ जगत्—इन दोनों प्रकृतियोंसे ही निःसृत हैं। अतएव भगवत्स्वरूपमें ही समस्त जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलयका मूल कारण हैँू॥७.६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७.७॥

अन्वयः—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) मत्तः (मुझसे) परतरम् (श्रेष्ठ) अन्यत् किञ्चित् न अस्ति (और कुछ नहीं है) सूत्रे मणिगणा इव (सूत्रमें मणियोंके सदृश) इदम् सर्वम् (यह सम्पूर्ण जगत्) मयि प्रोतम् (मुझमें पिरोया हुआ है)॥ ७.७॥

अनुवाद—हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार धागेमें मणियाँ गुँथि रहती हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व ही मुझमें अवस्थान करता है॥७.७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥७.८॥

अन्वयः—कौन्तेय (हे अर्जुन!) अहम् (मैं) अप्सु (जलमें) रसः (रस हूँ) शशिसूर्ययोः (चन्द्रमा और सूर्यमें) प्रभा (ज्योति हूँ) सर्ववेदेषु (सभी वेदोंमें) प्रणवः (ओंकार हूँ) खे (आकाशमें) शब्दः (शब्द हूँ) नृषु (पुरुषोंमें) पौरुषम् (पुरुषत्व हूँ)॥७.८॥

अनुवाद—हे कौन्तेय! मैं जलका रस, चन्द्र-सूर्यकी प्रभा, समस्त वेदोंका प्रणव, आकाशका शब्द, मनुष्योंका पौरुष हूँ॥७.८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥७.९॥

अन्वयः—[अहम्—मैं] पृथिव्याम् पुण्यः गन्धः (पृथ्वीका पवित्र गन्ध हूँ) च (और) विभावसौ तेज (अग्निका तेज हूँ) सर्वभूतेषु जीवनम् (सभी भूतोंकी आयु हूँ) तपस्विषु च तपः अस्मि (और तपस्वियोंका तप हूँ)॥७.९॥

अनुवाद—मैं पृथ्वीका पवित्र गन्ध हूँ, सूर्यका तेज, सभी भूतोंका जीवन तथा तपस्वीका तप हूँ॥७.९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥७.१०॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) माम् (मुझे) सर्वभूतानाम् (सभी भूतोंका) सनातनम् बीजम् (नित्य कारण) विद्धि (जानो) अहम् (मैं) बुद्धिमताम् बुद्धिः (बुद्धिमानोंकी बुद्धि) तेजस्विनाम् तेजः (तेजस्वियोंका तेज) अस्मि (हूँ)॥७.१०॥

अनुवाद—हे पार्थ मैं सभी भूतोंका सनातन जीव, बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ॥७.१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥७.११॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतकुलश्रेष्ठ!) अहम् (मैं) बलवताम् (बलवानोंका) काम–राग–विवर्जिताम् (आकांक्षा और आसक्तिशून्य) बलम् (बल हूँ) च (एवं) भूतेषु (सभी भूतोंमें) धर्म–अविरुद्ध (धर्मसङ्गत) कामः अस्मि (सन्तान उत्पत्तिमात्रके उपयोगी काम हूँ)॥७.११॥

अनुवाद—हे भरतर्षभ! मैं बलवानोंका आसक्तिरहित और आकार– रहित बल तथा सभी भूतोंमें सन्तानोत्पत्ति–मात्रके उपयोगी धर्मसङ्गत काम हूँ॥७.११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥७.१२॥

अन्वय—ये एव सात्त्विकाः भावाः (जो भी सात्त्विक भावसमूह हैं) ये च (एवं जो) राजसाः तामसाः च (राजसिक और तामसिक भावसमूह हैं) तान् [सर्वान्] (उनको) मत्त एव [जात] (मुझसे ही उत्पन्न) इति विद्धि (ऐसा जानो) तेषु (उनमें) अहम् न [वर्त्ते] (मैं नहीं हूँ) तु (किन्तु) ते (वे) मयि (मुझमें) [वर्त्तन्ते—वर्तमान हैं]॥७.१२॥

अनुवाद—सात्विक, राजसिक और तामसिक–जितने भी प्रकारके भावसमूह हैं, वे समस्त मेरी प्रकृतिके गुण–कार्य हैं। मैं उन सब गुणोंसे स्वाधीन हूँ, किन्तु वे समस्त मेरी शक्तिके अधीन हैं॥७.१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥७.१३॥

अन्वय—(पूर्वोक्त इन) त्रिभिः गुणमयैः भावैः (त्रिविध गुणमय भावों द्वारा) सर्वम् जगत् (सम्पूर्ण जगत्) मोहितम् (मोहित है) एभ्यः परम् (इस त्रिगुणातीत) अव्ययम् माम् (अव्ययरूप अर्थात् अविनाशी मुझको) न अभिजानाति (नहीं जान पाते हैं)॥७.१३॥

अनुवाद—मेरी अपरा प्रकृतिके तीन गुणों–सत्व, रज, और तमः द्वारा समस्त जगत मोहित है; अतः इन समस्त गुणोंसे अतीत और स्वतन्त्र अव्ययस्वरूप मुझको नहीं जान पाते हैं॥७.१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥७.१४॥

अन्वय—एषा (यह) दैवी (अलौकिकी) गुणमयी (त्रिगुणात्मिका) मम माया (मेरी माया) दुरत्यया हि (निश्चय ही दुस्तर है) [तु—किन्तु] ये (जो) माम् एव

(मुझे ही) प्रपद्यन्ते (आश्रय करते हैं) ते (वे) एताम् मायाम् (इस मायाको) तरन्ति (अतिक्रम कर जाते हैं अर्थात् पार कर जाते हैं)॥७.१४॥

अनुवाद—यह माया मेरी ही शक्ति है, अतएव दुर्बल जीवोंके लिए इसका अतिक्रम करना स्वभावतः कठिन है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं॥७.१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥७.१५॥

अन्वय—दुष्कृतिनः (दूषित कर्म करनेवाले अथवा दुर्भाग्यशील व्यक्तिगण) मूढाः (विवेकशून्य व्यक्तिगण) नराधमाः (मनुष्योंमें नीच व्यक्तिगण) मायया अपहृतज्ञानाः (मायाके द्वारा विलुप्त ज्ञानवाले व्यक्तिगण) आसुरम् भावम् आश्रिताः (एवं आसुर भावयुक्त व्यक्तिगण) माम् (मुझको) न प्रपद्यन्ते (आश्रय नहीं ग्रहण करते हैं)॥७.१५॥

अनुवाद—असुर भावका आश्रयकर दुष्कृत, मूढ़, नराधम और माया द्वारा आच्छन्न ज्ञानविशिष्ट—ये चार प्रकारके लोग मेरी प्रपत्ति (शरणागति) स्वीकार नहीं करते हैं। (१) नितान्त अवैध जीवनवाले व्यक्ति ही दुष्कृत हैं, (२) निरीश्वर, नैतिक व्यक्तिगण ही मूढ़ हैं, क्योंकि वे नीतिके अधीश्वर 'मेरा' आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं, (३) जो नीतिके 'अङ्ग' के रूपमें मुझे मानते हैं, परन्तु नीतिके ईश्वरके रूपमें नहीं मानते हैं—वे ही नराधम हैं और (४) जो ब्रह्मादि देवताओंकी उपासना करते हैं, किन्तु 'मेरे शक्तिमत्स्वरूप', 'जीवके नित्य चित्स्वरूप', 'अचिद्वस्तुके साथ जीवके अनित्य सम्बन्धस्वरूप' तथा 'मेरे नित्यदासरूप जीवके सम्बन्धस्वरूप' को नहीं जानते हैं—वेदान्त आदि शास्त्रोंका पाठ करनेपर भी माया द्वारा उनका ज्ञान आवृत्त रहता है अर्थात् वे आच्छन्न ज्ञानविशिष्ट रहते हैं॥७.१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥७.१६॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ!) आर्तः (रोग-शत्रु-भयादिसे अभिभूत) जिज्ञासुः (आत्मज्ञानार्थी) अर्थार्थी (ऐहिक और पारलौकिक भोग चाहनेवाले) ज्ञानी च (एवं तत्त्वज्ञ ज्ञानी) एते (ये) चतुर्विधा सुकृतिनः (वैध जीवनमें अवस्थित चार प्रकारके सुकृतिशील) जनाः (जनसमूह) माम् (मुझको) भजन्ते (भजते हैं)॥७.१६॥

अनुवाद—दुष्कृत व्यक्तियोंके लिए मेरा भजन करना प्रायः सम्भव नहीं है, क्योंकि वे क्रमोन्नतिके पथ पर नहीं हैं। उनमें-से आकस्मिक रूपसे कभी-कभी किसी-किसीको मेरा भजन प्राप्त हुआ है। वैध जीवनमें अवस्थित सुकृतिवान् व्यक्तियोंमें चार प्रकारके लोग मेरे भजनके योग्य हैं। जो काम्य कर्मपरायण हैं, वे प्राप्तक्लेश द्वारा सन्तप्त होकर मेरा स्मरण करते हैं—ये ही आर्त्त हैं। दुष्कृत व्यक्ति भी आर्त्त होकर कभी-कभी मेरा स्मरण करते हैं। पूर्वोक्त मूढ़ नीतिवादिगण तत्त्वजिज्ञासाके क्रममें जब ईश्वरकी प्रयोजनीयताका बोध करते हैं, तब तत्त्व-जिज्ञासारूपसे क्रमशः मेरा स्मरण करते हैं। पूर्वोक्त नराधमगण नीतिगत ईश्वरसे सन्तुष्ट नहीं होनेपर जब नीतिके अधीश्वरको जान पाते हैं, तब वे वैध भक्त होकर अर्थार्थीके रूपसे मेरा स्मरण करते हैं। जब ब्रह्म और परात्मज्ञानको असम्पूर्ण जानकर जीव मेरे शुद्ध ज्ञानका आश्रय करता है, तब माया द्वारा आच्छन्नज्ञानविशिष्ट पुरुषका मायाच्छादन दूर होनेपर पुरुष स्वयंको भगवत्स्वरूपका नित्यदास जानकर मेरी प्रपत्ति स्वीकार करता है। फलतः आर्त्त लोगोंके कामरूप कषाय, जिज्ञासुओंके सामान्य नैतिक ज्ञानबद्धतारूप कषाय, अथार्थियोंके सामान्य पारलौकिक स्वर्गप्राप्तिकी आशारूप कषाय एवं ज्ञानियोंके ब्रह्मलय एवं भगवत्तत्त्वमें अनित्यत्व बुद्धिरूप कषाय दूर होनेपर—ये चारों प्रकारके जीव भक्तिके अधिकारी हो सकते हैं। जब तक कषाय वर्त्तमान रहता है, तब तक इन सभी व्यक्तियोंकी भक्ति प्रधानीभूता है। कषाय दूर होनेपर ये 'केवला', 'अकिञ्चना' या 'उत्तमा' भक्ति प्राप्त करते हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥७.१७॥

अन्वय—तेषाम् (उनमें से) नित्ययुक्तः (मुझमें एकाग्रचित्त) एकभक्तिः (एकमात्र मुझमें अनुरक्त) ज्ञानी (तत्त्वविद्) विशिष्यते (श्रेष्ठ हैं) हि (क्योंकि) अहम् (मैं) ज्ञानिनः (ज्ञानीको) अत्यर्थम् प्रियः (अत्यन्त प्रिय हूँ) सः च (और वे भी) मम प्रियः (मुझे प्रिय हैं)॥७.१७॥

अनुवाद—कषायशून्य आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भी मेरे परायण होकर 'भक्त' होते हैं। किन्तु उनमेंसे ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान-कषायका परित्यागकर शुद्ध ज्ञान प्राप्तकर भक्तियोगयुक्त होकर अन्यान्य तीन प्रकारके भक्तोंकी अपेक्षा श्रेष्ठताको प्राप्त करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वभावतः ज्ञानाभ्यास द्वारा चैतन्यस्वरूप जीवका स्वरूप जितना विशुद्ध होता है, कर्मी इत्यादिके कर्म-कषायादि दूर होनेपर

भी उनके स्वरूपकी स्थिति उतनी विशुद्ध नहीं होती है। भक्तके सङ्गसे अन्तमें सभीको स्वरूपकी अवस्थिति प्राप्त होती है। साधन दशामें उक्त चार प्रकारके अधिकरियोंमें 'एकभक्ति' विशिष्ट ज्ञानी–भक्त ही मेरे विशुद्ध दास हैं एवं मैं भी उनका अत्यन्त प्रिय हूँ। श्रीशुकदेवादिकी भगवत्–ज्ञान–स्फूर्त्ति ही इसके उदाहरण हैं। शुद्ध ज्ञानलब्ध भक्तोंका साधनकालीन भगवत्–कैङ्कर्य विशुद्ध चिन्मय होता है, उसमें जड़गन्ध प्रवेश नहीं कर सकती है॥७.१७॥

उदाराः सर्वः एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥७.१८॥

अन्वय—एते सर्व एव (ये सभी) उदाराः (महत् हैं) ज्ञानी तु (किन्तु ज्ञानी) आत्मा एव (आत्मस्वरूप ही हैं) मे मतम् (यही मेरा मत है) हि (क्योंकि) सः (वे) युक्तात्मा (मद्गतचित्त होकर) अनुत्तमाम् गतिम् (सर्वोत्कृष्ट गतिस्वरूप) मामेव (मुझे ही) आस्थितः (आश्रय करते हैं)॥७.१८॥

अनुवाद—केवला भक्ति स्वीकार कर पूर्वोक्त चारों प्रकारके अधिकारी परम उदार होते हैं। किन्तु ज्ञानी भक्तकी स्वात्म निष्ठता अर्थात् चैतन्यनिष्ठता अधिक प्रबल होनेके कारण वे चैतन्य गतिरूप जो सर्वोत्तम गति मैं हूँ—उसमें अवस्थित रहते हैं। वे मेरे अत्यन्त प्रिय हैं तथा मुझे अत्यन्त वशीभूत करते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥७.१९॥

अन्वय—सर्वम् वासुदेवः (समस्त वस्तुएँ वासुदेवमय हैं) इति ज्ञानवान् (ऐसे ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति) बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते (अनेक जन्मोंके बाद) माम् (मुझको) प्रपद्यते (आश्रय करते हैं) सः (ऐसे) महात्मा (महात्मा) सुदुर्लभः (नितान्त दुर्लभ हैं)॥७.१९॥

अनुवाद—जीवसमूह अनेक जन्मोंतक साधन करते–करते ज्ञान लाभ करते हैं अर्थात् चैतन्यनिष्ठ होते हैं। चैतन्यनिष्ठ होनेके समय सर्वप्रथम थोड़े परिमाणमें जड़त्यागकालीन 'अद्वैत–भाव' का अवलम्बन करते हैं, उस समय जड़ीय–विशेषके प्रति घृणाप्रयुक्त विशेष–धर्मके प्रति उदासीन होते हैं। चैतन्य–धर्ममें थोड़ी अवस्थिति होते ही चैतन्यके विशेषधर्मको जानकर उसमें अनुरक्त होते हैं। अनुरक्त होकर वे परमचैतन्यरूप मेरी प्रपत्ति स्वीकार करते हैं। उस समय वे ऐसा सोचते हैं कि यह जड़–जगत् स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि यह तो चैतन्य वस्तुका एक हेय प्रतिफलन

मात्र है—इसमें भी वासुदेव–सम्बन्ध है। अतएव समस्त (वस्तुएँ) ही 'वासुदेवमय' हैं। जिनकी ऐसी भगवत् प्रपत्ति है—वे महात्मा अति दुर्लभ हैं॥७.१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥७.२०॥

अन्वय—तैः तैः कामैः (आर्त्ति दूर करने आदि कामनाओंके द्वारा) हृतज्ञानाः (जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे लोग) तम् तम् नियमम् (उस–उस नियमका) आस्थाय (आश्रयकर) स्वया–प्रकृत्या–नियताः (अपने स्वभावके वशीभूत होकर) अन्य देवताः (अन्य देवताओंको) प्रपद्यन्ते (भजते हैं)॥७.२०॥

अनुवाद—आर्त्तादि व्यक्तिगण कषायशून्य होकर मेरी भक्ति करते हैं। जब तक उनके कषाय दूर नहीं हो जाते, तब तक वे स्वभावतः बहिर्मुख होते हैं। जो कामी होकर भी मेरे स्वरूपका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे बहिर्मुखताको आश्रय नहीं देते हैं। मैं अत्यल्प कालमें ही उनके कामको दूर कर देता हूँ। किन्तु, जो मुझसे बहिर्मुख होते हैं, वे काम द्वारा अपहृतज्ञान होकर शीघ्र ही तुच्छ फल प्राप्त करनेके लिए उन–उन फलोंको प्रदान करनेवाले देवताओंकी उपासना करते हैं। वे विशुद्ध सत्त्वरूप मुझसे प्रेम नहीं करते, क्योंकि वे अपने–अपने तामसिक और राजसिक स्वभावसे चालित होकर उन–उन क्षुद्र नियमोंका पालनकर तदनुरूप देवताओंकी उपासना करते हैं॥७.२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥७.२१॥

अन्वय—यः यः भक्त (जो–जो सकाम भक्त) याम् याम् तनुम् (जिस–जिस देवमूर्त्तिकी) श्रद्धया (श्रद्धापूर्वक) अर्चितुम् इच्छति (पूजा करनेकी इच्छा करता है) अहम् (मैं) तस्य तस्य (उस–उसकी) श्रद्धाम् (श्रद्धाको) तामेव (उनमें ही) अचलाम् (दृढ) विदधामि (करता हूँ)॥७.२१॥

अनुवाद—जिसकी स्पृहा जिस देवमूर्त्तिको पूजनेकी होती है, अन्तर्यामी मैं श्रद्धानुसार उसकी श्रद्धाको उस मूर्त्तिमें अचल कर देता हूँ॥७.२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥७.२२॥

अन्वय—सः (वह व्यक्ति) तया श्रद्धया युक्तः (उस श्रद्धासे युक्त होकर) तस्याः (उस देवताकी) आराधनम् ईहते (पूजाका प्रयास करता है) च (एवं) मया

एव (अन्तर्यामीरूपमें मेरे द्वारा ही) विहितान् (विहित) तान् कामान् (उन कामनाओंको) ततः (उस देवतासे) हि लभ्यते (अवश्य प्राप्त करता है)॥७.२२॥

अनुवाद— वे श्रद्धापूर्वक उस देवताकी आराधना करते हैं। उस देवतासे मेरे द्वारा विहित कामनाओंकी पूर्ति करते हैं॥७.२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥७.२३॥

अन्वय—तु (किन्तु) तेषाम् अल्पमेधसाम् (उन अल्पबुद्धिवालोंका) तत् फलम् (वह फल) अन्तवत् (नश्वर होता है) देवयज्ञः (देवताओंको पूजनेवाले) देवान् (देवताओंको) यान्ति (प्राप्त होते हैं) मद्भक्ताः (मेरे भक्तगण) माम् अपि (मुझे ही) यान्ति (प्राप्त होते हैं)॥७.२३॥

अनुवाद—जो जिस प्रकारकी कामना करते हैं, वे वैसा ही फल प्राप्त करते हैं—यही न्यायसंगत है। क्योंकि देवता और देवलोक दोनों ही अनित्य हैं; उनकी नित्य सेवा प्राप्त करते हैं। इसलिए मेरे भक्तगण सकाम होनेपर भी नित्यफलरूप मुझे ही प्राप्त करते हैं॥७.२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥७.२४॥

अन्वय—अबुद्धयः (बुद्धिहीन व्यक्तिगण) मम् (मेरे) अनुत्तमम् (सर्वोत्तम) परम् (सर्वश्रेष्ठ) अव्ययम् (अव्यय) भावम् (मायातीत स्वरूप–जन्म–लीला आदिको) अजानन्तः (न जानते हुये) अव्यक्तम् (प्रपञ्चातीत) माम् (मुझको) व्यक्तिम् आपन्नम् (मायिक मनुष्यादिकी भाँति जन्म ग्रहण करनेवाला) मन्यते (मानते हैं)॥ ७.२४॥

अनुवाद—बुद्धिहीन व्यक्तिगण मेरे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अव्यय, अप्राकृत स्वरूप —जन्मलीला आदि नहीं जानकर प्रपञ्चातीत मुझे मायिक मनुष्य आदिकी भाँति जन्म–ग्रहण करनेवाला मानते हैं। वे कितना ही वेदान्तादि शास्त्रोंकी आलोचना क्यों न करें, तथापि वे निर्बोध हैं। क्योंकि, वे मेरे सर्वोत्तम, अव्यय, सर्वश्रेष्ठ, नित्य–विशेषसम्पन्न स्वरूपसे अवगत नहीं होते हैं॥७.२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥७.२५॥

अन्वय—योगमाया समावृतः (योगमाया द्वारा आच्छन्न) अहम् (मैं) सर्वस्य प्रकाशः न (सभीके दृष्टिगोचर नहीं होता हूँ) अयम् (यह) मूढः लोकः (अज्ञानी

पुरुष) अजम् (जन्मरहित) अव्ययम् (नित्य) माम् (मुझे) न अभिजानाति (नहीं जान पाता है)॥७.२५॥

अनुवाद—मैं 'अव्यक्त' था, वर्तमानमें इस सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर रूपमें 'व्यक्त' हुआ हूँ—ऐसा मत समझना। मेरा श्यामसुन्दरस्वरूप 'नित्य' है। यह चिज्जगत्के सूर्यस्वरूप स्वयं प्रतिभात होनेपर भी योगमायारूपी छाया द्वारा जन-साधारणकी दृष्टिसे गुप्त (ओझल) रहता है। इसी कारण मूढ़लोग अव्ययस्वरूप मुझको नहीं जान पाते हैं॥७.२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥७.२६॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम् (मैं) समतीतानि (अतीत) वर्त्तमानानि (वर्त्तमान) भविष्याणि च (और भविष्यके) भूतानि च (स्थावर-जङ्गम आदि भूतसमूहको) वेद (जानता हूँ) तु (किन्तु) माम् (मुझे) कश्चन (कोई) न वेद (नहीं जानता है)॥७.२६॥

अनुवाद—हे अर्जुन! नित्य-सच्चिदानन्दस्वरूप मैं समस्त अतीत विषय, वर्त्तमान तथा भविष्यके स्थावर-जङ्गमादि भूतोंको जानता हूँ किन्तु मुझे कोई नहीं जानता है। हे अर्जुन! ब्रह्म और परमात्मरूपी मेरे दोनों प्रकाश को जानकर भी मायाबद्ध समस्त लोग मेरे नित्य-मध्यमाकार श्यामसुन्दर-स्वरूपको नित्य नहीं समझते हैं॥७.२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥७.२७॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) भारत (हे भारत!) सर्गे (सृष्टिकालमें) सर्वभूतानि (समस्त प्राणी) इच्छा-द्वेष-समुत्थेन (इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन (सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे) सम्मोहम् यान्ति (सम्मोहित होते हैं)॥७.२७॥

अनुवाद—हे परन्तप! हे अर्जुन! इसका कारण यह है, जीव जब शुद्ध होता है, तभी चिदिन्द्रियके द्वारा मेरे इस 'नित्य' स्वरूपको देख पाता है। जब वह बद्ध होकर सृष्टिके बीच वर्त्तमान होता है, तब अविद्यावश इच्छा-द्वेषजनित द्वन्द्वमोह द्वारा सभी सम्मोहित हो जाते हैं। उस समय और विद्वत्-प्रतीति नहीं रहती है। मैंने अपनी चित् शक्तिके बलसे प्रपञ्चमें अपने नित्यस्वरूपको प्रकट किया है एवं उनके जड़ चक्षुके विषयीभूत हुआ हूँ, तथापि माया द्वारा आच्छन्न होकर वे

अविद्वत्–प्रतीतिको प्राप्त होकर मेरे 'नित्य'स्वरूपको अनित्य समझते हैं। यह उन लोगोंका दुर्भाग्य ही है॥७.२६॥

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥७.२८॥

अन्वय—तु (किन्तु) येषाम् (जिन) पुण्यकर्मणाम् जनानाम् (पुण्यकर्मकारी लोगोंका) पापम् अन्तगतम् (पाप नष्ट हो गया है) ते (वे) द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (सुख–दुःखादि मोहसे मुक्त व्यक्तिगण) दृढव्रताः (दृढ़व्रती होकर) माम् (मुझे) भजन्ते (भजते हैं)॥७.२८॥

अनुवाद—जिससे मेरे इस 'नित्य' स्वरूपकी विद्वत्प्रतीति प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त होता है—उसे श्रवण करो। पापाविष्ट असुर स्वभाववाले लोगोंको विद्वत्–प्रतीति नहीं होती है। जो धर्मसङ्गत जीवन स्वीकारकर प्रभूत पुण्य कर्मोंके द्वारा अपने जीवनसे पापोंको पूर्णरूपेण समाप्त कर चुके हैं, वे ही सर्वप्रथम कर्मयोग स्वीकार करते हैं, बादमें ज्ञान और अन्तमें ध्यानयोग द्वारा समाधिक्रमसे मेरे चित्–तत्त्वको देख पाते हैं। विद्या द्वारा जो प्रतीति होती है, वही 'विद्वत्–प्रतीति' है। वे ही क्रमशः द्वैत–अद्वैतरूप द्वन्द्वसे मुक्त और दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं॥७.२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥७.२९॥

अन्वय—ये (जो) जरा–मरण–मोक्षाय (जरा और मरणसे मुक्त होनेके लिए) माम् (मुझे) आश्रित्य (आश्रयकर) यतन्ति (यत्न करते हैं) ते (वे) तत् ब्रह्म (उस ब्रह्मको) कृत्स्नम् (समस्त) अध्यात्म (जीवात्माको) अखिलम् कर्म च (और सम्पूर्ण कर्मको अर्थात् नाना प्रकारके कर्म तथा इसके फलस्वरूप संसार प्राप्तिको) विदुः (जानते हैं)॥७.२९॥

अनुवाद—जड़ शरीरमेंही जरा–मरण होता है। जीवका जो नित्य चित्–देहको प्राप्त कर मेरे नित्यदासरूपी नित्यधर्मको प्राप्त करनेको ही 'मोक्ष' कहते हैं। मेरी साधन–भक्ति द्वारा जो पुरुष जरा–मरण रहित मोक्षका अनुसन्धान करते हैं, उन्हींका यत्न श्रेष्ठ है। वे युक्तचित्त पुरुष ब्रह्मत्व, अध्यात्म–तत्त्व तथा अखिल कर्मत्व को जानते हैं॥७.२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥७.३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विज्ञानयोगो' नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अन्वय—ये च (और जो) साधिभूताधिदेवम् (अधिभूत और अधिदैव सहित) माम् (मुझे) विदुः (जानते हैं) ते (वे) युक्तचेतसः (मुझमें आसक्त चित्तवाले) प्रयाणकाले अपि (मरणकालमें भी) माम् (मुझे) विदुः (जानते हैं)॥७.३०॥

अनुवाद—जो अधिभूत–तत्त्व, अधिदैव तत्त्व और अधियज्ञ–तत्त्वके सहित मुझको जानते हैं, वे ही मृत्यु कालमें भी मुझे जान सकते हैं॥७.३०॥

सप्तम अध्याय समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

अष्टम अध्याय (तारकब्रह्मयोग)

अर्जुन उवाच—

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥८.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) तद् ब्रह्म किम् (वह ब्रह्म क्या है) अध्यात्मम् किम् (अध्यात्म क्या है) कर्म किम् (कर्म क्या है) अधिभूतम च किम् प्रोक्तम् (और अधिभूत किसे कहते हैं) अधिदैवम् किम् उच्यते (अधिदैव किसे कहते हैं)॥८.१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥८.२॥

अन्वय—मधुसूदन (हे मधुसूदन!) अत्र देहे (इस देहमें) अधियज्ञः कः (यज्ञके अधिष्ठाता कौन हैं) अस्मिन् (इस देहमें) कथम् (किस प्रकार) स्थितः (अवस्थित हैं) च (एवं) प्रयाणकाले (मृत्युके समय) नियतात्मभिः (संयत चित्तवाले पुरुषोंके द्वारा) कथम् (किस उपायसे) ज्ञेयः असि (ज्ञात होते हैं)॥८.२॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छह शब्दोंका वास्तविक अर्थ क्या है? एवं नियत आत्मावाले पुरुष ही मृत्युके समय आपको किस प्रकार जान सकते हैं? हे मधुसूदन! इन सभीको स्पष्ट रूपसे बतावें॥८.१–२॥

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं परमं बह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥८.३॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अक्षरम् परमम् (परम अक्षर वस्तु) ब्रह्म (ब्रह्म है) स्वभावः (जीव) अध्यात्मम् उच्यते (अध्यात्म कहलाता है) भूतभावोद्भवकरः (जीवोंके देहादिकी उत्पत्ति तथा वृद्धि करनेवाला) विसर्गः (जीवका संसार) कर्मसंज्ञितः (कर्म नामसे अभिहित होता है)॥८.३॥

अनुवाद—श्रीभगवान् बोले—अक्षर तत्त्व अर्थात् नित्य विनाशरहित एवं स्थानान्तरशून्य तत्त्व ही 'परब्रह्म' है। 'परब्रह्म' शब्द द्वारा केवल नित्यविशेषयुक्त भगवत्स्वरूप मुझे ही समझना होगा, स्वरूपशून्य ज्ञानमार्गीय ब्रह्म अथवा योगमार्गीय परमात्माको नहीं। 'अध्यात्म' शब्दसे चित्–वस्तुके नित्य स्वभाव या विशेषको मत समझो, उस विशेष द्वारा जड़–सम्बन्धरहित शुद्ध जीवको समझो। कर्मसे भूतगण द्वारा जीवका स्थूल देह निर्माणरूपी संसार उत्पन्न होता है, इसीलिए 'कर्म' को भूतोद्भवकर 'विसर्ग' रूपमें जानो॥८.३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥८.४॥

अन्वय—देहभृताम् वर (हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!) क्षरः भावः (नश्वर पदार्थ) अधिभूतम् (अधिभूत है) पुरुषः च (एवं विराट पुरुष) अधिदैवतम् (देवताओंके अधिपति हैं) अत्र देहे (इस देहमें) अहम् एव (मैं ही) अधियज्ञः (अधियज्ञ हूँ अर्थात् अन्तर्यामीरूपमें यज्ञादि कर्मका प्रवर्त्तक हूँ)॥८.४॥

अनुवाद—नश्वर पदार्थजनक भावको 'क्षर' भाव या 'अधिभूत' कहा जाता है। अधिदैव शब्दसे सूर्यादि देवताओंके अधिपति समष्टि–विराट पुरुषको समझो अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानाधिष्ठित पुरुषको जानो। देहधारियोंके देहमें अन्तर्यामी पुरुषके रूपमें मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ॥८.४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥८.५॥

अन्वय—अन्तकाले च (अन्तकालमें) मामेव (मुझे ही) स्मरन् (स्मरण करते हुये) कलेवरम् मुक्त्वा (शरीरको त्यागकर) यः (जो) प्रयाति (प्रकृष्टरूपसे गमन करते हैं) सः (वे) मद्भावम् (मेरे भावको) याति (प्राप्त होते हैं) अत्र संशयः नास्ति (इसमें सन्देह नहीं है)॥८.५॥

अनुवाद—जो अन्तकालमें मेरा स्मरणपूर्वक शरीर परित्याग करते हैं, वे मेरे भाव ही को प्राप्त करते हैं अर्थात् मरणकालमें भी जिनको तत्त्वज्ञानपूर्वक भगवत्स्मृति उदित होती है, वे भगवद्भाव ही को प्राप्त होते हैं॥८.५॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥८.६॥

अन्वय—कौन्तेय! (हे कुन्तीपुत्र!) (यः—जो) अन्ते (अन्तकालमें) यम् यम् अपि वा भावम् (जिस–जिस विषयकी) स्मरन् (चिन्ता करते हुये) कलेवरम्

त्यजति (शरीर त्याग करते हैं) सदा (सर्वदा) तद्भावभावितः (उसी विषयके चिन्तनमें तन्मय) (सः—वे) तम् तम् एव (उसी–उसी भावको) एति (प्राप्त होते हैं)॥८.६॥

अनुवाद—जो अन्तकालमें जिस भावका स्मरण करते हुये शरीर परित्याग करते हैं, वे उस भावसे भावित तत्त्वको ही प्राप्त करते हैं॥८.६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥८.७॥

अन्वय—तस्मात् (अतः) सर्वेषु कालेषु (सर्वदा) माम् (मेरा) अनुस्मर (स्मरण करो) युध्य च (और युद्ध करो) मयि (मुझमें) अर्पितमनोबुद्धिः (मन और बुद्धि समर्पित करनेसे) माम् एव (मुझे ही) असंशयः (निःसन्देह) एष्यसि (पाओगे)॥८.७॥

अनुवाद—अतएव तुम सर्वदा ही मेरे परब्रह्म भावका स्मरण करते हुये अपना स्वभाव विहित कार्य अर्थात् युद्ध करो। इससे मुझमें तुम्हारा सङ्कल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्पित होगी और तुम मुझे ही प्राप्त करोगे इसमें संशयन मत करो॥८.७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥८.८॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अभ्यासयोग युक्तेन (अभ्यासयोगसे युक्त) न अन्यगामिना (कहीं और न जानेवाले) चेतसा (चित्तसे) दिव्यम् परमम् पुरुषम् (दिव्य परम पुरुषका) अनुचिन्तयन् (निरन्तर चिन्तन करते–करते) तमेव (उन्हें ही) भाँति (प्राप्त होता है)॥८.८॥

अनुवाद—अभ्यासयोगयुक्त अनन्यगामी चित्तद्वारा परम पुरुषकी चिन्ता करते–करते परम पुरुषको ही प्राप्त होओगे अर्थात् क्षर तत्त्व आदि रूपमें पुनरागमनको प्राप्त नहीं होओगे॥८.८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥८.९॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥८.१०॥

अन्वय—यः (जो) कविम् (सर्वज्ञ) पुराणम् (अनादि) अनुशासितारम् (सबके नियन्ता) अणोः अणीयांसम् (सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर) सर्वस्य धातारम् (सबके विधाता)

अचिन्त्यरूपम् (चिन्तातीत रूप) आदित्यवर्णं (सूर्यके सदृश स्वप्रकाशित) तमसः परस्तात् (मायातीत स्वरूपका) प्रयाणकाले (मृत्युकालमें) अचलेन मनसा (निश्चल मनसे) भक्त्या युक्तः (भक्तियोगके साथ) योगबलेन च एव (योगके प्रभावसे ही) भ्रुवोः मध्ये (आज्ञाचक्रमें) प्राणम् (प्राणवायुको) सम्यक् आवेश्य (भलीभाँति स्थापितकर) अनुस्मरेत् (निरन्तर स्मरण करते हैं) सः (वे) तम् दिव्यम् (उस दिव्य) परमम् पुरुषम् (परम पुरुषको) उपैति (प्राप्त होते हैं)॥८.९–१०॥

अनुवाद—परम पुरुषका ध्यान बता रहा हूँ—श्रवण करो—वे सर्वज्ञ, सनातन, नियन्ता, अतिसूक्ष्म, सभीके विधाता, जड़बुद्धिके लिए अचिन्त्यस्वरूप नित्य–मध्यमाकार, तथापि स्वप्रकाशवशतः आदित्यवत् स्वरूप–प्रकाशक वर्णविशिष्ट एवं जड़ा प्रकृतिके अतीत तत्त्व हैं। मरणकालमें निश्चल मनवाला होकर भक्तिसहित पूर्व योगाभ्यासवशतः दोनों भृकुटियोंके मध्यमें प्राणको स्थितकर, उस दिव्य पुरुषके समीप प्रयाण करना चाहिए। जिससे कि मरण–क्लेश द्वारा चित्त–विक्षेप न हो, उसके उपायस्वरूप यह योग उपदिष्ट हुआ है॥८.९–१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥८.११॥

अन्वय—वेदविदः (वेदज्ञ लोग) यत् (जिसे) अक्षरम् (अविनाशी) वदन्ति (कहते हैं) वीतरागाः (वासनारहित) यतयः (संन्यासिगण) यत् (जिसमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) यत् (जिसकी) इच्छन्तः (अभिलाषाकर) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्यका) चरन्ति (आचरण करते हैं) तत् पदम् (वह प्राप्य वस्तु) ते (तुम्हें) संग्रहेण (संक्षेपमें) प्रवक्ष्ये (कहूँगा)॥८.११॥

अनुवाद—वेदविद् पण्डितगण जिसे 'अक्षर' कहते हैं, कामनाशून्य संन्यासिगण जिसमें प्रविष्ट होते हैं, जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वह प्राप्यवस्तु तुम्हें उपायसहित बता रहा हूँ॥८.११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥८.१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहारन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥८.१३॥

अन्वय—सर्वद्वाराणि (समस्त इन्द्रियरूप द्वारोंको) संयम्य (रोककर) मनः (मनको) हृदि (हृदयमें) निरुध्य (निरोधकर) मुर्ध्नि (भ्रूमध्यमें) प्राणम् (प्राणको) आधाय (स्थापितकर) आत्मनः योगधारणाम् (आत्मविषयक योगस्थैर्य) आश्रितः

(आश्रयकर) यः (जो) ओम् (ॐ) इति एकाक्षरम् ब्रह्म (इस एकाक्षर ब्रह्मका) व्याहरन् (उच्चारण करते–करते) माम् (मुझे) अनुस्मरण (स्मरण करते–करते) देहम् त्यजन् (देहको त्यागकर) प्रयाति (प्रयाण करते हैं) सः (वे) परमाम् गतिम् (श्रेष्ठ गति) याति (लाभ करते हैं)॥८.१२–१३॥

अनुवाद—योगधारणा–क्रमसे समस्त इन्द्रियद्वारोंका संयमकर मनको हृदयमें निरोधपूर्वक एवं प्राणको दोनों भौंहोंके मध्यमें सन्निवेश करते हुये 'ॐ' इस वेदमूल अक्षरका उच्चारण करते–करते, जो शरीर त्याग करते हैं, वे मेरे सालोक्यादिरूपी परम गतिको प्राप्त करते हैं॥८.१२–१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥८.१४॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अनन्यचेताः (अन्य भावनाशून्य) यः (जो) माम् (मुझे) सततम् (निरन्तर) नित्यशः (प्रतिदिन) स्मरति (स्मरण करते हैं) तस्य नित्ययुक्तस्य (उन नित्ययुक्त) योगिनः (योगीके लिए) अहम् (मैं) सुलभः (सुलभ हूँ)॥८.१४॥

अनुवाद—आर्त्त, जिज्ञासु, अथार्थी और ज्ञानीके सम्बन्धमें विचार आरम्भकर जरा–मरण–मोक्षतक तुम्हें कर्मशिक्षा दी अर्थात् कर्मप्रधानीभूता भक्तिके स्वरूपकी व्याख्या की तथा 'कविं पुराणम्' इत्यादि श्लोकसे आरम्भकर अबतक योगमिश्रा अर्थात् योगप्रधानीभूता भक्तिके स्वरूपकी व्याख्या की। इनके बीच–बीचमें केवला भक्तिका अनुभव करानेके लिए कुछ–कुछ संकेत दिया है। अभी केवला भक्तिका स्वरूप बता रहा हूँ, श्रवण करो—जो अनन्यचित्त होकर केवल मेरा ही स्मरण करते हैं, मैं उन नित्ययुक्त भक्तयोगीके लिए सुलभ हूँ अर्थात् प्रधानीभूता भक्तिसे मुझे प्राप्त करना दुर्लभ है—ऐसा जानो॥८.१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥८.१५॥

अन्वय—महात्मनः (महात्मागण) माम् उपेत्य (मुझे प्राप्तकर) पुनः (पुनः) दुःखालयम् (दुःखके सागर) अशाश्वतम् (अनित्य) जन्म (जन्म) न आप्नुवन्ति (प्राप्त नहीं होते हैं) [ते—वे] परमाम् संसिद्धिम् (श्रेष्ठ सिद्धिको) गताः (प्राप्त हुये हैं)॥८.१५॥

अनुवाद—भक्तियोगिगण अनित्य और दुःखालयरूप पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि वे परम संसिद्धि लाभ करते हैं। अनन्य चित्तत्व ही केवला भक्तिका

लक्षण है। योग–ज्ञानादिके भरोसेका परित्यागकर जो व्यक्ति अनन्यरूपसे मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे केवला भक्तिका अनुष्ठान करते हैं॥८.१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥८.१६॥

अन्वय–अर्जुन (हे अर्जुन!) आब्रह्मभुवनात् लोकाः (ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोक) पुनरावर्त्तिनः (पुनरावर्त्तनशील हैं) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) माम् उपेत्य (मुझे प्राप्त होकर) पुनः जन्म न विद्यते (पुनर्जन्म नहीं होता है)॥८.१६॥

अनुवाद—हे अर्जुन! ब्रह्मलोक अर्थात् सत्यलोकसे आरम्भकर समस्त लोक ही अनित्य हैं। उन–उन लोकोंके जीवोंका पुनर्जन्म सम्भव है। हे कौन्तेय! किन्तु, जो केवला भक्तिके विषयरूप मुझे आश्रय करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। जो कर्मयोगी, अष्टाङ्गयोगी हैं और प्रधानीभूता भक्तिका आश्रय करते हैं, उनके सम्बन्धमें जो पुनर्जन्म नहीं होनेकी बात कही गई है, उसका तात्पर्य यह है कि केवला भक्ति ही इस समस्त प्रक्रियाका चरम फल या संसिद्धि है। वे क्रमशः केवला भक्ति प्राप्तकर पुनर्जन्मसे उद्धार पाते हैं॥८.१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥८.१७॥

अन्वय—सहस्रयुगपर्यन्तम् (एक हजार चतुर्युग व्यापी) ब्रह्मणः (ब्रह्माका) यत् अह (जो दिन है) युग सहस्राभ्याम् (एवं एक हजार चतुर्युग व्यापी) रात्रिम् (रात है, उनको) विदुः (जो जानते हैं) ते जनाः (वे लोग) अहोरात्र विदः (दिन और रातके तत्त्वको जाननेवाले हैं)॥८.१७॥

अनुवाद—मनुष्यकी गणनाके अनुसार एक हजार चतुर्युग तक ब्रह्माका एकदिन तथा एक हजार चतुर्युग तक उसकी एक रात्रि होती है। इस प्रकार एक सौ वर्ष तक जीवित रहनेके बाद ब्रह्माका भी पतन होता है। जो ब्रह्मा भगवत्परायण होते हैं, उनकी ही मुक्ति होती है। जब ब्रह्माकी ही ऐसी गति है, तो उनके लोकगत संन्यासियोंका अभयत्व कैसे नित्य होगा? अर्थात् उनका अभयत्व नित्य नहीं है॥८.१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥८.१८॥

अन्वय—अहरागमे (दिनके उपस्थित होनेपर) सर्वाः व्यक्तयः (सभी जीव) अव्यक्तात् (अव्यक्तसे) प्रभवन्ति (प्रकाशित होते हैं) रात्रागमे (रात्रिकालके उपस्थित

होनेपर) तत्र (उस) अव्यक्तसंज्ञके एव (अव्यक्त नामक कारणस्वरूपमें ही) प्रलीयन्ते (प्रलीन हो जाते हैं)॥८.१८॥

अनुवाद—उनकी अपेक्षा इस त्रिलोकमें स्थित देव, पशु, पक्षी, मानव इत्यादिका अधिक अनित्यत्व है, क्योंकि ब्रह्माकी रात्रिके अवसान होनेपर सभी 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' होते हैं तथा पुनः रात्रिके आगमन होनेपर सभी उस अव्यक्त–तत्त्वमें लीन हो जाते हैं॥८.१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥८.१९॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अयम् (यह) सः एव (वही) भूतग्रामः (जीवसमूह) भूत्वा भूत्वा (बार–बार उत्पन्न होकर) रात्र्यागमे (रात्रिके आगमनकालमें) प्रलीयते (लीन होते हैं) (पुनः पुनः) अहरागमे (दिनके आगमनकालमें) अवशः (नियमके अधीन होकर) प्रभवति (प्रादुर्भूत होते हैं)॥८.१९॥

अनुवाद—चर–अचर समस्त प्राणि ब्रह्माके दिवा भागमें उत्पन्न होकर रात्रिके आगमन कालमें लयको प्राप्त होते हैं॥८.१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥८.२०॥

अन्वय—तु (किन्तु) तस्मात् अव्यक्तात् (पूर्वोक्त अव्यक्तसे) परः (श्रेष्ठ) अन्यः (अन्य अथवा विलक्षण) सनातनः (अनादि) अव्यक्तः यः भावः (अव्यक्त जो भाव या पदार्थ है) सः (वह) सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु (सभी भूतोंके नष्ट होनेपर भी) न विनश्यति (विनष्ट नहीं होता है)॥८.२०॥

अनुवाद—उक्त अव्यक्त भावसे भी जो सनातन अव्यक्त तत्त्व है, वह तत्त्व इतना श्रेष्ठ और 'नित्य' है कि सभी भूतोंके नष्ट होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता है॥८.२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥८.२१॥

अन्वय—अव्यक्तः अक्षरः इति (उस अव्यक्त भावको जन्म आदिरहित अक्षरतत्त्व कहते हैं) तम् (उसे) परमाम् गतिम् (परम गति) आहुः (कहते हैं) यम् (जिसे) प्राप्य (प्राप्तकर) न निवर्त्तन्ते (संसारमें पुनरागमन नहीं होता है) तत् (वह) मम् (मेरा) परमम् धाम (परम धाम है)॥८.२१॥

अनुवाद—उसी अव्यक्तको 'अक्षर' कहते हैं, वही सभी जीवोंकी परमगति है। उस अव्यक्तको ही मेरा 'धाम' जानो—जिसे प्राप्तकर जीवका संसारमें पुनः आगमन नहीं होता है॥८.२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥८.२२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) भूतानि (भूतसमूह) यस्य (जिनके) अन्तःस्थानि (अभ्यन्तरमें स्थित हैं) येन (जिनके द्वारा) इदम् सर्वम् (यह समग्र जगत्) ततम् (व्याप्त है) सः (वे) परः पुरुषः (परम पुरुष) तु (किन्तु) अनन्या भक्त्या (अनन्या भक्तिसे ही) लभ्यः (प्राप्त होने योग्य हैं)॥८.२२॥

अनुवाद—अव्यक्त अवस्थामें स्थित वे परम पुरुष एकमात्र भक्ति द्वारा ही प्राप्य हैं। हे पार्थ! उस पुरुषके अन्तःस्थ होकर समस्त भूत वर्त्तमान हैं और वह पुरुषस्वरूप मैं ही अन्तर्यामी रूपसे सर्वत्र प्रविष्ट हूँ॥८.२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥८.२३॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) यत्रकाले (जिस काल अथवा मार्गमें) प्रयाताः योगिनः (गमनशील योगिगण) तु (निश्चय) अनावृत्तिम् आवृत्तिम् च एव (अनावृत्ति और आवृत्ति दोनोंको ही) यान्ति (प्राप्त करते हैं) तम् कालम् (उस काल अथवा मार्गके विषयमें) वक्ष्यामि (कहूँगा)॥८.२३॥

अनुवाद—मेरे अनन्य भक्तगण बिना कष्टके ही मुझे प्राप्त करते हैं, किन्तु जो मेरी अनन्य भक्ति न प्राप्तकर कर्म-ज्ञानादिपर विश्वास करते हैं, उनके लिए मेरी प्राप्ति बहुकष्टमिश्रित है। उनका गमनकाल और मार्ग देश-काल द्वारा परिच्छिन्न है। उसका विवरण दे रहा हूँ, श्रवण करो। अर्थात्, जिस कालमें मृत्यु होनेपर योगिगण पुनः संसारमें नहीं आते हैं तथा जिस कालमें मृत्यु होनेपर उनका पुनरागमन होता है—उसे बता रहा हूँ॥८.२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥८.२४॥

अन्वय—अग्निः (अग्नि) ज्योतिः (ज्योति) अहः (शुभदिन) शुक्लः (शुक्ल पक्ष) षण्मासा उत्तरायणम् (छह मासरूप उत्तरायण काल) तत्र (उस समयमें) प्रयाता (देहका त्याग करनेवाले) ब्रह्मविदः जनाः (ब्रह्मविद्गण) ब्रह्म गच्छन्ति (ब्रह्मको प्राप्त होते हैं)॥८.२४॥

अनुवाद—ब्रह्मविद् पुरुष अग्नि, ज्योति, शुभदिन और उत्तरायणकालमें देहत्यागकर ब्रह्म लाभ करते हैं। 'अग्नि' और 'ज्योति'—इन दोनों शब्दोंसे अर्चि (प्रकाश) के अभिमानी देवता, 'अहः' शब्दसे दिनके अभिमानी देवता, 'शुक्ल' शब्दसे पक्षके अभिमानी देवता तथा 'उत्तरायण' शब्दसे उत्तरायणके अभिमानी देवताको समझना चाहिए अर्थात् तत्त्ववस्तु और कालप्राप्त मन आदि इन्द्रियोंकी प्रसन्नता ही योगीके ब्रह्म प्राप्तिका कारण होती है। इस प्रकारके समयमें मृत्यु प्राप्त होनेपर योगियोंका पुनरागमन नहीं होता है॥८.२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥८.२५॥

अन्वय—धूमः (धूमदेवता) रात्रि (रात्रिदेवता) कृष्णः (कृष्ण पक्षके देवता) षण्मासाः दक्षिणायनम् (छह मासरूप दक्षिणायनके देवता) तत्र (उस काल अथवा मार्गमें) [प्रयाताः—गमन करनेवाले] योगी (कर्मयोगी) चान्द्रमसम् ज्योतिः (चन्द्रमाके ज्योतिस्वरूप स्वर्गको) प्राप्य (प्राप्तकर) निवर्त्तते (पुनः संसारमें आगमन करते हैं)॥ ८.२५॥

अनुवाद—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायणरूपी छह मास और चन्द्रज्योति अर्थात् उस उस अभिमानी देवता या इन्द्रियक्रिया द्वारा कर्मयोगिगण पुनरावृत्ति मार्गको प्राप्त होते हैं॥८.२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥८.२६॥

अन्वय—शुक्ल–कृष्णे (शुक्ल और कृष्ण) जगतः (जगत्के) एते गती हि (ये दो मार्ग ही) शाश्वते (सनातन) मते (स्वीकार किये गये हैं) एकया (एकके द्वारा) अनावृत्तिम् (मोक्ष) याति (प्राप्त होता है) अन्यया (दूसरेके द्वारा) पुनः आवर्त्तते (पुनरावर्त्तन होता है)॥८.२६॥

अनुवाद—जगत्के 'शुक्ल' तथा 'कृष्ण' ये ही दो सनातन मार्ग हैं। शुक्लमार्गकी गतिसे जीवका मोक्ष तथा कृष्णमार्गकी गतिसे पुनरावर्त्तन होता है॥ ८.२६॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥८.२७॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एते सृती (इन दोनों मार्गोंको) जानन् (जानकर) कश्चन योगी (कोई योगी) न मुह्यति (मोहप्राप्त नहीं होते हैं) तस्मात् (अतः)

अर्जुन (हे अर्जुन!) सर्वेषु कालेषु (सभी कालमें) योगयुक्तः भव (योग परायण होओ)॥८.२७॥

अनुवाद—इन दोनों मार्गोंके तात्त्विक पार्थक्यसे अवगत होकर, इन दोनोंसे अतीत जो भक्तिमार्ग है—उसका अवलम्बनकर योगयुक्त व्यक्ति कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते हैं अर्थात् दोनों ही मार्गोंको क्लेशप्रद जानकर अनन्य भक्तियोगका अवलम्बन करते हैं। हे अर्जुन! तुम उसी योगका अवलम्बन करो॥८.२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥८.२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'तारकब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः॥

अन्वय—वेदेषु (वेदोंके पठनमें) यज्ञेषु (यज्ञोंमें) तपःसु (तपस्यामें) दानेषु च एव (और दान आदिमें) यत् (जो) पुण्यफलम् प्रदिष्टम् (पुण्यफलका उपदेश हुआ है) इदम् (यह) विदित्वा (जानकर) योगी (भक्तियोगी) तत् सर्वम् (उन सबका) अत्येति (अतिक्रमण करते हैं) च (एवं) आद्यम् (आदि) परम् स्थानम् (अप्राकृत नित्य स्थानको) उपैति (प्राप्त करते हैं)॥८.२८॥

भक्तियोगका अवलम्बन करनेसे तुम किसी भी फलसे वञ्चित नहीं होओगे। वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, तपस्या, दान इत्यादि जितने भी प्रकारके ज्ञान और कर्म हैं, उन सबके जो फल हैं—तुम उन्हें भक्तियोग द्वारा प्राप्तकर अनादि और परम (अप्राकृत) स्थानको प्राप्त होओ॥८.२८॥

अष्टम अध्याय समाप्त।

नवमोऽध्यायः

नवम अध्याय (राजगुह्ययोग)

श्रीभगवानुवाच—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥९.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) इदम् (इस) गुह्यतमम् (गुह्यतम) विज्ञानसहितम् ज्ञानम् तु (विज्ञानयुक्त केवल शुद्धभक्ति–लक्षणयुक्त ज्ञानको) अनसूयवे (दोषमुक्त) ते (तुम्हें) प्रवक्ष्यामि (कहँूगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अशुभात् (अशुभ अर्थात् दुःखमय संसारसे) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे)॥९.१॥

अनुवाद—हे अर्जुन! तुम असूया (ईर्ष्या) रहित पुरुष हो, अतएव तुम्हें परम विज्ञानयुक्त, सबकी अपेक्षा गुह्यतम ज्ञानका उपदेश दे रहा हँू, तुम इसे संग्रहकर समस्त अमङ्गलोंसे मुक्ति प्राप्त करो। द्वितीय और तृतीय अध्यायमें मैंने जिस आध्यात्मिक ज्ञानके विषयमें कहा, वह भक्तिजनक होनेके कारण 'गुह्यतर' है। एवं अभी जिस ज्ञानके विषयमें कह रहा हूँ, यह केवला–भक्तिके लक्षणसे युक्त है, अतएव यह 'गुह्यतम' है। इसके द्वारा गुणरूपी अशुभसे मुक्ति प्राप्तकर तुम गुणातीत होओगे॥९.१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥९.२॥

अन्वय—इदम् (यह ज्ञान) राजविद्या (सभी विद्याओंमें श्रेष्ठ) राजगुह्यम् (गोपनीय विषयोंमें श्रेष्ठ) उत्तमम् पवित्रम् (अतिशय पवित्र) प्रत्यक्षावगमम् (प्रत्यक्ष अनुभूतिका विषय) धर्म्यम् (धर्मसङ्गत) कर्त्तुम् सुसुखम् (सुखसाध्य) अव्ययम् (और सनातन है)॥९.२॥

अनुवाद—इस ज्ञानको 'राजविद्या' (विद्याओंका राजा) समस्त गुह्य तत्त्वोंकी अपेक्षा गुह्य, अत्यन्त पवित्र–साधक, आत्म– प्रत्यक्षानुभवस्वरूप, समस्त धर्म–साधक, निर्गुण और सहज जानो॥९.२॥

अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥९.३॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) अस्य धर्मस्य (मेरी भक्तिरूप इस धर्मके प्रति) अश्रद्धानाः (श्रद्धाशून्य) पुरुषाः (व्यक्तिगण) माम् (मुझे) अप्राप्य (नहीं प्राप्तकर) मृत्यु–संसार–वर्त्मनि (मृत्युयुक्त संसारपथमें) निवर्त्तन्ते (भ्रमण करते रहते हैं)॥९.३॥

अनुवाद—श्रद्धा ही इस ज्ञानका मूल है, क्योंकि सहज विशुद्धा रतिरूप जो इस ज्ञानका स्वरूप है, वह सर्वप्रथम बद्धजीवोंके हृदयमें श्रद्धाके रूपमें उदित होता है। हे परन्तप! जिन जीवोंमें श्रद्धाका उदय नहीं होता है, वे इस परमधर्मरूपी भगवत्–रतिको प्रदान करनेवाले ज्ञानको प्राप्त करनेमें असमर्थ होकर मुझसे निवृत्त और अत्यन्त दूर संसारमें पतित होते हैं॥९.३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥९.४॥

अन्वय—अव्यक्त मूर्त्तिना मया (मेरी इन्द्रियातीत मूर्त्ति द्वारा) इदम् सर्वम् जगत् (यह सम्पूर्ण जगत्) ततम् (व्याप्त है) सर्वभूतानि (समस्त भूत) मत्स्थानि (मुझमें अवस्थित हैं) अहम् च (किन्तु मैं) तेषु (उनमें) न अवस्थितः (अवस्थित नहीं हूँ)॥९.४॥

अनुवाद—अव्यक्त–मूर्ति अर्थात् अतीन्द्रिय मूर्त्तिस्वरूप मैं इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हूँ, चैतन्यस्वरूप मुझमें ही समस्त भूत अवस्थित हैं। जिस प्रकार घट आदिमें मिट्टी अवस्थित रहती है, मैं उस प्रकार जगत्में अवस्थित नहीं हूँ, अर्थात् जगत मेरा 'परिणाम' अथवा 'विवर्त' नहीं है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, मेरी शक्तिके प्रभावसे यह समस्त जगत उत्पन्न हुआ है एवं मेरी शक्ति ही उसमें कार्यकारिणी है। मैं पूर्ण चैतन्यरूपमें लब्धस्वरूप एक पृथक् तत्त्व हूँ॥९.४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥९.५॥

अन्वय—मे (मेरे) ऐश्वरम् योगम् (असाधारण योगैश्वर्यको) पश्य (देखो) भूतानि च (समस्त भूत भी) न मत्स्थानि (मुझमें स्थित नहीं है) मम आत्मा (मेरा स्वरूप) भूतभृत् (भूतोंको धारण करनेवाला) भूतभावनः (भूतोंका पालन करनेवाला है) न भूतस्थः (किन्तु मैं भूतोंमें अवस्थित नही हूँ)॥९.५॥

अनुवाद—मैंने कहा कि समस्त भूत मुझमें ही अवस्थित हैं। इससे यह मत समझो कि मेरे शुद्धस्वरूपमें समस्त भूत स्थित हैं। मेरी मायाशक्तिका जो प्रभाव है, वे (समस्त भूत) उसमें ही स्थित हैं। तुम जीव–बुद्धि द्वारा इसका सामञ्जस्य नहीं कर पाओगे, अतएव इसे मेरा ऐश्वर्य–योग समझकर मेरे शक्ति–कार्यको मेरे

कार्य–बोधसे मुझे 'भूतभृत', 'भूतस्थ' और 'भूतभावन' जानकर यह विचार स्थिर करो कि मुझमें देह–देहीका भेद नहीं होनेके कारण मैं सर्वस्थ होकर भी नितान्त निःसङ्ग हूँ॥९.५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥९.६॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) वायुः (वायु) सर्वत्रगः (सर्वव्यापी) महान् (अपरिसीम) [अपि—होनेपर भी] नित्यम् (नित्य) आकाशस्थितः (आकाशमें अवस्थित है) तथा (उसी प्रकार) सर्वाणि भूतानि (समस्त भूत) मत्स्थानि (मुझमें स्थित हैं) इति उपधारय (ऐसा जानो)॥९.६॥

अनुवाद—इस प्रकारके सम्बन्धका जड़ीय उदाहरण सन्तोषजनक नहीं है, अतएव बद्धजीव इस तत्त्वको धारण नहीं कर पाते हैं। तथापि, मोटे तौरपर इसे समझानेके लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ, विचारपूर्वक इसे भलीभाँति धारण करनेमें अक्षम होनेपर भी तुम उपधारणा कर सकोगे (अर्थात् थोड़ा–बहुत समझ सकते हो)। आकाश एक सर्वव्यापक वस्तु है, इसमें परमाणु इत्यादिकी जो चालना है, वह सर्वत्र गतिविशिष्ट है, तथापि आकाश सभीका आधार होकर भी उनसे निःसङ्ग है। इसी प्रकार मेरी शक्तिसे ही समस्त जीवोंकी उत्पत्ति और गति होने पर भी आकाश–सदृश मैं सर्वदा निःसङ्ग हूँ॥९.६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥९.७॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) कल्पक्षये (प्रलयकालमें) सर्वाणि भूतानि (समस्त भूत) मामिकाम् प्रकृतिम् (मेरी प्रकतिमें) यान्ति (लीन हो जाते हैं) पुनः (पुनः) कल्पादौ (सृष्टिकालमें) अहम् (मैं) तानि (उन सभीका) विसृजामि (विशेष भावसे सृजन करता हूँ)॥९.७॥

अनुवाद—हे कौन्तेय! कल्पके समाप्त होनेपर समस्त भूत मेरी ही प्रकृतिमें प्रवेश करते हैं और कल्पके आरम्भमें मैं पुनः प्रकृति द्वारा उनकी सृष्टि करता हूँ॥९.७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥९.८॥

अन्वय—स्वाम् (अपनी) प्रकृतिम् (त्रिगुणणत्मिका प्रकृतिका) अवष्टभ्य (आश्रयकर) प्रकृतेः वशात् (प्राचीन कर्मनिमित्त स्वभाववश) अवशम् (कर्म

इत्यादिके परतन्त्र) इदम् कृत्स्नम् (इस समग्र) भूतग्रामम् (भूतसमूहको) पुनः पुनः (बार–बार) विसृजामि (सृजन करता हूँ)॥९.८॥

अनुवाद—यह भूत जगत्–मेरी ही प्रकृतिके अधीन है, ये प्रकृतिके अधीन होकर मुझ इच्छामयके द्वारा बार–बार सृष्ट होते हैं। मैं अपनी प्रकृति (शक्ति) द्वारा ही उनकी सृष्टि करता हूँ॥९.८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९.९॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) तेषु कर्मसु (उन कर्मोंमें) असक्तम् (आसक्तिरहित) च (और) उदासीनवत् आसीनम् (उदासीनकी भाँति अवस्थित) माम् (मुझे) तानि कर्माणि (वे सृष्टि आदि कर्म) न निबध्नन्ति (नहीं बाँधते हैं)॥९.९॥

अनुवाद—किन्तु, हे धनञ्जय! वे समस्त कर्म मुझे आबद्ध नहीं कर सकते हैं। मैं उन कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनवत् रहता हूँ। किन्तु, वस्तुतः मैं उदासीन नहीं हूँ, बल्कि चिदानन्दमें ही सर्वदा आसक्त हूँ। उस चिदानन्दकी पुष्टिकारिणी मेरी बहिरङ्गा माया और तटस्था शक्ति ही इस भूतसमूहकी सृष्टि करती है। इसके द्वारा मेरा स्वरूप विचलित नहीं होता। ये भूतसमूह मायाके वशीभूत होकर जो–जो करते हैं, उससे मेरे शुद्ध चिदानन्द–विलासकी ही पुष्टि होती है। जड़ीय कार्योंके सम्बन्धमें मेरा उदासीनभाव सहज ही परिलक्षित होता है॥९.९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥९.१०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मया अध्यक्षेण (मेरी अध्यक्षतामें) प्रकृतिः (प्रकृति) सचराचरम् (चर–अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को) सूयते (प्रसव करती है) अनेन हेतुना (इसी कारणसे) जगत् (जगत्) विपरिवर्त्तते (पुनः पुनः उत्पन्न होता है)॥९.१०॥

अनुवाद—प्रकृति मेरी ही शक्ति है। मेरी अध्यक्षतामें ही मेरी शक्ति कार्य करती है। चित्–विलास–सम्बन्धिनी इच्छासे मैं प्रकृतिके प्रति जो कटाक्ष करता हूँ, उससे ही सभी कार्योंमें मेरी अध्यक्षता है—ऐसा जाना जाता है। इसी कटाक्ष द्वारा चालित होकर प्रकृति ही चराचर जगत्को प्रसव करती है, इसीलिए यह जगत् पुनः पुनः प्रादुर्भूत होता है॥९.१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥९.११॥

अन्वय—मूढाः (अविवेकी लोग) मम (मेरे) मानुषीम् तनुम् (मनुष्याकृति श्रीविग्रह) आश्रितम् (आश्रित) परमभावम् (परमभावको) अजानन्तः (नहीं जानकर) भूतमहेश्वरम् (भूतसमुदायके महान ईश्वर) माम् (मुझे) अवजानन्ति (मनुष्य बुद्धिसे अवज्ञा करते हैं)॥९.११॥

अनुवाद—मैंने जिन बातोंको कहा, उनसे तुम यही स्थिर करो कि मेरा स्वरूप सच्चिदानन्द है, मेरे अनुग्रहसे मेरी शक्ति समस्त कार्य करती है, किन्तु मैं समस्त कार्योंसे स्वतन्त्र हूँ। इस जड़–जगत्में मैं जो लक्षित (दृष्ट) हो रहा हूँ, वह भी केवल मेरा अनुग्रह और शक्तिका प्रभाव–मात्र है। मैं समस्त जड़ीय विधियोंसे अतीत तत्त्व हूँ, इसीलिए चैतन्यस्वरूप होकर भी मैं अपने स्वरूपमें प्रपञ्चमें प्रकाशित (गोचर) होता हूँ। मानव, जो कि अणुत्व है, वृहत्व और अव्यक्तत्व आदि असीम भावोंका विशेष आदर करता है, वह एकमात्र उनकी मायाबद्ध बुद्धिका कार्य है, किन्तु वह मेरा परमभाव नहीं है। मेरा परमभाव यह है कि मैं नितान्त अलौकिक, मध्यमाकारस्वरूप होकर भी अपनी शक्ति द्वारा युगपत (एक साथ) सर्वव्यापी तथा परमाणुसे भी क्षुद्र हूँ। मेरा यह स्वरूप–प्रकाश केवल अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे ही होता है। मूढ़ लोग मेरी इस सच्चिदानन्द मूर्त्तिको मानव शरीर समझकर यह स्थिर करते हैं कि मानव मैंने प्रपञ्च–विधिसे बाध्य होकर औपाधिक शरीर ग्रहण किया है। वे यह नहीं समझ पाते हैं कि इस स्वरूपमें ही मैं समस्त भूतोंका महेश्वर हूँ। अतः अविद्वत्–प्रतीति द्वारा वे मुझमें एक क्षुद्रभाव अर्पित (आरोपित) करते हैं। जिनकी विद्वत्–प्रतीति उदित हो गई है, वे मेरे इस स्वरूपको 'नित्य सच्चिदानन्द तत्त्व' के रूपमें समझ सकते हैं॥९.११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥९.१२॥

अन्वय—[ते—वे] मोघाशाः (निष्फल आशा) मोघकर्माणः (निष्फल कर्म) [च—और] मोघज्ञानाः (निष्फल ज्ञानवाले) विचेतसः (विक्षिप्तचित्त होकर) मोहिनीम् (मोहिनी) राक्षसीम् (तामसी) आसुरीम् च (और राजसी प्रकृतिके ही) श्रिताः (आश्रित) भवन्ति (होते हैं)॥९.१२॥

अनुवाद—यदि कहो कि अविद्वत्–प्रतीति क्यों उदित होती है? तो सुनो—मूढ़ व्यक्तिगणके राक्षसी और आसुरी प्रकृतिसे मोहित होनेके कारण, उनकी आशा, कर्म और ज्ञान—सभी निरर्थक होते हैं। लोकप्राप्तिकी आशासे उनका चित्त कर्मसे विक्षिप्त होता है। तुच्छ फलप्रद कर्मोंका अनुष्ठान करनेके कारण वे विशुद्ध ज्ञान

प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यदि कभी वे ज्ञानका अनुसंधान करते हैं, तो 'अभेदवाद'रूपी तुच्छ ज्ञान द्वारा उनकी 'विद्या' लुप्त हो जाती है। उस स्थितिमें वे सोचते हैं कि मेरी (भगवान्‌की) मूर्त्ति मायामयी है (अतः 'ईश्वर' मैं ब्रह्मसे भी 'हीन–तत्त्व' हूँ); साधनीभूत मेरी उपासना द्वारा चित्तके शुद्ध होनेपर तत्–सिद्धिरूपी निर्गुण ब्रह्म प्राप्त होगा। उसका फल यह होता है कि अन्तमें राक्षसी और आसुरी स्वभाव द्वारा जीवकी दैवी प्रकृति लुप्त हो जाती है॥९.१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥९.१३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) तु (किन्तु) महात्मानः (महात्मागण) दैवीम् प्रकृतिम् (दैवी प्रकृतिका) आश्रिताः (आश्रयकर) अनन्यमनसः (अनन्यचित्त) [सन्तः—होकर] माम् (मुझे) भूतादिम् (समस्त भूतोंका आदि कारण) [च—और] अव्ययम् (अविनाशी) ज्ञात्वा (जानकर) भजन्ति (भजन करते हैं)॥९.१३॥

अनुवाद—हे पार्थ! जो विद्वत्–प्रतीति प्राप्त करते हैं, वे महात्मा हैं। वे दैवी प्रकृतिका आश्रयकर अनन्य मनवाला होकर अर्थात् तुच्छ–फलप्रद कर्म और आत्मविनाशी शुष्क अभेदवादरूप ज्ञानके प्रति आस्था न कर, सभी भूतोंका आदि और अविनाशी जो मेरा यह कृष्ण स्वरूप है—उसीको परम तत्त्व समझकर भजन करते हैं॥९.१३॥

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥९.१४॥

अन्वय—[ते—वे] सततम् (निरन्तर) माम् (मेरा) कीर्त्तयन्तः (कीर्त्तन करते हुये) दृढव्रताः च (और दृढ़व्रती) [सन्तः—होकर] यतन्तः (यत्न करते हुये) भक्त्या च (और भक्तिसहित) नमस्यन्तः (प्रणाम करते हुये) नित्ययुक्तः (नित्ययुक्त भावसे) माम् (मेरी) उपासते (उपासना करते हैं)॥९.१४॥

अनुवाद—ये विद्वत्–प्रतीतियुक्त महात्मा भक्तगण सर्वदा मेरे नाम रूप, गुण और लीलाका कीर्त्तन करते हैं अर्थात् श्रवण–कीर्त्तनादि नवधा भक्तिका आचरण करते हैं। मेरे इस सच्चिदानन्दस्वरूपके नित्य दासत्वको प्राप्त करनेके लिए वे समस्त शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्रियाओंमें दृढ़व्रती होकर मेरा अनुशीलन करते हैं। जिससे कि सांसारिक कर्ममें चित्त विक्षिप्त न हो, इसके लिए संसार–निर्वाह–कालमें भक्तियोग द्वारा मेरी शरणापत्ति स्वीकार करते हैं॥९.१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥९.१५॥

अन्वय—अन्ये अपि च (अन्य कोई–कोई) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानयज्ञ द्वारा) यजन्तः (यजन करते हुये) एकत्वेन (अभेद भावसे) पृथक्त्वेन (पृथक् भावसे) बहुधा (विविध देवरूपसे) विश्वतोमुखम् (सर्वात्मक) माम् (मेरी) उपासते (उपासना करते हैं)॥९.१५॥

अनुवाद—हे अर्जुन! आर्त्त आदि भक्तोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ जो 'महात्मा' शब्दवाच्य अनन्य भक्तगण हैं, उन्हें मैंने अनेक प्रकारसे दिखाया। अब उनसे भी निम्न जो और भी तीन प्रकारके भक्त हैं, जिनके विषयमें पहले नहीं कहा गया है, उनके विषयमें बता रहा हूँ। पण्डितगण उन तीनों प्रकारके भक्तोंको 'अहंग्रहोपासक', 'प्रतीकोपासक' एवं 'विश्वरूपोपासक' कहते हैं। इन तीनोंमें अहंग्रहोपासक ही प्रधान हैं, वे स्वयंको 'भगवान्' कहकर अभिमानसहित उपासना करते हैं—यही परमेश्वरका यजनरूप एक प्रकारका यज्ञ है। इस अभेदज्ञानरूप यज्ञका यजन करते हुये अहंग्रहोपासकगण ब्रह्मकी उपासना करते हैं। 'प्रतीकोपासकगण' उनकी अपेक्षा तुच्छ हैं। वे स्वयंको भगवान्से पृथक् जानकर सूर्य और इन्द्रादिको 'भगवत्–विभूति' कहकर उनकी उपासना करते हैं। उनसे भी मन्दबुद्धिवाले व्यक्तिगण 'विश्वरूप' के रूपमें भगवान्की उपासना करते हैं। इस प्रकार ज्ञानयज्ञका त्रिविधत्व लक्षित होता है॥९.१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥९.१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च॥९.१७॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥९.१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥९.१९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम् (मैं) क्रतुः (अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म हूँ) अहम् (मैं) यज्ञः (वैश्वदेव आदि स्मार्त्त कर्म हूँ) स्वधा (पितृदेव श्राद्धादि हूँ) अहम् (मैं) औषधम् (औषधि हूँ) अहम् (मैं) मन्त्रः (मन्त्र हूँ) अहम् एव आज्यम् (मैं ही घृत हूँ) अहम् अग्निः (मैं अग्नि हूँ) अहम् हुतः (मैं होम हूँ) अहम् अस्य जगतः (मैं इस जगत्का) पिता माता धाता पितामहः (जनक, जननी,

विधाता, पितामह) वेद्यम् (ज्ञेय वस्तु) पवित्रम् (पवित्र) ओंकारः (ॐ कार) ऋक् साम यजुः एव च (ऋक्, साम और यजुर्वेद भी हूँ) [अहम्—मैं] गतिः (कर्मफल) भर्त्ता (पति) प्रभुः (नियन्ता) साक्षी (शुभ-अशुभ द्रष्टा) निवासः (आश्रयस्थल) शरणम् (रक्षक) सुहृत् (हितकारी) प्रभवः (स्रष्टा) प्रलयः (प्रलयकर्त्ता) स्थानम् (आधार) निधान (लयस्थान) बीजम् (कारण) अव्ययम् (अविनाशी हूँ) [अहम्—मैं] तपामि (ताप प्रदान करता हूँ) वर्षम् उत्सृजामि (वृष्टि करता हूँ) निगृह्णामि च (और आकर्षण करता हूँ) अहम् एव अमृतम् (मैं ही मोक्ष) मृत्युः च (और मृत्यु हूँ) सत् असत् च (और स्थूल तथा सूक्ष्म हूँ)॥ ९.१६-१९॥

अनुवाद—मैं ही अग्निष्टोमादि 'श्रौत' कर्म हूँ, वैश्वदेवादि स्मार्त्त कर्म हूँ, मैं ही स्वधा (पितृगणके लिए किया गया श्राद्ध) हूँ, मैं ही औषध हूँ, मैं ही मन्त्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ, मैं ही होम हूँ, मैं ही इस जगत्का पिता, माता, धाता और पितामह हूँ, मैं ही पवित्र ॐ कार हूँ, मैं ही ऋक्, साम और यजुर्वेद हूँ, मैं ही सभीकी गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत् उत्पत्ति, नाश, स्थिति, हेतु एवं अव्यय बीज हूँ। निदाघ-कालमें मैं ही ताप और वर्षा कालमें मैं ही वृष्टि हूँ। मैं ही जल वर्षण करता हूँ तथा जल आकर्षण करता हूँ, मैं ही अमृत हूँ, मैं ही मृत्यु हूँ एवं हे अर्जुन! मैं ही सत्-असत् हूँ। इस प्रकार ध्यान करते हुये विश्वरूपमें मेरी उपासना होती है॥९.१६-१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥९.२०॥

अन्वय—त्रैविद्याः (त्रिवेद-समस्त सकाम कर्मपरायणगण) यज्ञैः (यज्ञोंके द्वारा) माम् (मेरी) इष्ट्वा (पूजाकर) सोमपाः (यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पान करनेवाले) पूतपापाः (निष्पाप) [सन्तः—होकर] स्वर्गतिम् (स्वर्ग-गमनकी) प्रार्थयन्ते (प्रार्थना करते हैं) ते (वे) पुण्यम् (पुण्यफलके रूपमें) सुरेन्द्र लोकम् (देवराज इन्द्रके लोकको) आसाद्य (पाकर) दिवि (स्वर्गमें) दिव्यान् देवभोगान् (दिव्य देवभोग्य वस्तुओंका) अश्नन्ति (उपभोग करते हैं)॥९.२०॥

अनुवाद—इस प्रकार त्रिविध उपासनामें यदि भक्तिकी गन्ध रहे, तभी 'परमेश्वर' के रूपमें मेरी उपासनाकर जीव क्रमशः अपने-अपने कषायोंका परित्यागकर मेरी शुद्धा भक्ति लाभरूप मोक्ष प्राप्त करता है। अहंग्रहोपासनामें अपने प्रति उपासककी जो भगवद्बुद्धि है, वह भक्तिके आलोचना-क्रमसे दूर होकर

शुद्धभक्तिमें परिणत हो सकती है। प्रतीकोपासनामें जो अन्य देवताओंके प्रति भगवद्बुद्धि है, वह तत्त्व–आलोचना और साधु–सङ्गके क्रमसे दूर होकर सच्चिदानन्द–स्वरूप मुझमें ही पर्यवसित हो सकती है। विश्वरूपोपासनामें जो अनिश्चित परमात्म–ज्ञान है, वह मेरे स्वरूपके आविर्भाव–क्रमसे दूर होकर सच्चिदानन्द–स्वरूप मध्यमाकार मुझमें ही घनीभूत हो सकता है। किन्तु, इन त्रिविध उपासनाओंमें जिसका भगवद्वैमुख्य लक्षणरूप कर्म–ज्ञानमें आग्रह रहता है, उसको नित्यमंगलस्वरूप भक्ति प्राप्त नहीं होती है। 'अभेद साधकगण' क्रमशः भगवद्वैमुख्यवशतः मायावादरूप कुतर्कके जालमें पतित हो जाते हैं। 'प्रतीकोपासकगण' ऋक्, साम और यजुर्वेदमें उल्लिखित कर्मतन्त्रमें आबद्ध होकर उक्त वेदत्रयकी कर्मोपदेशिनी विद्यात्रयका अध्ययनकर सोमपान द्वारा निष्पाप होते हैं, क्रमशः यज्ञों द्वारा मेरी उपासनाकर स्वर्ग–प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यके फलसे प्राप्य देवलोकमें दिव्य देवभोगोंको प्राप्त होते हैं॥९.२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥९.२१॥

अन्वय—ते (वे) तम् विशालम् (उस विशाल) स्वर्गलोकम् (स्वर्गलोकको) भुक्त्वा (भोगकर) पुण्ये क्षीणे (पुण्यके क्षय होनेपर) मर्त्यलोकम् विशन्ति (मृत्युलोकमें आगमन करते हैं) एवम् (इस प्रकार) त्रयीधर्मम् (वेद–विहित कर्मोंके) अनुप्रपन्नाः (अनुसरणकारी) कामकामाः (भोगोंकी कामना करनेवाले पुरुष) गतागतम् (पुनः पुनः संसारमें आवागमन) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)॥९.२१॥

अनुवाद—तत्पश्चात् उस प्रचुर सुखजनक स्वर्गको भोगकर पुण्यके समाप्त होनेपर वे पुनः मर्त्यलोकमें आगमन करते हैं। काम–कामी व्यक्तिगण तीनों वेदोंके अनुगत होकर पुनः पुनः गमनागमन करते रहते हैं॥९.२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥९.२२॥

अन्वयः—अनन्याः (अन्य कामनारहित) माम् चिन्तयन्तः (मेरी चिन्तामें निरत) ये जनाः (जो व्यक्तिगण) पर्युपासते (सर्वतोभावेन मेरी उपासना करते हैं) तेषाम् (उन) नित्याभियुक्तानाम् (नित्य मुझमें एकनिष्ठ व्यक्तियोंका) योगक्षेम् (योग और क्षेम) अहम् वहामि (मैं वहन करता हूँ)॥९.२२॥

अनुवाद—तुम ऐसा मत समझना कि सकाम त्रिविधोपासकगण सुख प्राप्त करते हैं और मेरे भक्तगण क्लेश पाते हैं। मेरे भक्तगण अनन्यरूपसे मेरी ही

चिन्ता करते हैं। वे देह–यात्राके लिए भक्तियोगके अनुकूल समस्त विषय स्वीकार करते हैं। अतएव वे नित्य अभियुक्त हैं। वे निष्काम होकर समस्त वस्तुओंको मुझे ही अर्पण करते हैं। मैं ही उन्हें समस्त अर्थ–धनादि प्रदान करता हूँ। उनका पालन करता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि भक्तियोगविहित विषयोंको स्वीकार करनेसे बाह्य दृष्टिसे समस्त विषय भोग तो होते ही हैं और इस विषयमें सकाम प्रतीकोपासकगण एवं मेरे भक्तोंमें कोई भेद नहीं है, परन्तु भक्तोंकी कोई कामना न रहनेपर भी मैं उनके योग और क्षेमको वहन करता हूँ। मेरे भक्तोंको विशेष लाभ यह है कि वे मेरे प्रसाद (कृपा) से समस्त विषयोंको यथायोग्य भोगकर अन्तमें नित्य–आनन्दको प्राप्त करते हैं। प्रतीकोपासकगण इन्द्रियसुख भोगकर पुनः कर्मक्षेत्रमें उपस्थित होते हैं—उन्हें नित्य सुख प्राप्त नहीं होता है। समस्त विषयोंमें उदासीन होकर भी भक्त–वात्सल्यवशतः मैं भक्तोंके उपकारकी चेष्टाकर आनन्द प्राप्त करता हूँ। इसमें मेरे भक्तोंका थोड़ा भी अपराध नहीं होता है, क्योंकि वे मेरे निकट कुछ भी प्रार्थना नहीं करते हैं, मैं स्वयं उनके अभावको पूर्ण करता हूँ॥९.२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥९.२३॥

अन्वयः—हे कौन्तेय (हे कौन्तेय!) ये (जो समस्त) अन्यदेवताभक्ताः अपि (अन्य देवताओंके भक्तगण भी) श्रद्धया अन्विताः (श्रद्धायुक्त) [सन्तः—होकर] यजन्ते (आराधना करते हैं) ते अपि (वे भी) माम् एव (मुझे ही) यजन्ते (पूजते हैं) अविधिपूर्वकम् (किन्तु मुझे प्राप्त करानेवाले विधिसे विहीन होकर)॥९.२३॥

अनुवाद—"वस्तुतः सच्चिदानन्द मैं ही एकमात्र परमेश्वर हूँ। मुझसे स्वतन्त्र कोई देवता नहीं है। अपने स्वरूपमें मैं सर्वदा ही प्रपञ्चसे अतीत अप्राकृत सच्चिदानन्द तत्त्व हूँ। अनेक व्यक्तिगण सूर्यादि देवताओंकी उपासना करते हैं अर्थात् प्रपञ्चमें आबद्ध मनुष्य मायाके गुणों द्वारा प्रतिभात मेरे वैभवको ही अन्यान्य देवता समझकर उनकी आराधना करते हैं। किन्तु विचारपूर्वक देखनेसे पता चलता है कि वे (मेरी विभूति या देवतागण) मेरे गुणावतार हैं। उनके तत्त्व और मेरे स्वरूप–तत्त्वसे अवगत होकर जो लोग उन देवताओंको मेरे गुणावतारके रूपमें भजते हैं, उनका भजन वैध अर्थात् उन्नति–सोपान–सम्मत है। जो नित्य मानकर इन देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अविधिपूर्वक आराधना करते हैं—इस कारणसे उन्हें नित्यफल प्राप्त नहीं होता है॥९.२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥९.२४॥

अन्वय—हि (क्योंकि) अहम् एव (मैं ही) सर्वयज्ञानाम् (समस्त यज्ञोंका) भोक्ता च प्रभुः च (भोक्ता और प्रभु हूँ) तु (किन्तु) ते (वे लोग) माम् (मुझे) तत्त्वेन (स्वरूपतः) न अभिजानन्ति (नहीं जानते हैं) अतः (अतः) च्यवन्ति (मुझे प्राप्त करानेवाले पथसे च्युत हो जाते हैं अर्थात् संसारमें प्रत्यावर्त्तन करते हैं)॥ ९.२४॥

श्रीभक्तिविनोद—मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता तथा प्रभु हूँ। जो लोग मुझसे स्वतन्त्र ज्ञानसे अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उन्हें ही प्रतीकोपासक कहते हैं। वे मेरे तत्त्वसे अनवगत हैं, अतएव अतात्त्विक उपासनावशतः तत्त्वसे च्युत होते हैं। सूर्यादि देवताओंकी उपासना मेरी 'विभूति' समझकर करनेसे अन्तमें मङ्गल होनेकी सम्भावना है॥९.२४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥९.२५॥

अन्वयः—देवव्रताः (देवताओंको पूजनेवाले) देवान् यान्ति (देवलोकको प्राप्त होते हैं) पितृव्रताः (पितरोंको पूजनेवाले) पितृन् यान्ति (पितृलोकको प्राप्त होते हैं) भूतेज्याः (भूतोंको पूजनेवाले) भूतानि यान्ति (भूतलोकको प्राप्त होते हैं) मद्याजिनः (मुझे पूजनेवाले) माम् अपि (मुझे ही) यान्ति (प्राप्त होते हैं)॥९ २५॥

अनुवाद—जो अन्य देवताओंको ईश्वर मानकर पूजते हैं, वे अनित्य वस्तु या वस्तुधर्मका आश्रयकर उस उपास्य देवताके अनित्यतत्त्वको प्राप्त होते हैं। जो पितृगणके उपासक हैं, वे अनित्य पितृलोकको प्राप्त होते हैं। किन्तु, जो नित्य चित्–तत्त्वस्वरूप मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं। अतः फल प्राप्त करनेके सम्बन्धमें मेरा पक्षपातित्व नहीं है। मेरा अटल नियम ही निरपेक्षरूपसे जीवोंके कर्मफलका विधान करता है॥९ २५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥९.२६॥

अन्वयः—यः (जो) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) मे (मह्यम्—मेरे लिए) पत्रम् (पत्र) पुष्पम् (पुष्प) फलम् (फल) तोयम् (जल) प्रयच्छति (प्रदान करते हैं) अहम् (मैं) प्रयतात्मनः (शुद्धचित्त भक्तका) भुक्त्युपहृतम् (भक्तिपूर्वक प्रदत्त) तत् (वह) अश्नामि (ग्रहण करता हूँ)॥९.२६॥

अनुवाद—प्रयतात्मा भक्तगण भक्तिपूर्वक मुझे पत्र–पुष्प–फल जलादि जो कुछ देते हैं, मैं अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे स्वीकार करता हूँ। अन्यान्य देवपूजकगण अनेक उपकरणों द्वारा केवल तात्कालिक श्रद्धाके साथ जो पूजा करते हैं, मैं उसे ग्रहण नहीं करता हूँ। क्योंकि वे केवल किसी उपरोधक्रमसे मेरी पूजा करते हैं॥ ९.२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥९.२७॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) यत् करोषि (जो भी कर्मानुष्ठान करते हो) यत् अश्नासि (जो कुछ द्रव्य भोजन करते हो) यत् जुहोषि (जो होम करते हो) यत् ददासि (जो भी दान करते हो) यत् तपस्यसि (जो भी तप करते हो) तत् (उन सबको) मदर्पणम् (मुझे समर्पण) कुरुष्व (करो)॥९.२७॥

अनुवाद—हे अर्जुन! अब तुम अपने अधिकारको स्थिर कर लो। तुम धर्मवीरके रूपमें मेरे साथ अवतीर्ण होकर मेरी लीला–पुष्टिके कार्यमें नियुक्त हो, अतएव तुम निरपेक्ष (शान्त) भक्त या सकाम भक्तमें परिगणित नहीं हो सकते हो। अतः निष्काम–कर्म–ज्ञान मिश्रा भक्ति ही तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित होगी। इसलिए तुम्हारा कर्त्तव्य यह है कि तुम जो भी तपस्या करो—उन सबको मुझे अर्पित करो। व्यवहारिक मतसे अन्य सङ्कल्पकोंके साथ कर्मके किये जानेके बाद लोग अवशेषमें उसे मुझे अर्पित करते हैं, वह कुछ भी नहीं है अर्थात् व्यर्थ है। तुम मूलमें ही कर्मका अर्पणकर भक्तिका अनुष्ठान करो॥९.२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥९.२८॥

अन्वय—एवम् (इस प्रकार) शुभ–अशुभफलैः (शुभ और अशुभ फलरूप) कर्मबन्धनैः (कर्मबन्धनोंसे) मोक्ष्यसे (मुक्त होओगे) संन्यासयोगयुक्तात्मा (कर्मफलत्यागरूप योगसे युक्त होकर) विमुक्तः (मुक्तगणमें विशिष्ट होकर) माम् उपैष्यसि (मुझे प्राप्त होओगे)॥९.२८॥

अनुवाद—ऐसा होने पर कर्मफल–त्यागरूपी योगसे युक्त होकर युद्धादि कर्मोंके जो शुभ और अशुभ फल हैं, उनके बन्धनसे मुक्त होकर मेरा स्वरूपगत तत्त्व लाभ करोगे॥९.२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥९.२९॥

अन्वय—अहम् (मैं) सर्वभूतेषु (सभी भूतोंमें) समः (सम अर्थात् समदर्शी हूँ) मे (मेरा) न द्वेष्यः अस्ति (कोई अप्रिय नहीं है) न प्रियः (और न प्रिय है) तु (किन्तु) ये (जो) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) माम् भजन्ति (मुझे भजते हैं) ते (वे) मयि (मुझमें) [यथाः आसक्ताः—जिस प्रकार आसक्त हैं] अहम् अपि (मैं भी) तेषु च (उनके प्रति) [तथा आसक्तः—उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ]॥९.२९॥

अनुवाद—मेरा रहस्य यह है कि मैं सभी भूतोंके प्रति समताका आचरण करता हूँ। कोई मेरा द्वेष्य (अप्रिय) नहीं और कोई प्रिय नहीं है—यही मेरा साधारण नियम है। किन्तु मेरा विशेष नियम यह है कि जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे मुझमें आसक्त रहते हैं और मैं उनमें आसक्त रहता हूँ॥९.२९॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥९.३०॥

अन्वय—चेत् (यदि) सुदुराचारः अपि (विशेषरूपसे दुराचारी व्यक्ति भी) अनन्यभाक् (अनन्य भजनपरायण) [सन्—होकर] माम् (मुझे) भजति (भजता है) सः (वह) साधुः एव मन्तव्यः (साधु ही मानने योग्य है) हि (क्योंकि) सः (वह) सम्यक्–व्यवसितः (निश्चय–बुद्धिवाला है)॥९.३०॥

अनुवाद—जो अनन्यचित्त होकर मेरा भजन करते हैं, सुदुराचारी होनेपर भी उन्हें साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उनका कार्य सर्वतोभावेन सुन्दर है। सुदुराचार शब्दका अर्थ ठीक प्रकारसे समझना चाहिए। बद्धजीवका आचार दो प्रकारका होता है—'साम्बन्धिक' और 'स्वरूपगत'। शरीर–रक्षा, समाज–रक्षा और मनकी उन्नतिके सम्बन्धमें शौच, पुण्य, पुष्टिकर और अभावनिर्वाही इत्यादि जितने प्रकारके आचार अनुष्ठित होते हैं—वे सभी साम्बन्धिक हैं। शुद्धजीवस्वरूप आत्माका मेरे प्रति जो चित्कार्यरूप भजन आचार है, वह जीवका स्वरूपगत आचार है। इसीका दूसरा नाम 'अमिश्रा' अथवा 'केवला' भक्ति है। बद्धदशामें जीवकी केवला भक्ति भी साम्बन्धिक आचारके साथ अनिवार्य सम्बन्ध वहन करती है। अनन्य भजनरूपी भक्ति उदित होनेपर भी शरीर धारण करने तक साम्बन्धिक आचार अवश्य रहेगा। भक्तिके उदित होनेपर अन्य वस्तुमें जीवकी रुचि नहीं रहती है। रुचि जितने परिमाणमें श्रीकृष्णके प्रति समृद्ध होती है, उतने ही परिमाणमें अन्य विषयोंके प्रति दूर होती है। अन्य विषयोंके प्रति रुचि पूर्णरूपसे समाप्त न होनेतक कभी–कभी इतर रुचि बलप्रकाशपूर्वक कदाचारका अवलम्बन करती है, परन्तु कृष्ण–रुचि द्वारा शीघ्र ही दमित हो जाती है। भक्तिके उन्नति–सोपानपर आरूढ़ जीवका व्यवसाय

सर्वाङ्गसुन्दर है। उक्त घटनाक्रमसे यदि कभी इसमें दुराचार ही नहीं, बल्कि सुदुराचार (अर्थात् परहिंसा, परद्रव्यहरण, परदार घर्षणादि, जिसमें भक्तकी सहज रुचि नहीं हो सकती है) भी दृश्य हो, तो वह भी अविलम्ब ही दूर हो जायेगा एवं इसके द्वारा प्रबल–प्रवृत्तिरूपी मेरी भक्ति दूषित नहीं होती है—यही जानना चाहिए। पूर्वकृत मत्स्यादि भोजन और स्त्री–सङ्गादिको लक्ष्यकर किसी–किसी परम भक्तको असाधु नहीं समझना चाहिए॥९.३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥९.३१॥

अन्वय—[सः—वह] क्षिप्रम् (शीघ्र ही) धर्मात्मा (धर्मात्मा) भवति (हो जाता है) [च—और] शश्वत् शान्तिम् (शाश्वत शान्तिको) निगच्छति (प्राप्त होता है) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मे भक्त (मेरा भक्त) न प्रणश्यति (नष्ट नहीं होता है) प्रतिजानीहि (यह प्रतिज्ञा कर लो)॥९.३१॥

अनुवाद—हे कौन्तेय! मेरी प्रतिज्ञा यह है कि मेरी अनन्य भक्तिके पथपर आरूढ़ जीव कभी भी नष्ट नहीं होगा। प्रथम अवस्थामें 'निसर्गवश' तथा 'घटनावश' उनका अधर्म–आचरणादि रहने पर भी ये अधर्मादि शीघ्र ही भक्तिरूपी परम औषधि द्वारा दूर हो जाएँगे। वे जीवके नित्यधर्मरूपी स्वरूपगत आचारनिष्ठ होकर पाप–पुण्यके बन्धनसे मुक्त होकर भक्तिजनित परमशान्ति लाभ करते हैं॥ ९.३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥९.३२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) पापयोनयः (अधम कुलमें उत्पन्न) स्त्रियः (स्त्रीगण) वैश्यः (वैश्यगण) तथा शूद्राः (एवं शूद्रगण) ये अपि (जो भी) स्युः (हों) ते अपि (वे भी) माम् (मुझे) व्यपाश्रित्य (आश्रयकर) पराम् गतिम् (उत्तम गति) यान्ति (प्राप्त करते हैं)॥९.३२॥

अनुवाद—हे पार्थ! विशिष्टरूपसे मेरी अनन्य भक्तिका आश्रय करनेसे अन्त्यज, म्लेच्छगण और वेश्यादि पतिता स्त्रीगण तथा वैश्य–शूद्रादि नीच वर्णवाले लोग भी अविलम्ब ही परा–गति प्राप्त करते हैं॥९.३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥९.३३॥

अन्वय—पुण्याः ब्राह्मणाः (सदाचारपरायण ब्राह्मणगण) तथा राजर्षयः (एवं राजर्षिगण) भक्ताः (भक्त) [सन्—होकर] [पराम् गतिम् यान्ति—परा–गति प्राप्त करते हैं] किम् पुनः (इसे पुनः कहना अनावश्यक है) [अतः त्वम्—अतः तुम] अनित्यम् (अस्थायी) असुखम् (दुःखपूर्ण) इमम् लोकम् (इस मनुष्य लोकको) प्राप्य (प्राप्त होकर) माम् भजस्व (मेरा भजन करो)॥९.३३॥

अनुवाद—जब अन्त्यज जातिवाले भी मेरी विशुद्ध भक्तिके अधिकारी हैं और उनके संसर्गज (जातिगत) पापाचार उनके लिए प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि भक्तिके आविर्भावसे चित्तकी समस्त पाप–प्रवृत्तियाँ अतिशीघ्र ही प्रशमित हो जाती हैं, तब पुण्यवान् ब्राह्मण और क्षत्रियोंके भी पुण्यफलरूप अमङ्गल शीघ्र ही स्वरूपतः भक्ति–सम्बन्धीय आचार द्वारा दूर होंगे, इसमें क्या सन्देह है? अतएव इस अनित्य और असुखमय लोकमें अवस्थित होकर निरन्तर केवल मेरा ही भजन करो॥ ९.३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥९.३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'राजगुह्ययोगो' नाम नवमोऽध्यायः॥

अन्वय—मन्मनाः (मेरे परायण चित्तवाला) मद्भक्तः (मेरा भक्त) मद्याजी (मेरे पूजापरायण) भव (होओ) एवम् (इस प्रकार) आत्मानम् (मन और देह) [मयि—मुझमें] युक्त्वा (नियोगकर) मत्परायणः (मेरे परायण होकर) माम् एव (मुझे ही) एष्यसि (प्राप्त होओगे)॥९.३४॥

अनुवाद—तुम अपने मनको मेरी भावना (चिन्ता) में युक्त करो, अपने शरीरको मेरी भक्ति–पूजा तथा प्रपत्तिमें नियुक्त करो। इस प्रकार मेरे परायण होकर युद्धादि समस्त कर्मोंको करनेपर भी तुम अवश्य ही मुझे प्राप्त करोगे॥९.३४॥

नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः

दशम अध्याय (विभूतियोग)

श्रीभगवानुवाच—
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१०.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो!) भूयः एव (पुनः) मे (मेरे) परमम् वचः (श्रेष्ठ वचनको) शृणु (सुनो) यत् (जिसे) अहम् (मैं) प्रीयमाणाय (प्रेमवान्) ते (तुम्हें) हितकाम्यया (हितकी इच्छासे) वक्ष्यामि (कहूँगा)॥१०.१॥

अनुवाद—हे महाबाहो! तुम प्रेमवान् हो, तुम्हारी हितकामनासे मैंने पहले जिन वचनोंको कहा है, उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ वचनोंको कह रहा हूँ, तुम पुनः इसे मनोनिवेशपूर्वक श्रवण करो॥१०.१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥१०.२॥

अन्वय—सुरगणाः (देवतागण) मे (मेरे) प्रभवम् (श्रेष्ठ जन्म–वृत्तान्तको) न विदुः (नहीं जानते हैं) न महर्षयः (महर्षिगण भी नहीं जानते हैं) हि (क्योंकि) अहम् (मैं) देवानाम् (देवताओंका) महर्षीणाञ्च (और महर्षियोंका) सर्वशः (सर्वतोभावेन) आदिः (आदि कारण हूँ)॥१०.२॥

अनुवाद—मैं ही देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ, अतएव वे लोग मेरे लीला–प्रभव अर्थात् प्रापञ्चिक जगत्में नराकार स्वरूपमें मेरे प्रकट होनेके तत्त्वसे अवगत नहीं हो सकते हैं। देवतागण या महर्षिगण—सभी अपने बुद्धिबलसे मेरे तत्त्वका अन्वेषण करते हैं। उसमें वे लोग प्रापञ्चिक–बुद्धिभेद करनेसे यत्नसहित प्रपञ्चके विपरीत किसी अव्यक्त, अपरिस्फुट, निर्गुण, स्वरूपहीन शुष्क 'ब्रह्म' को ही आंशिकरूपमें उपलब्धकर ऐसा सोचते हैं कि यही परम तत्त्व है। किन्तु, वह परम तत्त्व नहीं है। परम तत्त्वरूप मैं सर्वदा अचिन्त्य शक्ति द्वारा स्वप्रकाश, निर्दोष, गुणसम्पन्न और नित्यस्वरूपविशिष्ट सच्चिदानन्द मूर्त्ति हूँ। मेरी अपरा–शक्तिसे मेरा प्रतिभात स्वरूप ही 'ईश्वर' है। अपरा शक्ति द्वारा बद्धजीवोंकी

चिन्तासे अतीत मेरा एक अस्फुट स्वरूप ही 'ब्रह्म' है। अतएव 'ईश्वर' या 'परमात्मा' तथा 'ब्रह्म'—मेरी ये दो स्फूर्तियाँ ही सृष्टवस्तुमें अन्वय और व्यतिरेक भावसे लक्षित होती हैं। मैं स्वयं भी अपनी अचिन्त्य शक्तिक्रमसे कभी प्रपञ्चमें अपने स्वरूपमें उदित होता हूँ, उस समय पूर्वोक्त धी–शक्ति–सम्पन्न देवता और महर्षिगण मेरी अचिन्त्य–शक्तिके सामर्थ्यको न समझकर स्वयं माया द्वारा भ्रान्त होकर मेरे इस स्वरूपाविर्भावको 'ईश्वर–तत्त्व' समझते हैं एवं शुष्क 'ब्रह्म–भाव' को श्रेष्ठ जानकर उसमें अपने स्वरूपको लीन करनेका प्रयास करते हैं। किन्तु, मेरे भक्तगण अपने क्षुद्र ज्ञानकी परिचालनासे अचिन्त्य–तत्त्वकी गतिको असहज जानकर मेरे प्रति भक्ति–वृत्तिका ही अनुशीलन करते हैं। इससे मैं दयार्द्र होकर सहज ज्ञान द्वारा उनको अपनी स्वरूपानुभूति प्रदान करता हूँ॥१०.२॥

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥१०.३॥

अन्वय—यः (जो) माम् (मुझे) अनादिम् (अनादि) अजम् (जन्मरहित) लोकमहेश्वरम् च (और सभी लोकोंका महेश्वर) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) मर्त्येषु (मनुष्योंमें) असंमूढः (मोहशून्य होकर) सर्वपापैः (सभी पापोंसे) प्रमुच्यते (विमुक्त होते हैं)॥१०.३॥

अनुवाद—जो मुझे सभी लीलाओंका 'महेश्वर' और 'अनादि' जानते हैं अर्थात् मेरी कृपासे इस सच्चिदानन्द–स्वरूपके सर्वश्रेष्ठत्व और अनादित्वसे अवगत हैं, वे प्रपञ्च–दुष्ट बुद्धिरूप समस्त पाप अर्थात् अपवित्र भावसे मुक्ति लाभ करते हैं॥१०.३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च॥१०.४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥१०.५॥

अन्वय—बुद्धिः (सूक्ष्म अर्थको निश्चय करनेकी शक्ति) ज्ञानम् (आत्म–अनात्म विवेक) असंमोहः (व्यग्रताका अभाव) क्षमा (सहिष्णुता) सत्यम् (सत्य वचन) दमः (बाह्य इन्द्रियोंका संयम) शमः (अन्तःकरणका संयम) सुखम् (सुख) दुःखम् (दुःख) भवः (जन्म) अभावः (मृत्यु) भयम् (भय) च अभयम् (और अभय) अहिंसा (अहिंसा) समता (समता) तुष्टिः (सन्तोष) तपः (वेदोक्त काय–क्लेश) दानम् (दान) यशः अयशः (यश–अपयश) भूतानाम् (प्राणियोंके) [एतानि—

ये समस्त] पृथग्विधाः भावाः (विभिन्न प्रकारके भाव) मत्तः एव (मुझसे ही) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं)॥१०.४–५॥

अनुवाद—शास्त्रज्ञ पुरुष सुबुद्धि द्वारा भी मेरा तत्त्व नहीं जान पाते हैं। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मार्थ–निश्चय–सामर्थ्यरूपी बुद्धि, आत्म–अनात्म–विवेकरूप ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (जन्म), अभाव (मृत्यु) अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अयश—ये सभी जीवोंके भाव हैं। मैं इन सबका आदि कारण तो हूँ, किन्तु मैं इनसे पृथक् हूँ। मेरे अचिन्त्यभेदाभेद–तत्त्वको जान लेनेके पश्चात् और कुछ भी अज्ञात नहीं रहता है। जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न होकर भी भिन्न हैं, उसी प्रकार शक्तिमान् मैं तथा मेरी शक्तिसे निःसृत समस्त वस्तुएँ और भावमय–जगत् नित्य अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं॥१०.४–५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥१०.६॥

अन्वय—सप्त महर्षयः (सप्त महर्षिगण) पूर्वे (उनके पूर्वके) चत्वारः (सनकादि चार कुमार) तथा मनवः (तथा स्वायम्भुव आदि मनुगण) मद्भावा (जिनका जन्म मुझसे हुआ) मानसाः जाताः (और जो मेरे मनसे उत्पन्न हुये) लोके (इस लोकमें) इमाः (ये ब्राह्मणादि) येषाम् (जिनके) प्रजाः (पुत्र–पौत्रादि हैं)॥१०.६॥

अनुवाद—मरीचि आदि सप्तर्षिगण, उनसे भी पूर्व उत्पन्न सनकादि चार ब्रह्मर्षिगण और स्वायम्भुवादि चौदह मनु—सभी मेरे शक्ति–सम्भूत हिरण्यगर्भसे जन्म ग्रहण करते हैं। उनके ही वंश या शिष्यादिके क्रमसे यह लोक परिपूरित हुआ है॥१०.६॥

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥१०.७॥

अन्वय—यः (जो) मम (मेरे) एताम् (इन समस्त) विभूतिम् च योगम् (विभूतियों और भक्तियोगको) तत्त्वतः (यथायथरूपमें) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) अविकल्पेन (निश्चल) योगेन (तत्त्वज्ञानसे) युज्यते (युक्त होते हैं) अत्र संशयः न (इसमें कोई सन्देह नहीं है)॥१०.७॥

अनुवाद—मेरा स्वरूप–ज्ञान और शाक्तिजनित विभूति–ज्ञान तत्वज्ञानकी चरम सीमा है एवं भक्तियोग क्रियायोग की चरम सीमा है। जो इन दो विषयों को

तत्त्वतः जान सकते हैं—वे 'अविकम्प' अर्थात् द्वैधरहित योगका अनुष्ठान करते हैं॥१०.७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥१०.८॥

अन्वय—अहम् (मैं) सर्वस्य (सभी की) प्रभवः (उत्पत्तिका कारण हूँ) मत्तः (मुझसे) सर्वम् (सभी) प्रवर्त्तते (कार्यमें प्रवृत्त होते हैं) इति मत्वा (इस प्रकार समझकर) बुधाः (पण्डितगण) भावसमन्विताः (भावयुक्त होकर) माम् (मुझे) भजन्ते (भजते हैं)॥१०.८॥

अनुवाद—अप्राकृत और प्राकृत समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति-स्थानके रूपमें मुझे जानो। जो इस प्रकार अवगत होकर भाव अर्थात् शुद्ध भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे ही पण्डित हैं और अन्य सभी अपण्डित हैं॥१०.८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥१०.९॥

अन्वय—मच्चित्ताः (मुझे समर्पित चित्तवाले) मद्गतप्राणाः (मुझे समर्पित प्राणवाले) नित्यम् (सर्वदा) परस्परम् (एक-दूसरेको) माम् (मेरा तत्त्व) बोधयन्तः (जनाते हुये) च (एवं) कथयन्तः (नाम, रूपादिका कीर्त्तन करते हुये) तुष्यन्ति च रमन्ति च (सन्तोष और आनन्दका अनुभव करते हैं)॥१०.९॥

अनुवाद—वैसे अनन्य चित्तवालोंका चरित्र इस प्रकारका होता है—वे अपने चित्त और प्राणोंको भलीभाँति मुझमें समर्पितकर परस्पर भावोंका आदान-प्रदान और हरि-कथाका कथोपकथन करते रहते हैं। इस प्रकार साधनकी अवस्थामें श्रवण-कीर्त्तन द्वारा भक्ति-सुख और साध्यावस्थामें अर्थात् प्रेमकी प्राप्ति हो जानेपर मेरे साथ रागमार्गमें व्रज-रसके अन्तर्गत मधुर रसपर्यन्त सम्भोगपूर्वक रमण-सुख प्राप्त करते हैं॥१०.९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०.१०॥

अन्वय—तेषाम् सततयुक्तानाम् (मेरे नित्य-संयोगके आकांक्षी) प्रीतिपूर्वकम् (प्रीतिपूर्वक) भजताम् (भजन करने-वालेको) तम् (वह) बुद्धियोगम् (बुद्धियोग) ददामि (प्रदान करता हूँ) येन (जिसके द्वारा) ते (वे) माम् (मुझको) उपयान्ति (प्राप्त होते हैं)॥१०.१०॥

अनुवाद—नित्य-भक्तियोग द्वारा जो प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हें शुद्धज्ञानजनित विमल-प्रेमयोग प्रदान करता हूँ। इसके द्वारा वे मेरे परमानन्द धामको प्राप्त होते हैं॥१०.१०॥

तेषाम् एवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥१०.११॥

अन्वय—तेषाम् (उनलोगोंको) अनुकम्पार्थम् एव (अनुग्रह करनेके निमित्त ही) अहम् (मैं) आत्मभावस्थः (उनकी बुद्धिवृत्तिमें स्थित होकर) भास्वता (प्रदीप्त) ज्ञानदीपेन (ज्ञानरूप दीपकके आलोकसे) अज्ञानजम् (अज्ञानजनित) तमः (संसार-रूप अन्धकारको) नाशयामि (नष्ट कर देता हूँ)॥१०.११॥

अनुवाद—इस प्रकार भक्तियोगका अनुष्ठान करनेवालोंके समीप अज्ञान रह नहीं सकता है। कुछ लोगोंके मनमें इस प्रकारका विचार उपस्थित होता है कि जो 'अतत्' को दूर करनेके क्रममें 'तत्'-वस्तुका अनुसन्धान करते हैं, वे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं, केवल भक्ति-भावका अनुशीलन करनेसे ही वह दुर्लभ ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। हे अर्जुन! इसकी मूल बात यह है कि अपनी बुद्धि द्वारा अनुशीलन करनेसे क्षुद्र जीव कभी भी असीम सत्य-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। कितना ही विचार क्यों न करे, अंशमात्र भी विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा। किन्तु यदि मैं कृपा करूँ, तो अनायास ही मेरी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे क्षुद्र जीवको सम्यक्-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जो मेरे एकान्त भक्त हैं, वे अनायास ही मुझे आत्मभावस्थकर मेरे अलौकिक ज्ञान-दीप द्वारा आलोकित होते हैं। विशेष अनुकम्पापूर्वक मैं उनके हृदयमें अवस्थित होकर जड़संगवशतः अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको सम्पूर्णरूपेण नाश करता हूँ। जिस शुद्धज्ञानमें जीवका अधिकार है, वह भक्तिके अनुशीलनसे ही उदित होता है, न कि तर्कके द्वारा प्राप्त होता है॥१०.११॥

अर्जुन उवाच—
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१०.१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे॥१०.१३॥

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुनने कहा) भवान् (आप) परम् ब्रह्म (परब्रह्म) परम् धाम (परम धाम) परमम् पवित्रम् (परम पवित्र हैं) [अहम् वेद्मि—यह मैं

जानता हँू] सर्वे ऋषयः (समस्त ऋषि) देवर्षिः नारदः (देवर्षि नारद) तथा असितः देवलः व्यासः (तथा असित, देवल और व्यास) त्वम् (आपको) शाश्वतम् पुरुषम् (नित्य पुरुषाकार) दिव्यम् (स्वयं–प्रकाश) आदिदेवम् (आदिदेव) अजम् (अजन्मा) विभुम् (और व्यापक) आहुः (कहते हैं) च (तथा) स्वयम् एव (आप स्वयं ही) मे (मुझे) ब्रवीषि (कहते हैं)॥१०.१२–१३॥

अनुवाद—गीताशास्त्रके उक्त चार सारभूत श्लोकोंको श्रवणकर विषयको और भी सरलता समझनेके लिए अर्जुनने कहा—हे भगवन् देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासादि ऋषियोंने तथा स्वयं आपने भी यह स्थापित किया है कि सच्चिदानन्द स्वरूप आप ही परम ब्रह्म, परमस्वरूप, परमपवित्र, परमपुरुष, नित्य, आदिदेव, अजन्मा तथा विभु हैं॥१०.१२–१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१०.१४॥

अन्वय—केशव (हे केशव!) माम् (मुझे) यत् (जो कुछ) वदसि (कहते हैं) एतत् सर्वम् (इन सबको) ऋतम् (सत्य) मन्ये (मानता हूँ) हि (क्योंकि) भगवन् (हे भगवन्!) ते व्यक्तिम् (आपके तत्त्व या जन्मको) दानवाः न विदुः (दानवगण नहीं जानते हैं) देवाः न (एवं देवतागण भी नहीं जानते हैं)॥१०.१४॥

अनुवाद—हे केशव! मैं इन सबको 'सत्य' विश्वास करता हूँ। देव–दानवगणोंमें कोई भी आपके अचिन्त्य व्यक्तित्वको नहीं जानते हैं॥१०.।१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१०.१५॥

अन्वय—पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) भूतभावन (सभी भूतोंके पिता) भूतेश (हे भूतेश!) देवदेव (हे देवोंके देव!) जगत्पते! (हे जगत्के नाथ!) त्वम् (आपने) स्वयम् एव (स्वयं ही) आत्मना (अपने द्वारा) आत्मानम् (अपनेको) वेत्थ (जानते हैं)॥१०.१५॥

अनुवाद—हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही चित्–शक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व (जन्मतत्त्व) से अवगत हैं। जगत्की सृष्टिके पूर्व जो सनातन मूर्त्ति रहती है, वही सच्चिदानन्द मूर्त्ति किस प्रकार जड़विधिसे स्वतन्त्ररूपमें जड़जगत्में व्यक्त होती है—इसे देवता अथवा मनुष्य कोई भी अपनी–अपनी युक्ति द्वारा नहीं समझ सकते हैं। आप जिनपर कृपा करते हैं, केवल वे ही इसे समझ सकते हैं॥१०.१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१०.१६॥

अन्वय—याभिः विभूतिभिः (जिन समस्त विभूतियोंके द्वारा) त्वम् (आप) इमान् लोकान् (इस सम्पूर्ण जगत्को) व्याप्य (व्याप्तकर) तिष्ठसि (अवस्थित हैं) दिव्या आत्मविभूतयः (अपनी उन समस्त दिव्य विभूतियोंको) त्वम् हि (आप ही) अशेषेण (सम्पूर्णरूपसे) वक्तुम् अर्हसि (कहनेमें समर्थ हैं)॥१०.१६॥

अनुवाद—आपकी कृपासे मैं आपके स्वरूप–तत्त्वको अपने हृदयमें तथा अपनी आँखोंके सामने आविर्भूत होता हुआ देख रहा हूँ इससे मैं कृतकृत्य हुआ, किन्तु जिन समस्त विभूतियोंके द्वारा आप समस्त जगत्में व्याप्त हैं, आपके उन समस्त आत्मविभूतियोंको मैं विशेषरूपसे जाननेकी अभिलाषा रखता हूँ, आप अनुग्रहपूर्वक मुझे बतावें॥१०.१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१०.१७॥

अन्वय—योगिन् (हे योगमाया शक्तिविशिष्ट!) कथम् (किस प्रकार) सदा (निरन्तर) परिचिन्तयन् (ध्यान करते–करते) अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) विद्याम् (जानूँगा) भगवन् (हे भगवन्!) केषु केषु (और किन किन) भावेषु (पदार्थोंमें) [आप] मया (मेरे द्वारा) चिन्त्यः असि (चिन्तनीय हैं)॥१०.१७॥

अनुवाद—हे योगिन्, किस प्रकार आपकी चिन्ताकर आपको जानूँगा और किस–किस भावसे आप मेरे द्वारा चिन्तनीय होंगे॥१०.१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१०.१८॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) आत्मनः (अपने) योगम् (योगैश्वर्य) विभूतिम् च (एवं विभूतियोंको) भूयः (पुनः) विस्तरेण (विस्तृतरूपमें) कथय (कहें) हि (क्योंकि) अमृतम् (आपकी कथामृत) शृण्वतः (सुनते–सुनते) मे (मेरी) तृप्तिः नास्ति (तृप्ति नहीं होती)॥१०.१८॥

अनुवाद—हे जनार्दन! अपने योग और विभूतिको पुनः विस्तारपूर्वक कहें। आपके तत्त्वामृतको सुनकर मेरी तृप्तिकी बात तो दूर रहे, मेरी श्रवण–पिपासा अत्यन्त बढ़ जाती है॥१०.१८॥

श्रीभगवानुवाच–

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१०.१९॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) हन्त कुरुश्रेष्ठ (हे कुरुश्रेष्ठ!) अहम् (मैं) प्राधान्यतः (प्रधान–प्रधान) दिव्याः (अलौकिक) आत्मविभूतयः (अपनी विभूतियोंको) ते (तुमसे) कथयिष्यामि (कहूँगा) हि (क्योंकि) मे (मेरी) विस्तरस्य (विभूतियोंके विस्तारका) अन्तः नास्ति (अन्त नहीं है)॥१०.१९॥

अनुवाद—श्रीभगवान बोले—हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, कतिपय प्रधान–प्रधान विभूतियोंको तुमसे कह रहा हूँ, ध्यानपूर्वक श्रवण करो॥ १०.१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥१०.२०॥

अन्वय—गुडाकेश (हे गुडाकेश!) अहम् (मैं) सर्वभूताशय–स्थितः (सभी जीवोंके हृदयमें स्थित) आत्मा (अन्तर्यामी हूँ) अहम् एव (मैं ही) भूतानाम् (सभी जीवोंकी) आदिः च (उत्पत्तिका कारण) मध्यम् च (स्थितिका कारण) अन्तः च (और संहारका कारण हूँ)॥१०.२०॥

अनुवाद—हे गुडाकेश! हे जितेन्द्रिय! मैं अपना स्वरूप–तत्त्व तुम्हें कह रहा हूँ। मेरा साम्बन्धिक तत्त्व यह है कि मैं ही समस्त जगत्का 'आत्मा' अर्थात् अन्तर्यामी पुरुष हूँ। मैं ही सभी जीवोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ॥१०.२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥१०.२१॥

अन्वय—अहम् (मैं) आदित्यानाम् (द्वादश आदित्योंमें) विष्णुः (विष्णु) ज्योतिषाम् (प्रकाश देनेवालोंमें) अंशुमान् (महाकिरणशाली) रविः (सूर्य हूँ) मरुताम् (वायुगणमें) मरीचिः अस्मि (मरीचि हूँ) नक्षत्राणाम् (नक्षत्रोंमें) अहम् (मैं) शशी (चन्द्रमा) अस्मि (हूँ)॥१०.२१॥

अनुवाद—मैं ही आदित्योंमें विष्णु, समस्त ज्योतिर्मय वस्तुओंमें किरणमाली सूर्य, मरुद्गणमें मरीचि एवं नक्षत्रोंमें नक्षत्राधिपति चन्द्र हूँ॥१०.२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥१०.२२॥

अन्वय—अहम् (मैं) वेदानाम् (वेदोंमें) सामवेदः अस्मि (सामवेद हूँ) देवानाम् (देवताओंमें) वासवः अस्मि (इन्द्र हूँ) इन्द्रियाणाम् (इन्द्रियोंमें) मनः अस्मि (मन हूँ) भूतानाम् च (और जीवोंमें) चेतना अस्मि (चेतना हूँ)॥१०.२२॥

अनुवाद—मैं ही समस्त वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन एवं जीवोंमें चेतन–स्वरूप ज्ञानशक्ति हूँ॥१०.२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥१०.२३॥

अन्वय—अहम् (मैं) रुद्राणाम् (रुद्रोंमें) शङ्करः अस्मि (शङ्कर हूँ) यक्षरक्षसाम् च (यक्ष और राक्षसोंमें) वित्तेशः (कुबेर हूँ) वसूनाम् (आठ वसुओंमे) पावकः अस्मि (अग्नि हूँ) शिखरिणाम् च (एवं पर्वतोंमें) मेरुः (सुमेरु हूँ)॥ १०.२३॥

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥१०.२४॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) माम् (मुझे) पुरोधसाम् (पुरोहितोंमें) मुख्यम् (प्रधान) बृहस्पतिम् विद्धि (बृहस्पति जानो) अहम् (मैं) सेनानीनाम् (सेनापतियोंमें) स्कन्दः (कार्त्तिकेय) सरसाम् (जलाशयोंमें) सागरः अस्मि (समुद्र हूँ)॥१०.२४॥

अनुवाद—हे पार्थ! मुझे पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति जानो। मैं सेनापतियोंमें कार्त्तिकेय तथा जलाशयोंमें समुद्र हूँ॥१०.२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥१०.२५॥

अन्वय—अहम् (मैं) महर्षीणाम् (महर्षियोंमें) भृगुः (भृगु हूँ) गिराम् (वाक्योंमें) एकम् अक्षरम् अस्मि (एकाक्षर ॐ–कार हूँ) यज्ञानाम् (यज्ञोंमें) जपयज्ञः अस्मि (जपयज्ञ हूँ) स्थावराणाम् (स्थावरोंमें) हिमालयः (हिमालय हूँ)॥ १०.२५॥

अनुवाद—मैं ही महर्षियोंमें भृगु, वाक्योंमें प्रणव, यज्ञोंमें जपयज्ञ एवं स्थावरोंमें हिमालय हूँ॥१०.२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥१०.२६॥

अन्वय—अहम् (मैं) सर्ववृक्षाणाम् (सभी वृक्षोंमें) अश्वत्थः (पीपल हूँ) देवर्षीणाम् च (देवर्षियोंमें) नारदः (नारद हूँ) गन्धर्वाणाम् (गन्धर्वोंमें) चित्ररथः (चित्ररथ हूँ) सिद्धानाम् (सिद्धोंमें) कपिलः मुनिः (कपिल मुनि हूँ)॥१०.२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्॥१०.२७॥

अन्वय—माम् (मुझे) अश्वानाम् (घोड़ोंमें) अमृतोद्भवम् (अमृत–मन्थनसे उत्पन्न) उच्चैःश्रवसम् (उच्चैःश्रवा) गजेन्द्राणाम् (हाथियोंमें) ऐरावतम् (ऐरावत) नराणाम् च (मनुष्योंमें) नराधिपतिम् (नरपति) विद्धि (जानो)॥१०.२७॥

अनुवाद—मैं ही अश्वोंमें समुद्र–मन्थनके समय उद्भूत उच्चैश्रवा हूँ। मैं ही हाथियोंमें ऐरावत तथा मनुष्योंमें सम्राट हूँ॥१०.२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥१०.२८॥

अन्वय—आयुधानाम् (अस्त्रोंमें) अहम् (मैं) वज्रम् (वज्र हूँ) धेनुनाम् (गौओंमें) कामधुक् अस्मि (कामधेनु हूँ) प्रजनः (सन्तानोंमें उत्पत्तिका कारण) कन्दर्पः च अस्मि (काम भी हूँ) सर्पाणाम् (सर्पोंमें) वासुकिः अस्मि (वासुकि हूँ)॥ १०.२८॥

अनुवाद—मैं ही अस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, प्रजाकी उत्पत्तिका मूलस्वरूप (कारण) कामदेव एवं सर्पोंमें वासुकि हूँ॥१०.२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥१०.२९॥

अन्वय—अहम् (मैं) नागानाम् (नागोंमें) अनन्तः च अस्मि (अनन्त भी हूँ) यादसाम् (जलचरोंमें) वरुणः (वरुण हूँ) पितृणाम् (पितरोंमें) अर्यमा अस्मि (अर्यमा नामक पितर हूँ) च (और) संयमताम् (दण्ड देनेवालोंमें) यमः (यमराज हूँ)॥ १०.२९॥

अनुवाद—मैं ही नागोंमें अनन्त, जलचरोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा एवं दण्ड देनेवालोंमें यम हूँ॥१०.२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनेतेयश्च पक्षिणाम्॥१०.३०॥

अन्वय—दैत्यानाम् (दैत्योंमें) प्रह्लादः अस्मि (प्रह्लाद हूँ) कलयताम् (वशीकारियोंमें) अहम् (मैं) कालः (काल हूँ) मृगाणाम् (पशुओंमें) अहम् (मैं) मृगेन्द्रः (सिंह हूँ) पक्षिणाम् (पक्षियोंमें) वैनतेयः (गरुड़ हूँ)॥१०.३०॥

अनुवाद—मैं ही दैत्योंमें प्रह्लाद, वशीकारियोंमें काल, व पशुओंमें सिंह एवं पक्षियोंमें गरुड़ हूँ॥१०.३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥१०.३१॥

अन्वय—अहम् (मैं) पवताम् (वेगवान् अथवा पवित्र करनेवालोंमें) पवनः अस्मि (पवन हूँ) शस्त्रभृताम् (शस्त्र धारण करनेवालोंमें) रामः (परशुराम हूँ) झषाणाम् (मछलियोंमें) मकरः अस्मि (मगर हूँ) स्रोतसाम् च (और नदियोंमें) जाह्नवी अस्मि (गङ्गा हूँ)॥१०.३१॥

अनुवाद—मैं वेगवान और पवित्रकारी वस्तुओंमें पवन, शस्त्रधारियोंमें परशुराम, मछलियोंमें मगर तथा नदियोंमें गङ्गा हूँ॥१०.३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥१०.३२॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम् एव (मैं ही) सर्गाणाम् (आकाशदि सृष्ट वस्तुओंकी) आदिः अन्तः मध्यं च (उत्पत्ति, लय और स्थिति हूँ) विद्यानाम् (समस्त विद्याओंमें) अध्यात्म विद्या (आत्मज्ञान हूँ) अहम् (मैं) प्रवदताम् (वक्ताके वाद, जल्प और वितण्डा—इन तीन प्रकारकी कथाओंमें) वादः (तत्त्व-निर्णय करनेवाला वाद हूँ)॥१०.३२॥

अनुवाद—मैं ही आकाशादि सृष्ट वस्तुओंमें आदि, अन्त और मध्य तथा समस्त विद्याओंमें अध्यात्म विद्या अर्थात् स्व-स्वरूप ज्ञान स्वपक्षकी स्थापना और परपक्षके दूषणादिरूपी जल्प वितण्डा आदिमें वाद अर्थात् तत्त्वनिर्णय मैं ही हूँ॥ १०.३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥१०.३३॥

अन्वय—अहम् (मैं) अक्षराणाम् (अक्षरोंमें) अकारः अस्मि (अकार हूँ) सामासिकस्य (समासोंमें) द्वन्द्वः (द्वन्द्व समास हूँ) अहम् एव (मैं ही) अक्षयः कालः (संहारकर्त्ताओंमें महाकाल रुद्र हूँ) च (और) अहम् (मैं) विश्वतोमुखः (सृष्ट प्राणियोंमें चतुर्मुख) धाता (ब्रह्मा हूँ)॥१०.३३॥

अनुवाद—मैं ही अक्षरोंमें 'अ'-कार, समासोंमें द्वन्द्व, संहारकर्त्ताओंमें महाकालरुद्र एवं सृष्ट प्राणियोंमें ब्रह्मा हूँ॥१०.३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥१०.३४॥

अन्वय-अहम् (मैं) सर्वहरः मृत्युः (सर्वहारी मृत्यु हूँ) च (और) भविष्यताम् (भावी छः विकारोंमें) उद्भवः (जन्म हूँ) नारीणाम् (नारियोंमें) कीर्त्तिः (कीर्त्ति) श्री

(कान्ति) वाक् (संस्कृत वाणी) स्मृतिः (स्मृति) मेधा (मेधा) धृतिः (धृति) क्षमा (और क्षमा हूँ)॥१०.३४॥

अनुवाद—मैं ही हरणकारियोंमें सर्वाहारी मृत्यु और भावी वस्तुओंमें उद्भव (जन्म) हूँ। मैं ही नारियोंमें कीर्त्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा एवं मूर्त्ति आदि धर्मपत्नियाँ हूँ॥१०.३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीच्छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥१०.३५॥

अन्वय—अहम् (मैं) साम्नाम् (सामवेदोंमें) बृहत् साम (इन्द्रस्तुतिरूप बृहत्–साम हूँ) छन्दसाम् (छन्दोंमें) गायत्री (गायत्री हूँ) मासानाम् (महीनोंमें) मार्गशीर्ष (अग्रहायण हूँ) ऋतूनाम् (ऋतुओंमें) कुसुमाकरः (वसन्त हूँ)॥१०.३५॥

अनुवाद—मैं ही सामवेदमें बृहत्–साम, छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें अग्रहायण एवं ऋतुओंमें वसन्त हूँ॥१०.३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥१०.३६॥

अन्वय—अहम् (मैं) छलयताम् (छल करनेवालोंमें) द्यूतम् (जुआ हूँ) तेजस्विनाम् (तेजस्वियोंमें) तेजः (तेज हूँ) (विजयी होनेवालोंमें) जयः अस्मि (जय हूँ) [उद्यमियोंमें] व्यवसायः अस्मि (उद्यम हूँ) अहम् (मैं) सत्त्ववताम् (बलवानोंमें) सत्त्वम् (बल हूँ)॥१०.३६॥

अनुवाद—मैं ही परस्पर वञ्चना करनेवालोंमें जुआ हूँ, तेजस्वियोंमें तेज हूँ, विजयी होनेवालोंमें जय हूँ, उद्यमी पुरुषोंमें उद्यम हूँ, और व्यवसाय हूँ एवं बलवानोंमें बल हूँ॥१०.३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाः कविः॥१०.३७॥

अन्वय—वृष्णीनाम् (वृष्णियोंमें) वासुदेवः अस्मि (वासुदेव हूँ) पाण्डवानाम् (पाण्डवोंमें) धनञ्जयः (अर्जुन हूँ) मुनीनाम् अपि (मुनियोंमें भी) अहम् (मैं) व्यासः (व्यासदेव हूँ) कवीनाम् (कवियोंमे) उशनाः कविः (शुक्राचार्य नामक कवि हूँ)॥१०.३७॥

अनुवाद—मैं ही वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनञ्जय, मुनियोंमें व्यास एवं कवियोंमें शुक्राचार्य हूँ॥१०.३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥१०.३८॥

अन्वय—अहम् (मैं) दमयताम् (दमनकारियोमें) दण्डः अस्मि (दण्ड हूँ) जिगीषताम् (जीतनेकी अभिलाषा करनेवालोंमें) नीतिः अस्मि (नीति हूँ) गुहानाम् (गुह्य रखनेवालोंमें) मौनम् अस्मि (मौन हूँ) ज्ञानवताम् (और ज्ञानियोंमें) ज्ञानम् (ज्ञान हूँ)॥१०.३८॥

अनुवाद—मैं ही दमनकारियोंमें दण्ड, जयाकांक्षी पुरुषोंमें नीति, गुह्यम धर्ममें मौन एवं ज्ञानियोंमें ज्ञान हूँ॥१०.३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥१०.३९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यत् च (और जो) सर्वभूतानाम् (समस्त जीवोंमें) बीजम् (मूलकारण बीज है) तत् (वह) अपि (भी) अहम् (मैं) अस्मि (हूँ) चराचरम् (चर और अचर) तत् (वह) भूतम् (वस्तु) न अस्ति (नहीं है) यत् (जो) मया विना (मेरे बिना) स्यात् (हो)॥१०.३९॥

अनुवाद—मैं ही सभी भूतोंका मूल कारण अर्थात् बीज हूँ, क्योंकि मुझे छोड़कर समस्त चर-अचर वस्तुओंमें किसीका अस्तित्व नहीं रहता है॥१०.३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥१०.४०॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) मम (मेरी) दिव्यानाम् विभूतिनाम् (दिव्य विभूतियोंका) अन्तः न अस्ति (अन्त नहीं है) तु (किन्तु) विभूतेः एष विस्तारः (विभूतियोंका यह विस्तार) उद्देश्यतः (संक्षेपमें) मया (मेरे द्वारा) प्रोक्तः (कहा गया)॥१०.४०॥

अनुवाद—हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, केवल नाम-मात्र अपनी विभूतियोंको तुम्हारे निकट वर्णन किया है॥१०.४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥१०.४१॥

अन्वय—विभूतिमत् (ऐश्वर्ययुक्त) श्रीमत् (सौन्दर्य या सम्पत्ति-विशिष्ट) उर्जितम् एव वा (अथवा शक्ति-प्रभावादियुक्त) यत् यत् (जो जो) सत्त्वम् (वस्तु है) तत् तत् एव (उस उसको) त्वम् (तुम) मम (मेरे) तेजांश (तेज या शक्तिके अंशसे) संभवम् (उत्पन्न) अवगच्छ (जानो)॥१०.४१॥

अनुवाद—ऐश्वर्ययुक्त, सम्पत्तियुक्त, बल-प्रभावादिकी अधिकतासे युक्त जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सभीको मेरी विभूति जानो। वे समस्त मेरी प्रकृति-तेजके अंशसे उत्पन्न हैं॥१०.४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥१०.४२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विभूतियोगो' नाम दशमोऽध्यायः॥

अन्वय—अथवा (अथवा) अर्जुन (हे अर्जुन!) एतेन (इस) बहुना ज्ञातेन (पृथक्-पृथक् उपदिष्ट ज्ञानसे) तव (तुम्हारा) किम् (क्या प्रयोजन है) अहम् (मैं) इदम् (इस) कृत्स्नम् (समस्त) जगत् (जगत्को) एकांशेन (एकांशसे) विष्टभ्य (धारणकर) स्थितः (अवस्थित हूँ)॥१०.४२॥

अनुवाद—पूर्व अध्यायमें विशुद्ध कृष्णभक्तिका उपदेश दिया गया है, उसमें ऐसा सन्देह होता है कि अन्यान्य देवताओंकी उपासनासे भी तो कृष्णसेवा हो सकती है। इस सन्देहको दूर करनेके लिए श्रीभगवान्ने इस अध्यायमें कहा कि विधि (ब्रह्मा), रुद्र आदि देवतागण मेरी विभूतिमात्र हैं। मैं सबका आदि, अज, अनादि और सर्वमहेश्वर हूँ। इस प्रकार विचारपूर्वक विभूति-तत्त्वको जान लेनेपर अनन्य भक्तिमें और कोई बाधा नहीं है। परमात्मा जो कि मेरे एक अंश हैं, उनके द्वारा समस्त जगत्में प्रविष्ट होकर मैंने समस्त विभूतियोंका प्रकाश किया है। भक्तजन मेरे विभूति-तत्त्वसे अवगत होकर भगवत्-ज्ञान लाभकर शुद्ध भक्तिके साथ श्रीकृष्णरूपमें मेरा भजन करेंगे। इस अध्यायके अष्टम, नवम, दशम और एकादश श्लोकमें शुद्ध भजन तथा उस भजनके फलका वर्णन किया गया है। समस्त विभूतियोंके आकरस्वरूप श्रीकृष्णका भजन ही जीवके नित्यधर्मरूप प्रेमको प्राप्त करानेवाला है—यही इस अध्यायका निष्कर्ष है॥१०.४२॥

दशम अध्याय समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

एकादश अध्याय (विश्वरूप दर्शनयोग)

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥११.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) मदनुग्रहाय (मुझे अनुगृहीत करनेके लिए) त्वया (आपके द्वारा) यत् परमम् गुह्यम् (जो परम गोपनीय) अध्यात्म संज्ञितम् (आत्मविभूति विषयक) वचः (वचन) उक्तम् (कहा गया) तेन (उसके द्वारा) मम (मेरा) अयम् मोहः (यह अज्ञानजनित मोह) विगतः (दूर हुआ)॥ ११.१॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—परम अध्यात्म-तत्त्व सम्बन्धी आपके उपदेशको श्रवणकर मेरा मोह दूर हुआ। आपके अप्राकृत, अवितर्क्य परमभावको न जानकर मैं अध्यात्मतत्त्वगत व्यतिरेक चिन्तारूपी मोह द्वारा आक्रान्त था। अभी स्पष्ट रूपसे यह जान गया कि आप सर्वदा स्वरूप-संप्राप्त हैं और विश्वरूपादि प्रकाश आपके श्रीकृष्णस्वरूपका प्रकाशमात्र है॥११.१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥११.२॥

अन्वय—कमलपत्राक्ष (हे कमलनयन!) त्वत्तः (आपसे) हि (ही) भूतानाम् (भूतोंकी) भवाप्ययौ (उत्पत्ति और लय) मया (मेरे द्वारा) विस्तरशः (विस्तृतरूपमें) श्रुतौ (सुना गया) च (एवं) अव्ययम् (नित्य) माहात्म्यम् अपि (माहात्म्य भी) श्रुतम् (श्रुत हुआ)॥११.२॥

अनुवाद—अतएव हे कमलनयन! मैं समस्त भूतोंकी सृष्टि और संहार-सम्बन्धी आपके साम्बन्धिक-भाव एवं अव्यय माहात्म्यरूपी स्वरूपगतभाव—इन दोनोंके तत्त्वसे अवगत हुआ॥११.२॥

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥११.३॥

अन्वय—परमेश्वर (हे परमेश्वर!) त्वम् (आपने) आत्मानम् (अपने ऐश्वर्यके विषयमें) यथा (जैसा) आत्थ (कहा) एतत् (यह) एवम् (ऐसा ही है) [तथापि] पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) ते (आपके) ऐश्वरम् रूपम् (उस ऐश्वरिक रूपको) द्रष्टुम् (देखनेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ)॥११.३॥

अनुवाद—हे पुरुषोत्तम! हे परमेश्वर! मैं आपके स्वरूप–तत्त्वको लक्ष्य कर रहा हूँ, किन्तु सृष्टिके समय आपाततः आपने अपने स्वरूपको जिस प्रकार जगतमें स्थित किया है, मैं आपके उस ऐश्वर–रूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ॥११.३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥११.४॥

अन्वय—प्रभो (हे प्रभो!) यदि (यदि) तत् (आपका वह रूप) मया (मेरे द्वारा) द्रष्टुम् शक्यम् (देखना सम्भव है) इति मन्यते (ऐसा आप मानते हैं) ततः (तो) योगेश्वर (हे योगेश्वर!) त्वम् (आप) मे (मुझे) अव्ययम् (अविनाशी) आत्मानम् (अपनेको) दर्शय (दिखावें)॥११.४॥

अनुवाद—जीव अणुचैतन्य है, अतः वह विभुचैतन्य भगवान्‌की क्रियाओंको भलीभाँति नहीं समझ सकता है। मैं जीव हूँ, आपके अनुग्रहसे मैं आपके स्वरूप–तत्त्वमें अधिकार प्राप्तकर जीवकी चिन्तासे अतीत आपके ऐश्वर–स्वरूपके परिमाणको समझनेमें असमर्थ हूँ। आप योगेश्वर एवं मेरे प्रभु हैं। अतः आप अपने योगेश्वर्यका मुझे दर्शन करावें, जो कि स्वरूपतः अव्यय और चित्स्वरूप है॥११.४॥

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥११.५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) मे (मेरे) नानाविध (नाना प्रकार) नाना वर्णाकृतीनि (नाना वर्ण और आकृति– विशिष्ट) शतशः (शत–शत्) अथ सहस्त्रः (और हजार–हजार) दिव्यानि रूपाणि (दिव्य रूपोंको) पश्य (देखो)॥११.५॥

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—"हे पार्थ! तुम मेरे योगेश्वर्यको देखो; मेरे शत–शत और सहस्र–सहस्र नाना प्रकारके दिव्य रूपों एवं नाना वर्ण–आकृतिका साक्षात्कार करो"॥११.५॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥११.६॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) आदित्यान् (द्वादश आदित्योंको) वसून् (अष्ट वसुओंको) रुद्रान् (एकादश रुद्रोंको) अश्विनौ (दोनों अश्विनी कुमारोंको) तथा

मरुतः (उनचास मरुद्गणको) पश्य (देखो) [एवं] अदृष्टपूर्वाणि (पहले न देखे हुये) बहूनि (विविध) आश्चर्याणि (आश्चर्यमय रूपोंको) पश्य (देखो)॥११.६॥

अनुवाद—हे भारत! सभी आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुतों एवं अनेक अदृष्टपूर्व आश्चर्य रूपोंको देखो॥११.६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥११.७॥

अन्वय—गुडाकेश (हे गुडाकेश!) मम (मेरे) इह देहे (इस शरीरमें) एकस्थम् (एकत्र स्थित) सचराचरम् (चर-अचरसहित) कृत्स्नम् जगत् (सम्पूर्ण विश्व) यत् च अन्यत् (और अन्य जो कुछ) द्रष्टुम् इच्छसि (देखनेकी इच्छा करते हो) अद्य (अभी) पश्य (देखो)॥११.७॥

अनुवाद—चराचर जगत एवं और जो कुछ देखना चाहते हो, वे समस्त मेरे इस ऐश्वर्य-स्वरूपमें स्थित हैं। अतएव हे गुड़ाकेश! उन सबको तुम मेरे कृष्णस्वरूपके एकदेश (एकभाग) में देखो॥११.७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥११.८॥

अन्वय—तु (किन्तु) एव (निश्चय ही) माम् (मुझे) अनेन स्वचक्षुषा (अपने इन प्राकृत नेत्रोंसे) द्रष्टुम् (देखनेमें) न शक्यसे (समर्थ नहीं हो) [अतएव] ते (तुम्हें) दिव्यम् चक्षुः (दिव्य नेत्र) ददामि (प्रदान करता हूँ) मे (मेरी) ऐश्वरम् (ऐश्वरिक) योगम् (योगशक्तिको) पश्य (देखो)॥११.८॥

अनुवाद—तुम मेरे भक्त हो, तुम अपने निरुपाधिक प्रेमचक्षु द्वारा मेरे कृष्णस्वरूपका दर्शन करते हो। मेरा योगेश्वर्यमय स्वरूप साम्बन्धिक भावगत है, अतः (अप्रयोजनीय होनेके कारण) निरुपाधिक प्रेमचक्षु द्वारा लक्षित नहीं होता है। स्थूल जड़-दर्शक चक्षु भी मेरे ऐश्वर-स्वरूपको लक्ष्य नहीं कर सकता है। जो चक्षु सोपाधिक, किन्तु स्थूल नहीं हैं, उन्हें दिव्य चक्षु कहा जाता है। मैं तुम्हें वही दिव्य चक्षु प्रदान कर रहा हूँ, इसके द्वारा तुम मेरे ऐश्वर-स्वरूपका दर्शन करो। युक्तिमय और दिव्यचक्षु प्राप्त व्यक्तिगण मेरे निरुपाधिक कृष्णस्वरूपकी अपेक्षा सोपाधिक ऐश्वर्यरूपमें सहज ही प्रीति प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनके निरुपाधिक प्रेममय चक्षु निमीलित (बन्द) रहते हैं॥११.८॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥११.९॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) राजन् (हे राजन्!) एवम् उक्त्वा (ऐसा कहकर) ततः (उसके बाद) महायोगेश्वरः (महायोगेश्वर) हरिः (श्रीहरिने) पार्थाय (अर्जुनको) परम ऐश्वरम् रूपम् (परम ऐश्वर्यमय रूप) दर्शयामास (दिखलाया)॥ ११.९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥११.१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११.११॥

अन्वय—अनेक–वक्त्र–नयनम् (अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त) अनेकात्–अद्भुत–दर्शनम् (अनेक आश्चर्याकृति वाले) अनेक–दिव्य–आभरणम् (अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित) दिव्य–अनेक–उद्यत–आयुधम् (अनेक दिव्य अस्त्रधारी) दिव्य–माल्य–अम्बरधरम् (दिव्य माला और वस्त्रोंसे सुशोभित) दिव्य–गन्ध–अनुलेपनम् (दिव्य गन्ध द्वारा अनुलिप्त) सर्व आश्चर्यमयम् (सभी आश्चर्योंसे युक्त) देवम् (कान्तियुक्त) अनन्तम् (अनन्त) विश्वतोमुखः (सर्वत्र मुखवाले) [रूपको देखा]॥ ११.१०–११॥

अनुवाद—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—हे राजन! महायोगेश्वर श्रीहरिने इसप्रकारकी उक्तिकर अर्जुनको अपना परम ऐश्वर–रूप दिखाया। उस मूर्तिका अद्भुत रूप था। वह अनेक मुख और नेत्रयुक्त, अनेक दिव्य आभूषण और अनेक दिव्यास्त्रयुक्त एवं दिव्य माला और वस्त्रोंसे शोभित, दिव्य गन्धयुक्त, सर्व–आश्चर्यमय, उज्ज्वल, अनन्त और सर्वत्र मुखवाला था॥११.९–११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥११.१२॥

अन्वय—यदि (यदि) दिवि (आकाशमें) सूर्यसहस्रस्य (हजार सूर्यकी) भाः (प्रभा) युगपत् (एकसाथ) उत्थिता भवेत् (उदित हो) [तर्हि—तब] सा (वह प्रभा) तस्य महात्मनः (महात्मा विश्वरूपकी) भासः सदृशी (प्रभाके समान) स्यात् (हो सके)॥११.१२॥

अनुवाद—यदि कभी एक ही समय हजार सूर्य उदित हों, तो वह कुछ परिमाणमें (आंशिकरूपमें) उन महात्मा विश्वरूपके तेजके समान हो सके॥११.१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥११.१३॥

अन्वय—तदा पाण्डवः (उस समय अर्जुनने) देवदेवस्य (देवदेव विश्वरूपके) तत्र शरीरे (उस विराट शरीरमें) अनेकधा प्रविभक्तम् (अनेक रूपोंमें विभक्त) कृत्स्नः (समग्र) जगत् (विश्वको) एकस्थं (एकत्र स्थित) अपश्यत् (देखा)॥ ११.१३॥

अनुवाद—उस समय अर्जुनने ऐसा देखा कि उस परमदेवके शरीरमें अनन्त जगत् एकत्र स्थित एवं अनेक रूपोंमें विभक्त हैं॥११.१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥११.१४॥

अन्वय—ततः (उसके बाद) सः धनञ्जयः (वे अर्जुन) विस्मयाविष्टः (विस्मित) [च—और] हृष्टरोमाः (रोमाञ्चित) [सन्—होकर] शिरसा प्रणम्य (मस्तक द्वारा प्रणामकर) कृताञ्जलि (हाथ जोड़कर) देवम् (विश्वरूपधारी श्रीकृष्णको) अभाषत (कहने लगे)॥११.१४॥

अनुवाद—तब विस्मित और रोमाञ्चित धनञ्जय प्रणतिपूर्वक हाथ जोड़कर कहने लगे॥११.१४॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥११.१५॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अजुर्नने कहा) देव (हे देव!) तव देहे (आपके देहमें) सर्वान् देवान् (समस्त देवताओंको) भूतविशेषसङ्घान् (अनेक जीव-समुदायको) कमलासनस्थम् (कमलासनपर विराजमान) ब्रह्मानम् (ब्रह्माको) ईशम् (शिवको) सर्वान् दिव्यान् (सभी दिव्य) ऋषीन् च (ऋषियोंको) उरगान् च (और सर्पोंको) पश्यामि (देख रहा हूँ)॥११.१५॥

अनुवाद—हे देव! मैं आपके देहमें समस्त देवता, समस्त भूतसमुदाय, कमलासनपर आसीन ब्रह्मा, महादेव, समस्त ऋषिगण और सर्पोंको देख रहा हूँ॥ ११.१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥११.१६॥

अन्वय—विश्वेश्वर, विश्वरूप (हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप!) अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम् (असंख्य बाहु-उदर- मुख-नयनविशिष्ट) अनन्तरूपम् (अनन्त

रूपधारी) त्वाम् (आपको) सर्वतः (सर्वत्र ही) पश्यामि (देखता हूँ) पुनः (पुनः) तव (आपके) न आदिम् (न आदिको) न मध्यम् (न मध्यको) न अन्तम् (न अन्तको) पश्यामि (देखता हूँ)॥११.१६॥

अनुवाद—हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! आपके शरीरमें अनेक बाहु, उदर, मुख और सर्वव्यापी अनन्त रूप देखता हूँ। आपके अन्त, मध्य और आदिको नहीं देख पाता हूँ॥११.१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥११.१७॥

अन्वय—त्वाम् (आपको) किरीटिनम् (मुकुट) गदिनम् (गदा) चक्रिणम् च (और चक्रसे युक्त) सर्वतः (सर्वत्र) दीप्तिमन्तम् (प्रकाशमान) तेजोराशिम् (तेजके पुञ्ज) दुर्निरीक्ष्यम् (दुर्दर्शनीय) दीप्तानलार्कद्युतिम् (प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके समान ज्योतिर्मान) अप्रेमयम् (अपरिसीम) समन्तात् (सर्वत्र) पश्यामि (देखता हूँ)॥ ११.१७॥

अनुवाद—आपकी मूर्ति दुर्निरीक्ष्य (कठिनतासे देखने योग्य), भली-भाँति प्रदीप्त, अग्नि-सूर्यकी द्युतिके समान और अप्रमेय है तथा यह अनेक प्रकारके मुकुट, गदा और चक्रसे युक्त है एवं तेजोराशिसे सभी ओर दीप्तिमान् हो रहा है॥ ११.१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥११.१८॥

अन्वय—त्वम् (आप) वेदितव्य (मुक्त पुरुषोंके जानने योग्य) परमम् अक्षरम् (परब्रह्म हैं) त्वम् (आप) अस्य विश्वस्य (इस विश्वके) परम् निधानम् (परम आश्रय हैं) त्वम् (आप) अव्ययः (अविनाशी) शाश्वत-धर्म-गोप्ता (सनातन धर्मके रक्षक हैं) त्वम् (आप) सनातनः पुरुषः (सनातन पुरुष हैं) [ईति—ऐसा] मे (मेरा) मतः (मत है)॥११.१८॥

अनुवाद—आप परम ज्ञातव्य अक्षर तत्त्व हैं, आप इस विश्वके परम निधान हैं, आप अव्यय हैं, आप सनातनधर्मरक्षक तथा सनातन पुरुष हैं॥११.१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥११.१९॥

अन्वय—[अहम्—मैं] अनादि-मध्य-अन्तम् (आदि, मध्य और अन्तरहित) अनन्तवीर्यम् (अनन्त वीर्यवाले) अनन्तबाहुः (अनन्त भुजायुक्त) शशि-सूर्य-नेत्रम्

(चन्द्र और सूर्य जैसे नेत्रयुक्त) दीप्तहुताशवक्त्रम् (प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले) स्वतेजसा (अपने तेज द्वारा) इदम् विश्वम् (इस विश्वको) तपन्तम् (सन्ताप देनेवाले) त्वाम् (आपको) पश्यामि (देखता हूँ)॥११.१९॥

अनुवाद—मैं आदि–मध्य–अन्तरहित, अत्यन्त वीर्यशाली, अनन्त भुजायुक्त सूर्य–चन्द्र जैसे नेत्रयुक्त, प्रज्वलित अग्निके समान नेत्रवाले तथा अपने तेजसे विश्वको संताप देनेवाले आपको देखता हूँ॥११.१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥११.२०॥

अन्वय—त्वया (आपसे) एकेन हि (अकेले ही) द्यावापृथिव्योः (स्वर्ग और पृथ्वीका) इदम् अन्तरम् (यह मध्यभाग अर्थात् अन्तरिक्ष) व्याप्तम् (व्याप्त है) सर्वाः दिशः च (और सभी दिशाएँ भी) [व्याप्त हैं] महात्मन् (हे महात्मन्!) तव (आपकी) इदम् अद्भुतम् (यह अद्भुत) उग्रम्–रूपम् (उग्रमूर्त्ति) दृष्ट्वा (देखकर) लोकत्रयम् (तीनों लोक) प्रव्यथितम् (अत्यन्त भयभीत और व्यथित हो रहे हैं)॥ ११.२०॥

अनुवाद—आकाश और पृथ्वीके बीच जो कुछ है, आप एक होकर भी उसमें सर्वत्र व्याप्त हैं। हे महात्मन्! आपका जो यह अद्भुत उग्र रूप देख रहा हूँ, इसके दर्शन से तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं॥११.२०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते
त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥११.२१॥

अन्वय—अमी (ये समस्त) सुरसङ्घाः (देवसमूह) त्वान् हि (आपमें ही) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) केचित् (कोई कोई) भीताः (भयभीत होकर) प्राञ्जलयः (हाथ जोड़कर) गृणन्ति (स्तव करते हैं) महर्षि–सिद्ध–सङ्घाः (महर्षि और सिद्धसमूह) स्वस्ति इति उक्त्वा (स्वस्ति वाक्य उच्चारणकर) पुष्कलाभिः स्तुतिभिः (प्रचुर मनोरम स्तवोंके द्वारा) वीक्षन्ते (दर्शन करते हैं)॥११.२१॥

अनुवाद—ये देवगण आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं, कोई–कोई भययुक्त होकर प्राञ्जलिबद्ध होकर आपका स्तव कर रहे हैं, महर्षिगण आपको स्वस्तिवादकर रहे हैं, एवं पुष्कल (प्रचुर) स्तुति द्वारा आपका दर्शन कर रहे हैं॥११.२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥११.२२॥

अन्वय—ये (जो) रुद्रादित्याः (रुद्र और आदित्यगण) वसवः (अष्ट वसु) च साध्याः (एवं साध्य देवतागण) विश्वे (विश्वदेवगण) अश्विनौ (दोनों अश्विनीकुमार) मरुतः (मरुद्‌गण) उष्मपाश्च (एवं पितृगण) गन्धर्व–यक्ष–असुर–सिद्ध–सङ्घाः (गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण हैं) सर्व एव (सभी) विस्मिताः (विस्मित) [सन्तः—होकर] त्वाम् (आपको) वीक्षन्ते (देखते हैं)॥११.२२॥

अनुवाद—रुद्र, आदित्य, वसुगण, साध्य, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्‌गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, सुर और सिद्धगण—सभी विस्मित होकर आपका दर्शन कर रहे हैं॥११.२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥११.२३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) बहु–वक्त्र–नेत्रम् (अनेक मुख और नेत्रोंवाले) बहु–बाहु–उरु–पादम् (असंख्य बाहु, उरु और चरणोंवाले) बहूदरम् (अनेक उदरोंवाले) बहुदंष्ट्रकरालम् (बहुतसे दाँतोंके कारण विकराल) ते (आपके) महत् रूपम् (विराट्‌रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) लोकाः (सभी लोग) तथा (तथा) अहम् (मैं) प्रव्यथिताः (अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ)॥११.२३॥

अनुवाद—हे महाबाहो! आपके अनेक वक्त्र, नेत्र, बाहु, उरु, पाद, उदर एवं कराल दाँतोंवाले रूपको देखकर सभी लोग मेरी भाँति व्यथित हो रहे हैं॥ ११.२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं
न विन्दामि शमञ्च विष्णो॥११.२४॥

अन्वय—विष्णो (हे विष्णो!) नभःस्पृशः (आकाशव्यापी) दीप्तम् (तेजोमय) अनेक वर्णम् (अनेक वर्णोंवाले) व्यात्ताननम् (फैलाये हुये मुखोंवाले) दीप्तविशालनेत्रम् (प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले) त्वाम् हि (आपको) दृष्ट्वा (देखकर) प्रव्यथितान्तरात्मा (भयभीत अन्तःकारणवाला) अहम् (मैं) धृतिम् (धैर्य) शमम् च (और शान्ति) न विन्दामि (नहीं पाता हूँ)॥११.२४॥

अनुवाद—हे विश्वव्यापिन् नभः स्पर्शी! दीप्त, अनेक वर्ण, विस्फारित मुख एवं दीप्त विशाल नेत्रविशिष्ट आपको देखकर धैर्य और शम (शान्ति) के अवलम्बनमें अक्षम हो रहा हूँ॥११.२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥११.२५॥

अन्वय—ते (आपके) दंष्ट्रकरालानि (भीषण दाँतोंके कारण विकराल) कालानल सन्निभानि च (और प्रलयकालीन अग्निके समान) मुखानि (मुखसमूह) दृष्ट्वा एव (देखकर ही) [अहम्—मैं] दिशः न जानि (दिशाओंका निर्णय नहीं कर पाता हूँ) शर्म च (और सुख भी) न लभे (नहीं प्राप्त करता हूँ) देवेश (हे देवेश!) जनन्निवास (हे जगन्निवास!) [त्वम्—आप] प्रसीद (प्रसन्न होवें)॥११.२५॥

अनुवाद—कालाग्निके समान आपके विकराल दन्तयुक्त मुखको देखकर मैं दिग्भ्रमित हो गया हूँ, कैसे सामान्य होऊँ—यह स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ। हे देव! हे जगन्निवास! आप मेरे प्रति प्रसन्न होवें॥११.२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥११.२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥११.२७॥

अन्वय—अमी (ये सभी) धृतराष्ट्रस्य पुत्राः (धृतराष्ट्रके पुत्रगण) सर्वे (समस्त) अवनिपालसङ्घैः सह एव (राजाओंके साथ) तथा भीष्मः द्रोणः (तथा भीष्म, द्रोण) असौ सूतपुत्रः च (और कर्ण) अस्मदीयैः (हमारे पक्षके) योधमुख्यैः (प्रधान योद्वाओंके) सह अपि (सहित ही) त्वाम् त्वरमाणाः (आपकी ओर धावित होकर) ते (आपके) दंष्ट्रकरालानि (भीषण दाँतोंके कारण विकराल) भयानकानि (भयङ्कर) वक्त्राणि (मुखगुहाओंमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) केचित् (कोई कोई) चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः (चूर्णितमस्तक होकर) दशनान्तरेषु (दाँतोंके मध्य भागमें) विलग्नाः (संलग्न होकर) संदृश्यते (भलीभाँति दीख रहे हैं)॥११.२६–२७॥

अनुवाद—ये सभी धृतराष्ट्रके पुत्र समस्त राजाओंके साथ भीष्म, द्रोण और कर्ण तथा मेरे पक्षके समस्त प्रधान योद्धाओं सहित आपके कराल–दन्तविशिष्ट मुखके मध्यमें शीघ्र प्रवेश कर रहे हैं एवं उन दाँतोंके बीच संलग्न होकर किसी–किसीका मस्तक चूर–चूर हुआ दिखाई दे रहा है॥११.२६–२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति॥११.२८॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) नदीनाम् (नदियोंके) बहवः अम्बुवेगाः (बहु जलप्रवाह) अभिमुखाः (समुद्रकी ओर अभिमुख होकर) समुद्रमेव (समुद्रमें ही) द्रवन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) अमी (ये समस्त) नरलोकवीराः (नरवीर) तव (आपके) अभितः (सर्वत्र) ज्वलन्ति (प्रज्वलित) वक्त्राणि (मुखोंमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं)॥११.२८॥

अनुवाद—जैसे नदियोंके जलका प्रवाह समुद्रकी ओर होता है, उसी प्रकार नरवीरगण आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं और सर्वतोभावेन ज्वलित हो रहे हैं॥ ११.२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥११.२९॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) पतङ्गाः (पतङ्गगण) नाशाय (मरनेके लिए) समृद्धवेगाः (प्रबल वेगसे) प्रदीप्तम् ज्वलनम् (प्रज्वलित अग्निमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) लोकाः अपि (ये लोग भी) नाशाय (मरनेके लिए ही) समृद्धवेगाः (अतिवेगसे) तव (आपके) वक्त्राणि (मुखोंमें) विशन्ति (प्रविष्ट हो रहे हैं)॥११.२९॥

अनुवाद—जिस प्रकार पतङ्गगण प्रबल वेगसे प्रदीप्त अग्निमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार विनष्ट होनेके लिए ये लोग भी प्रबल वेगसे आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं॥११.२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥११.३०॥

अन्वय—विष्णो (हे विष्णो!) [त्वम्—आप] जलद्भिः वदनैः (प्रज्वलित मुखों द्वारा) समग्रान् लोकान् (समस्त लोकोंको) ग्रसमानः (ग्रास करते हुये) समन्तात् (सभी ओरसे) लेलिह्यसे (पुनः पुनः अवलेहन कर रहे हैं अर्थात् चाट रहे हैं) तव (आपकी) उग्राः भासः (तीव्र ज्योति) समग्रम् जगत् (समग्र जगत्को) तेजोभिः (तेजके द्वारा व्याप्तकर) प्रतपन्ति (सन्तप्त कर रही है)॥११.३०॥

अनुवाद—हे विष्णो! आप प्रज्वलित मुखों द्वारा इन समस्त लोकोंको भलीभाँति ग्रास कर रहे हैं, समस्त जगत्को अपने तेजसे परिपूर्णकर उग्र प्रतापसहित प्रकाशमान हो रहे हैं॥११.३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥११.३१॥

अन्वय—उग्ररूपः (उग्ररूपधारी) भवान् (आप) कः (कौन हैं) मे (मुझे) आख्याहि (बतावें) ते (आपको) नमः अस्तु (प्रणाम करता हूँ) देववर (हे देवश्रेष्ठ!) प्रसीद (प्रसन्न होवें) आद्यम् (अ िद कारण) भवन्तम् (आपको) विज्ञातुम (विशेष रूपसे जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) हि (क्योंकि) [अहम्—मैं] तव (आपकी) प्रवृत्तिम् (प्रवृत्तिको) न प्रजानामि (नहीं जानता हूँ)॥११.३१॥

अनुवाद—उग्ररूपवाले आप कौन हैं? यह मुझे बतावें। हे देवश्रेष्ठ! आपको नमस्कार करता हूँ, आप प्रसन्न होवें। मैं आपकी प्रवृत्तिसे अवगत नहीं हूँ। मैं आपको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूँ॥११.३१॥

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥११.

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) [अहम्—मैं] लोकक्षयकृत् (लोकोंका नाश करनेवाला) प्रवृद्धः कालः अस्मि (अति उत्कट काल हूँ) लोकान् (लोकोंका) समाहर्त्तुम् (संहार करनेके लिए) इह (अभी) प्रवृत्तः (प्रवृत्त हुआ हूँ) प्रत्यनीकेषु (प्रतिपक्षमें) ये योद्धाः (जो योद्धागण) अवस्थिताः (अविस्थत हैं) [ते—वे] सर्वे (समस्त) त्वाम् ऋते अपि (तुम्हारे [द्वारा हत हुये] बिना भी) न भविष्यन्ति (जीवित नहीं रहेंगे)॥११.३२॥

अनुवाद—इन अहंकारी लोगोंको क्षय करनेकी इच्छासे मैं कालरूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ। प्रतिपक्षी समस्त योद्धाओंका मैं नाश करूँगा। इस विनाश कार्यके कर्त्ता तुम नहीं, मैं ही हूँ॥११.३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा
शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं
भव सव्यसाचिन्॥११.३३॥

अन्वय—तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) उत्तिष्ठ (उठो) यशः लभस्व (कीर्त्ति लाभ करो) शत्रून् जित्वा (शत्रुओंको जीतकर) समृद्धम् राज्यम् (समृद्ध राज्यका) भुङ्क्ष्व (भोग करो) मया एव (मेरे द्वारा ही) एते (ये समस्त) पूर्वमेव (पूर्व ही) निहताः (निहत हुये हैं) सव्यसाचिन् (हे सव्यसाचिन्!) [त्वम्—तुम] निमित्त मात्रम् भव (निमित्तमात्र बन जाओ)॥११.३३॥

अनुवाद—इस विनाशकार्यमें जब तुम्हारी अपेक्षा नहीं, तो युद्धमें तुम्हारा दण्डायमान होकर जयजनित यश लाभ तथा राज्य-भोग करना ही उचित है। मैंने सबका विनाश कर दिया है। हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तमात्र हो जाओ॥११.३३॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥११.

अन्वय—मया (मेरे द्वारा) हतान् (पूर्व ही विनाशप्राप्त) द्रोणम् च (द्रोणका) भीष्मम् च (भीष्मका) जयद्रथम् च (जयद्रथका) कर्णम् (कर्णका) तथा अन्यान् (तथा अन्यान्य) योधवीरान् अपि (वीर योद्धाओंका भी) त्वम् (तुम) जहि (वध करो) मा व्यथिष्ठाः (व्यथित मत होओ) रणे (युद्धमें) सपत्नान् (शत्रुओंको) जेतासि (जीतोगे) [अतः] युध्यस्व (युद्ध करो)॥११.३४॥

अनुवाद—मैंने द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण एवं अन्यान्य युद्धवीरोंको नष्ट कर दिया है। तुम क्लेशका परित्यागकर युद्ध करो और अपने विपक्षिगणपर विजय प्राप्त करो॥११.३४॥

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य॥११.३५॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) केशवस्य (भगवान् श्रीकेशवके) एतत् वचनम् (इस वचनको) श्रुत्वा (श्रवणकर) वेपमानः (कम्पायमान) किरीटी (अर्जुन) कृताञ्जलिः [सन्] (होथ जोड़कर) नमस्कृत्य (नमस्कार कर) भीतभीतः (अत्यन्त भयभीत होकर) भूयः एव (पुनः) प्रणम्य (प्रणामकर) सगद्‌गदम् (गद्‌गद-भावसे) कृष्णम् (श्रीकृष्णको) आह (कहा)॥११.३५॥

अनुवाद—सञ्जयने धृतराष्ट्रको कहा—हे राजन! भगवानके इन वचनोंको श्रवणकर अर्जुन कम्पित शरीरसे कृताञ्जलिपूर्वक अत्यन्त भयभीत होकर पुनः पुनः श्रीकृष्णको प्रणामकर गद्‌गद होकर कहने लगा॥११.३५॥

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥११.३६॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) हृषीकेश (हे हृषीकेश!) तव (आपके) प्रकीर्त्या (नाम-गुणादिके माहात्म्यके कीर्त्तनसे) जगत् प्रहृष्यति (जगत अत्यन्त हर्षित हो रहा है) अनुरज्यते च (और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है)

रक्षांसि (राक्षसगण) भीतानि (भयभीत होकर) दिशः (चारों ओर) द्रवन्ति (पलायन कर रहे हैं) सर्वे च सिद्धसङ्घाः (और सिद्धोंके समुदाय) नमस्यन्ति (नमस्कार कर रहे हैं) [एतत्—ये समस्त] स्थाने (युक्तियुक्त हैं)॥११.३६॥

अनुवाद—हे हृषीकेश! आपके यश–कीर्त्तनको श्रवणकर जगत हर्षित होकर अनुरागको प्राप्त हो रहा है, राक्षसगण भयभीत होकर चारों दिशाओंमें पलायन कर रहे हैं और सिद्धगण नमस्कार कर रहे हैं—यह उनके लिए युक्तकार्य है॥ ११.३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

अन्वय—महात्मन्! अनन्त! देवेश! जगन्निवास! ब्रह्मणः अपि (ब्रह्मासे भी) गरीयसे (श्रेष्ठ) आदिकर्त्रे (आदि कर्त्ता) ते (आपको) [सभी] कस्मात् न नमेरन् (क्यों नहीं नमस्कार करेंगें) सत् (कार्य) असत् (कारणसे) परम् (श्रेष्ठ) यत् अक्षरम् (जो अक्षर ब्रह्म है) तत् (वह) त्वम् (आप हैं)॥११.३७॥

अनुवाद—हे महात्मन्! आप सबसे श्रेष्ठ, आदिकर्त्ता और ब्रह्म हैं, (अतः) वे क्यों नहीं आपको नमस्कार करेंगे? हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप सत् तथा असत्—दोनोंसे अतीत तत्त्व तथ्य अच्युत हैं॥११.३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च घाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥११.३८॥

अन्वय—त्वम् (आप) आदिदेवः (आदिदेव) पुराणः पुरुषः (प्राचीनतम पुरुष हैं) त्वम् [एव] (आप ही) अस्य विश्वस्य (इस विश्वका) परम् निधानम् (एकमात्र लयस्थान) वेत्ता वेद्यम् च (ज्ञाता और ज्ञेय) परम् धाम च (और परमधाम) असि (हैं) अनन्तरूप (हे अनन्तरूप!) त्वया (आपके द्वारा) विश्वम् (विश्व) ततम् (व्याप्त है)॥११.३८॥

अनुवाद—आप ही आदिदेव तथा सनातन पुरुष हैं, आप ही इस विश्वका एकमात्र लयस्थान हैं, आप ही वेत्ता और वेद्य और गुणातीत–स्वरूप हैं। हे अनन्तरूप! यह विश्व आपके द्वारा व्याप्त है॥११.३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥११.३९॥

अन्वय—त्वम् (आप) वायुः (वायु) यमः (यम) अग्निः (अग्नि) वरुणः (वरुण) शशाङ्कः (चन्द्र) प्रजापति (ब्रह्मा) प्रपितामहः च (और उनके भी जनक

हैं) ते (आपको) सहस्रकृत्वः नमः (हजारों बार नमस्कार है) पुनश्च नमः (पुनः नमस्कार है) भूयः अपि (पुनः) ते नमः (आपको नमस्कार है)॥११.३९॥

अनुवाद—आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र एवं प्रजापति ब्रह्मा हैं, अतएव मैं आपको हजारों बार प्रणाम करता हूँ एवं पुनः प्रणाम करता हूँ॥ ११.३९॥

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥११.४०॥

अन्वय—सर्व (हे सर्वस्वरूप!) ते (आपको) पुरस्तात् (सम्मुख) अथ (अनन्तर) पृष्ठतः (पश्चात्से) नमः (नमस्कार है) ते (आपको) सर्वतः एव (सभी ओरसे) नमः अस्तु (नमस्कार है) अनन्तवीर्य (हे अनन्त शक्तिसम्पन्न!) अतिविक्रमः (असीम प्राक्रमी) त्वम् (आप) सर्वम् (सम्पूर्ण जगत्को) समाप्नोषि (व्याप्त किए हुये हैं) ततः (इस कारणसे) [त्वम्—आप] सर्वः असि (सर्वस्वरूप हैं)॥११.४०॥

अनुवाद—आपको सामनेसे, पीछे तथा सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ, हे अनन्तवीर्य! आप ही अपरिमेय शक्ति–सम्पन्न हैं, आप ही समस्त जगत्में व्याप्त हैं, अतएव आप ही 'सर्व' हैं॥११.४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥११.४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥११.४२॥

अन्वय—तव (आपकी) इदम् महिमानम् (इस महिमाको) अज्ञानता (नहीं जानकर) प्रमादतः (प्रमादवश) प्रणयेन वा अपि (अथवा प्रणयवश) सखा इति मत्वा [आप] (सखा हैं—ऐसा मानकर) हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इति (इस प्रकार) यत् (जो) प्रसभम् (हठपूर्वक) मया (मेरे द्वारा) उक्तम् (कहा गया) अच्युत (हे अच्युत!) विहार–शय्या–आसन–भोजनेषु (विहार, शयन, आसन और भोजन इत्यादिके समय) एकः (निर्जनमें) अथवा तत्समक्षम् (अथवा अन्यान्य बन्धुओंके समक्ष) अवहासार्थम् (परिहासके लिए) [आप, जो] असत्कृतः असि

(असम्मानित हुये हैं) तत् (उन सबके लिए) [अहम्—मैं] त्वाम् (आपसे) अप्रमेयम् (अपरिसीम) क्षामये (क्षमा–याचना करता हूँ)॥११.४१–४२॥

अनुवाद—हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! मैंने आपको इस प्रकार जो सामाजिक अभिमानके साथ जो सम्बोधित किया है, उससे आपके विश्वरूप–सम्बन्धी महिमाके विषयमें मेरी अज्ञानता ही परिलक्षित होती है, अतएव प्रमादवश कभी–कभी मैंने ऐसी उक्ति की है। विहार, शयन और भोजनके समय मैंने परिहासपूर्वक जो असत्कार किया है, वह कभी बन्धुओंके समक्ष तथा कभी अकेले में किया गया है। ऐसे मेरे हजारों अपराधोंको आप क्षमा करें॥११.४१–४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥११.४३॥

अन्वय—अप्रतिम प्रभाव (हे अनुपम प्रभाववाले!) त्वम् (आप) अस्य चराचरस्य (इस चर और अचर) लोकस्य (लोकके) पिता (पिता) पूज्यः (पूज्य) गुरुः (गुरु) च गरीयान् (और गुरुश्रेष्ठ) असि (हैं) लोकत्रये (तीनों लोकोंमें) त्वत् समः अपि (आपके समान भी) अन्यः न अस्ति (अन्य कोई नहीं है) अभ्यधिकः कुतः (तो अधिक कहाँसे होगा)॥११.४३॥

अनुवाद—आप इस जगत्के पिता, पूज्य और प्रधान गुरु हैं। आपकी अपेक्षा अधिक होनेकी बात तो दूर रहे, आपके समान भी कोई नहीं हैं। इस तीनों लोकोंमें आप ही प्रभावशाली हैं॥११.४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥११.४४॥

अन्वय—तस्मात् (इसलिए) अहम् (मैं) कायम् प्रणिधाय (अपने शरीरको आपके चरणोंमें गिराकर) प्रणम्य (प्रणामकर) ईड्यम् (स्तुतिके योग्य) त्वाम् ईशम् (आप ईश्वरके समीप) प्रसादये (प्रसन्न होनेके लिए प्रार्थना करता हूँ) देव (हे देव!) पुत्रस्य पिता इव (पुत्रके पिताकी भाँति सख्युः सखा इव (सखाके सखाकी भाँति) प्रियायाः प्रियः (प्रियाके प्रियकी भाँति) सोढुम (क्षमा करनेमें) अर्हसि (समर्थ हैं)॥११.४४॥

अनुवाद—वस्तुतः आप ही जीवोंके ईश एवं सेव्य हैं। दण्डवत् पतित होकर प्रणतिपूर्वक मैं आपकी प्रसन्नताकी याचना करता हूँ। आप तथा जीव नित्य

अवस्थामें सख्य, वात्सल्य और मधुररसगत सम्बन्धसे आबद्ध हैं। उस–उस सम्बन्ध–व्यापारमें नित्यदासरूप जीवगण जो समता का व्यवहार करते हैं, उसे आप कृपापूर्वक स्वीकार करते हैं॥११.४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥११.४५॥

अन्वय—देव (हे देव!) [तव—आपके] अदृष्टपूर्व (पहले कभी न देखे हुये) [इदम् रूपम्—इस रूपको] दृष्ट्वा (देखकर) हृषितः अस्मि (आनन्दित हो रहा हूँ) मे (मेरा) मनः (मन) भयेन (भयसे) प्रव्यथितम् च [प्रपीड़ित भी हो रहा है] देवेश (हे देवेश!) तत् रूपम् एव (अपने उस रूपको ही) मे (मुझे) दर्शय (दिखावें) जगन्निवास (हे जगन्निवास!) प्रसीद (प्रसन्न होवें)॥११.४५॥

अनुवाद—आपके इस विश्वरूपको देखकर, जिसे कभी पहले नहीं देखा, मेरा कौतूहल चरितार्थ हो रहा है। किन्तु, इससे भक्तोंके मनोनयनकी आनन्दोत्पत्ति नहीं होती है, अतएव यह दर्शनकर मेरा मन भयसे व्यथित हो रहा है। हे जगन्निवास! हे देवेश! अपने सच्चिदानन्दमय चतुर्भुज रूपका दर्शन करावें॥ ११.४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते॥११.४६॥

अन्वय—अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) तथा एव (वैसा ही) किरीटिनम् (मुकुटधारी) गदिनम् (गदाधारी) चक्रहस्तम् (चक्रधारी) द्रष्टुम् (देखनेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) सहस्रबाहो (हे हजारों भुजाओंवाले!) विश्वमूर्त्ते (हे विश्वमूर्त्ते!) तेन (उस) चतुर्भुजेन रूपेण एव (चतुर्भुज रूपमें ही) [प्रकट] भव (होवें)॥ ११.४६॥

अनुवाद—अभी मैं आपके उस चतुर्भुज रूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ, जिसके मस्तकपर मुकुट तथा हाथोंमें गदा, चक्रादि आयुध हैं। चतुर्भुजाकार मूर्त्तिसे ही आप स्थितिकालमें सहस्रबाहुविशिष्ट (हजारों भुजावाले) विश्वरूप मूर्त्तिको उदित कराते हैं। हे कृष्ण! मैं निःसन्देह यह जान गया कि आपका द्विभुज सच्चिदानन्दमय रूप ही सर्वोपरि तत्त्व है एवं यह सभी जीवोंको आकर्षित करनेवाला तथा सनातन है। उस द्विभुज मूर्त्तिके ऐश्वर्य विलासरूप आपकी चतुर्भुज नारायण मूर्त्ति नित्य विराजमान है एवं जिस समय जगत्‌की सृष्टि होती है, उस

समय उसी चतुर्भुज रूपसे यह विश्वरूप विराट मूर्त्ति आविर्भूत होती है। इस परमज्ञानके द्वारा ही मेरा कौतूहल चरितार्थ हुआ॥११.४६॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥११.४७॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अर्जुन (हे अर्जुन!) प्रसन्नेन मया (प्रसन्नयुक्त मेरे द्वारा) आत्मयोगात् (आत्मयोग–बलसे) तव (तुम्हें) तेजोमयम् (तेजोमय) विश्वम् (विश्वरूपी) अनन्तम् (अनन्त) आद्यम् (आदि) मे (मेरे) इदम् परम् श्रेष्ठम् (इस श्रेष्ठ रूपको) दर्शितम् (दिखाया गया) यत् (जो) त्वदन्येन (तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा) न दृष्टपूर्वम् (पहले नहीं देखा गया)॥ ११.४७॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर तुम्हें जड़जगतके अन्तर्गत आत्मयोगस्वरूप श्रेष्ठरूप दिखाया। तुम्हारे अतिरिक्त पहले अन्य किसीने उस अनन्त, आदि तेजोमय रूपको नहीं देखा॥११.४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥११.४८॥

अन्वय—कुरुप्रवीर (हे कुरुप्रवीर!) नृलोके (नरलोकमें) त्वदन्येन (तुम्हारे अतिरिक्त और किसी के द्वारा) वेदयज्ञाध्यनैः न (न वेदयज्ञ और अध्ययनके द्वारा) दानैः न (न दानके द्वारा) क्रियाभिः न (न अग्निहोमादि कर्मोंके द्वारा) उग्रैः तपोभिः च न (और न ही उग्र तपस्याओंके द्वारा) एवंरूपः अहम् (ऐसा विश्वरूप–विशिष्ट मैं) द्रष्टुम शक्यः (देखने योग्य हूँ)॥११.४८॥

अनुवाद—हे कुरुप्रवीर! किसीने वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपस्या द्वारा इस लोकमें मेरे आत्मयोग–जनित विश्वरूपका दर्शन नहीं किया, केवल तुमने इसका दर्शन किया है। जिन समस्त जीवोंने देवावस्थाको प्राप्त किया है, वे ही दिव्य चक्षु और दिव्य मन द्वारा मेरे इस विश्वरूपका दर्शन और स्मरण करते हैं। इस जड़ (जगत्) में जो मूढ़–प्रतीतिमें आबद्ध हैं, वे इस दिव्य रूपको नहीं देख पाते हैं, किन्तु मेरे भक्तगण मूढ़ता और दिव्यताको भेदकर मेरे योगमें नित्य चित्–तत्त्वमें अवस्थित हैं, अतएव वे तुम्हारी तरह विश्वरूपका दर्शन

करनेपर भी सुखी नहीं होकर मेरे चिन्मय नित्यरूपके दर्शनकी लालसा करते हैं॥ ११.४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥११.४९॥

अन्वय—मम (मेरे) ईदृक् (इस प्रकार) घोरम् (भयङ्कर) इदम् रूपम् (इस रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) ते (तुम्हें) व्यथा (भय) मा [आस्ति] (न हो) विमूढभावः च (एवं विमूढ़भाव) मा [अस्तु] (नहीं हो) पुनः (पुनः) व्यपेतभीः (भयशून्य) प्रीतमनाः [सन्] (प्रीतियुक्त मनवाला होकर) मे (मेरे) इदम् (इस) तत् एव (उसी) रूपम् (चतुर्भुज रूपका) प्रपश्य (प्रकृष्ट रूपमें दर्शन करो)॥११.४९॥

अनुवाद— मूढ़बुद्धिवाले लोग इस विश्वरूप-चिन्तापर विश्वास नहीं करते। इस भयानक रूपको देखकर तुम्हें व्यथा या विमूढ़ता नहीं होनी चाहिए। मेरे भक्तगण शान्तिप्रिय हैं एवं वे मेरे सच्चिदानन्द रूपके पक्षपाती होते हैं। अतएव मेरे विश्वरूपके सम्बन्धमें तुम्हें इस प्रकारकी व्यथा या विमूढ़ता न हो—मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ। इस विश्वरूपके साथ मेरे माधुर्य-परायण भक्तोंका कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु, तुम मेरे लीला-सखा हो, अतः मेरी समस्त लीलाओंमें ही तुम्हें उपकरण बनना होगा। तुम्हारा इस प्रकार व्यथित होना उचित नहीं है, अतएव भयका परित्यागकर प्रीतमना होकर मेरे नित्य रूपका दर्शन करो॥११.४९॥

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥११.५०॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) वासुदेवः (वासुदेवने) अर्जुनम् (अर्जुनको) इति उक्त्वा (ऐसा कहकर) भूयः (पुनः) तथा स्वकम् रूपम् (अपने उसी चतुर्भुज रूपको) दर्शयामास (दिखाया) महात्मा (उदार हृदयवाले) [श्रीकृष्ण] सौम्यवपुः भूत्वा (प्रसन्नमूर्त्ति होकर) पुनः (पुनः) भीतम् एनम् (भयभीत अर्जुनको) आश्वासयामास (आश्वस्त किया)॥११.५०॥

अनुवाद—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—महात्मा वासुदेवने अर्जुनको इस प्रकार कहकर अपनी चतुर्भुज मूर्तिका दर्शन कराकर अन्तमें अपने द्विभुज सौम्यमूर्त्तिका प्रकाश करते हुये भीतमना अर्जुनको साहस प्रदान किया॥११.५०॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥११.५१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) जनार्दन (हे जनार्दन!) तव (आपके) इदम् सौम्यम् (इस मनोहर) मानुषम् रूपम् (मनुष्य रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) इदानीम् (अब) [अहम्—मैं] सचेताः (प्रसन्नचित्त) संवृत्तः अस्मि (हो गया हूँ) प्रकृतिम् गतः (और अपनी पूर्व स्थितिको प्राप्त हो गया)॥११.५१॥

अनुवाद—श्रीकृष्णके परम माधुर्यमय द्विभुज मूर्त्तिको देखकर अर्जुनने कहा—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्यमूर्त्तिको देखकर मेरा चित्त स्थिर हुआ और मेरी भक्त-प्रकृति पुनः प्राप्त हुई॥११.५१॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥११.५२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) मम् (मेरे) यत् (जो) इदम् (इस) सुदुर्दर्शम् (अत्यन्त दुःखपूर्वक भी अदर्शनीय) रूपम् (रूपको) दृष्टवान् असि (देखा है) देवाः अपि (देवगण भी) अस्य रूपस्य (इस रूपके) नित्यम् दर्शनकाङ्क्षिणः (दर्शनकी नित्य अभिलाषा करते हैं)॥११.५२॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! तुम अभी मेरे जिस रूपको देख रहे हो, वह सुदुर्दर्शनीय (अत्यन्त दुर्लभ) है। ब्रह्मा-रुद्रादि देवतागण भी इस नित्य रूपके दर्शनाकाङ्क्षी हैं। यदि कहो कि सभी लोग तो इस मनुष्य शरीरका दर्शन कर रहे हैं, अतः यह किस प्रकार दुर्दर्शनीय हुआ, तो मैं तुम्हें इसका तत्त्व बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक श्रवण करो—मेरे इस सच्चिदानन्द कृष्णरूपके सम्बन्धमें तीन प्रकारकी प्रतीति हैं—विद्वत्-प्रतीति, अविद्वत्-प्रतीति तथा यौक्तिक-प्रतीति। अविद्वत् मूढ़ प्रतीति द्वारा मानवगण मेरे इस मायिक अर्थात् जड़-धर्माश्रित और अनित्य प्रतीतिको 'सत्य' कहकर अङ्गीकार करते हैं, इससे वे इस स्वरूपके परम भावको नहीं जान पाते हैं। यौक्तिक अथवा दिव्य प्रतीति द्वारा ज्ञानाभिमानी पुरुष तथा देवतागण इस प्रतीतिको जड़-धर्माश्रित और अनित्य समझकर या तो मेरी विश्वव्यापी मूर्त्तिको नहीं तो विश्वातिरिक्त व्यतिरेक-भावगत निर्विशेष-ब्रह्मको 'नित्यतत्त्व' समझकर मेरे इस नराकारको 'अर्चनोपाय' के रूपमें प्रतिपादित करते हैं। विद्वत् प्रतीति द्वारा मेरे इस मनुष्य रूपको साक्षात् 'सच्चिदानन्दधाम' समझकर चित्-चक्षुविशिष्ट भक्तगण मेरा साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। अतएव इस प्रकारका दर्शन देवताओंके लिए भी दुर्लभ है। देवताओंमें ब्रह्मा और शिव ही मेरे शुद्धभक्त

हैं, अतएव वे इस रूपके दर्शनकी लालसा करते हैं। मेरी शुद्ध–सख्यभक्तिका आश्रय करनेके कारण मेरी कृपासे तुम विश्वरूपादिका दर्शनकर नित्यरूपके सर्वश्रेष्ठत्वको जान सके॥११.५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम॥११.५३॥

अन्वय—माम् (मुझे) यथा (जिस रूपमें) दृष्टवान् असि (देखा है) एवंविधः (ऐसा रूपविशिष्ट) अहम् (मैं) वेदैः (वेदोंके द्वारा) तपसा (तपस्याके द्वारा) दानेन (दानके द्वारा) इज्यया च (एवं यज्ञके द्वारा) द्रष्टुम् न शक्य (दर्शन योग्य नहीं हूँ)॥ ११.५३॥

तुमने विज्ञानसहित मेरे जिस नराकार श्रीविग्रहका दर्शन किया, उसे वेदपाठ, तपस्या, दान, इज्या (यज्ञ) प्रभृति उपायोंसे कोई भी दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥११.५४॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) अर्जुन (अर्जुन!) अनन्या (केवला) भक्त्या तु (भक्तिके द्वारा ही) एवंविधः (ऐसा रूपविशिष्ट) अहम् (मैं) तत्त्वेन (यथायथ रूपसे) ज्ञातुम् (जानने) द्रष्टुम् (देखने) प्रवष्टुम् च (और प्रवेश करनेमें) शक्यः (समर्थ हुआ जाता हूँ)॥११.५४॥

अनुवाद—हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं इस रूपमें ज्ञात, दृष्ट और साक्षात्कृत होता हूँ॥११.५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥११.५५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नाम एकादशोऽध्यायः॥

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव!) यः (जो) मत्कर्मकृत (मेरे लिए ही कर्म करते हैं) मत्परमः (मेरे परायण हैं) मद्भक्तः (मेरे श्रवण–कीर्त्तनादि विविध भक्तियुक्त हैं) सङ्गवर्जितः (आसक्तिरहित हैं) सर्वभूतेषु निर्वैरः (सभी भूतोंके प्रति द्वेषरहित हैं) सः (वे) माम् इति (मुझे प्राप्त होते हैं)॥११.५५॥

अनुवाद—जो मेरी अकैतव निष्कपट सेवा करते हैं, कर्म–ज्ञानके फलसे आसक्तिरहित होकर समस्त व्यापारमें मेरी भक्तिकी आलोचना करते हैं एवं सभी भूतोंके प्रति सदय होते हैं, वे ही श्रीकृष्णस्वरूप मुझे प्राप्त करते हैं। विश्वरूप

और नारायण–मूर्ति आदि श्रीकृष्ण–तत्त्वके ऐश्वर्य–स्वरूप हैं—यही इस अध्यायमें विचारित (प्रतिपादित) हुआ है॥११.५५॥

एकादश अध्याय समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

द्वादश अध्याय (भक्तियोग)

अर्जुन उवाच—
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥१२.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा!) एवम् (इस प्रकारसे) सततयुक्ताः (निरन्तर आपमें निष्ठायुक्त) ये भक्ताः (जो भक्तगण) त्वाम् (आपकी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ये च अपि (और जो) अव्यक्त (निर्विशेष) अक्षरम् (ब्रह्मकी) [पर्युपासते—उपासना करते हैं] तेषाम् (उन दोनोंमें) के योगवित्तमा (कौन श्रेष्ठ योगवेत्ता हैं)॥१२.१॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आपने अभी तक जो उपदेश दिये, उनसे मैंने यह जाना कि योगी दो प्रकारके हैं। एक प्रकारके योगी समस्त शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको आपकी अनन्या भक्तिके अधीन–शृंखलामें बद्धकर आपकी उपासना करते हैं। अन्य प्रकारके योगिगण शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको निष्काम कर्मयोग द्वारा आवश्यकतानुसार स्वीकारकर अक्षर और अव्यक्तरूप आपके आध्यात्मिक योगका अवलम्बन करते हैं। इन दोनों प्रकारके योगियोंमें कौन श्रेष्ठ हैं?॥१२.१॥

श्रीभगवानुवाच—
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥१२.२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) ये (जो) परया श्रद्धया उपेताः (निर्गुण श्रद्धायुक्त होकर) मनः (मनको) मयि (मुझमें) आवेश्य (आविष्टकर) नित्ययुक्ताः (सततयुक्त होकर) माम् (मुझे) उपासते (भजते हैं) ते (वे) युक्ततमाः (श्रेष्ठ योगविद्) [हैं] मे मताः (यही मेरा मत है)॥१२.२॥

अनुवाद—भगवान्ने कहा—जो निर्गुण श्रद्धासहित समस्त जीवनको भक्तिमयकर मुझमें मनोनिवेश करते हैं, वे भक्त व्यक्ति ही समस्त योगियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं॥ १२.२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥१२.३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥१२.४॥

अन्वय—ये तु (किन्तु जो) इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियोंको) संनियम्य (संयमितकर) सर्वत्र (सभी वस्तुओंमें) समबुद्धयः (समदृष्टि सम्पन्न) सर्वभूतहिते रताः [सन्तः] (और सभी भूतोंके कल्याणमें रत होकर) अनिर्देश्यम् (निर्देशके अतीत, अनिर्वचनीय) अव्यक्तम् (प्राकृत रूपादिसे रहित) सर्वत्रगम् (सर्वव्यापी) अचिन्त्यम् च (एवं तर्कातीत) कूटस्थम् (सर्वकालव्यापी, नित्य एकरूप) अचलम् (वृद्धि आदिसे रहित) ध्रुवम (नित्य) अक्षरम् (ब्रह्मकी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ते (वे) मामेव (मुझे ही) प्राप्नुवन्ति (प्राप्त होते हैं)॥१२.३–४॥

अनुवाद—जो इन्द्रियोंको नियमितकर सभीके प्रति समदर्शी होकर, सर्वभूतोंके हितकार्यमें रत रहकर मेरे अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव और निर्विशेष–स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे अत्यधिक कष्टके बाद मुझमें ही स्थितिको प्राप्त करते हैं। जब मेरे अतिरिक्त कोई उपास्य वस्तु ही नहीं है, तो वे जिस किसी प्रकारसे परमवस्तुको प्राप्त करनेका यत्न करें, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं॥१२.३–४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥१२.५॥

अन्वय—अव्यक्तासक्तचेतसाम् (निर्विशेष स्वरूपमें आसक्तचित्त) तेषाम् (उन लोगोंको) अधिकतरः क्लेशः (अधिकतर क्लेश है) हि (क्योंकि) अव्यक्ता–गतिः (निर्विशेष ब्रह्मविषयक निष्ठा) देहवद्भिः (देहाभिमानी जीवके द्वारा) दुःखम् अवाप्यते (दुःखसे प्राप्त होता है)॥१२.५॥

अनुवाद—ज्ञानयोगी और भक्तयोगीमें यही भेद है कि उपायकालमें भक्तयोगी अतिसहज ही परात्पर वस्तुका अनुशीलनकर फलकालमें निर्भय होकर उसे प्राप्त करते हैं। ज्ञानयोगी सर्वदा अव्यक्त तत्त्वमें निष्ठावान् होकर उपायकालमें व्यतिरेक चिन्ताका जो कष्ट है, उसे भोगते हैं। व्यतिरेक चिन्ताका तात्पर्य है—सहज प्रीतिके विपरीत चिन्ता, अतः यह जीवोंके लिए दुःखजनक है। फलकालमें भी इसमें निर्भयता नहीं है, क्योंकि साधनकाल अतिवाहित (व्यतीत) करनेसे पहले ही मेरे नित्य स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर पानेसे चरमगति भी उनके लिए दुःखदायी है।

जीव नित्य–चिन्मय वस्तु है। जीव यदि अव्यक्त अवस्थामें लीन हो जाय, तो उसके उपादेय अवस्थाका नाश होता है। यदि उसका स्व–स्वरूप उदित होता है, तो उसका विपरीत–स्वरूप जो अहंग्रह–बुद्धि है, उसको परित्याग करनेमें भी कष्ट होता है। देहविशिष्ट होकर उपायकाल या फलकालमें अव्यक्तका ध्यान आरम्भ करनेसे वह जीव दुःखरूप फल ही प्राप्त करता है। वस्तुतः जीव चैतन्यस्वरूप तथा चित्–देहविशिष्ट होता है। अतएव अव्यक्त भावको केवल जीवका स्वरूपविरोधी और दुःखजनक भावके रूपमें ही जानना चाहिए। भक्तियोग ही जीवके लिए मङ्गलजनक है। ज्ञानयोग भक्तिसे रहित, स्वतन्त्र होनेपर सर्वत्र अमङ्गल ही उत्पन्न करता है। अतएव निराकार, निर्विकार, सर्वव्यापी और निर्विशेष स्वरूपकी उपासनासे जो अध्यात्म–योग साधित होता है, वह प्रशस्त नहीं है॥१२.५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥१२.६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥१२.७॥

अन्वय—ये तु (किन्तु जो) सर्वाणि कर्माणि (समस्त कर्म) मयि संन्यस्य (मुझमें न्यस्तकर) मत्पराः [सन्तः] (मेरे परायण होकर) अनन्येन एव योगेन (अनन्य भक्तियोगसे ही) माम् (मुझे) ध्यायन्तः (ध्यानपूर्वक) उपासते (भजते हैं) पार्थ (हे पार्थ!) मयि (मुझमें) आवेशितचेतषाम् (आसक्तचित्त) तेषाम् (उनका) अहम् (मैं) न चिरात् (अचिरात्) मृत्युसंसार–सागरात् (मृत्युयुक्त संसार–समुद्रसे) समुद्धर्त्ता भवामि (उद्धार–कर्त्ता होता हूँ)॥१२.६–७॥

अनुवाद—जो मेरे भगवत्–स्वरूपका अवलम्बन करनेवाले हैं, जो अपने समस्त शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको सम्पूर्णरूपेण मेरी भक्तिके अधीन स्वीकार करते हैं एवं मत्सम्बन्धीय अनन्य भक्तियोग द्वारा मेरे नित्य श्रीविग्रहका ध्यान और उपासना करते हैं, मुझमें आविष्टचित्तवाले उन लोगोंको मैं अतिशीघ्र ही मृत्युरूप–संसार–सागरसे पार कर देता हूँ अर्थात् बद्धावस्थामें मायिक संसारसे मुक्ति दान करता हूँ एवं मायाबन्धनके नष्ट होनेपर अभेदबुद्धिरूप जीवात्माकी मृत्युसे अचिरात रक्षा करता हूँ। अव्यक्त रूपमें आसक्तचित्त व्यक्तियोंकी अभेद बुद्धिजनित निःसहायता ही उनके अमङ्गलका कारण है। मेरी प्रतिज्ञा है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि अव्यक्तका ध्यान

करनेवाले पुरुषगण मेरे अव्यक्त स्वरूपमें लीन होते हैं। इसमें मेरी क्या क्षति है? अभेदवादी जीवोंके द्वारा इस प्रकारकी गति प्राप्त करनेसे उनका स्वरूपगत उपादेयत्व नष्ट होता है॥१२.६–७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः॥१२.८॥

अन्वय—मयि एव (श्यामसुन्दराकार मुझमें ही) मनः (मनको) आधत्स्व (स्थिर करो अर्थात् स्मरण करो) मयि (मुझमें) बुद्धिम् (बुद्धिको) निवेशय (अर्पित करो अर्थात् मनन करो) अतः ऊर्द्ध्वम् (इस प्रकार देहके अन्त होनेपर) मयि एव (मेरे समीप ही) निवसिष्यसि (निवास करोगे) संशयः न (इसमें कोई सन्देह नहीं है)॥१२.८॥

अनुवाद—मेरे नित्य भगवत्स्वरूपमें मनको स्थिरकर मेरा ही स्मरणकरो, अपनी विवेकवती बुद्धिको मुझमें ही नियुक्त करो और तुम भगवत्–तत्त्वमें ही अवस्थित होओ। ऐसा करनेसे ही साधन–भक्तिका जो सर्वोच्च फल निरुपाधिक प्रेम है, तुम उसे लाभ करोगे॥१२.८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥१२.९॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) अथ (और यदि) मयि (मुझमें) चित्तम् (चित्तको) स्थिरम् समाधातुम् (स्थिर भावसे स्थापित) न शक्नोषि (नहीं कर सकते हो) ततः (तो) अभ्यासयोगेन (अभ्यासयोग द्वारा) माम् (मुझे) आप्तुम् इच्छ (पानेकी इच्छा करो)॥१२.९॥

अनुवाद—जिस निरुपाधिक प्रेम–विषयका उल्लेख किया है, उसे मन्निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार समझो। इसके साधनके लिए अभ्यासकी आवश्यकता होती है। यदि तुम मुझमें चित्तको समाधान करनेमें अक्षम हो, तो तुम्हारे पक्षमें अभ्यासयोग ही श्रेयस्कर है॥१२.९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥१२.१०॥

अन्वय—अभ्यासे अपि (अभ्यासयोगमें भी) [यदि] असमर्थः (अक्षम) असि (होओ) [तो] मत्कर्मपरमः (मेरे कर्मपरायण) भव (होओ) मदर्थम् (मेरी प्रीतिके लिए) कर्माणि (श्रवण–कीर्त्तनादि कर्म) कुर्वन् अपि (करनेपर भी) सिद्धिम् (सिद्धि) अवाप्स्यसि (लाभ करोगे)॥१२.१०॥

अनुवाद—यदि अभ्यासमें भी असमर्थ होओ, तो मेरे लिए अर्पित कर्मका आचरण करो। ऐसा करनेसे क्रमशः अभ्यास और अन्तमें मेरे सविशेष–तत्त्वमें चित्त–स्थैर्यरूपी सिद्धि लाभ करोगे॥१२.१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुंमद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥१२.११॥

अन्वय—अथ (यदि) एतत् अपि (इसे भी) कर्त्तुम् (करनेमें) अशक्तः असि (अक्षम होओ) ततः (तो) मद्योगम् (मुझमें समस्त कर्मोंको अर्पणरूप योगका) आश्रितः (आश्रयकर) यतात्मवान् (संयतचित्तसे) सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु (समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो)॥१२.११॥

अनुवाद—यदि मदर्पित–कर्माचरणमें भी अक्षम होओ, तो आत्मवान् होकर समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो॥१२.११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२.१२॥

अन्वय—हि (क्योंकि) अभ्यासात् (अभ्याससे) ज्ञानम् (ज्ञान) श्रेयः (श्रेष्ठ है) ज्ञानात् (ज्ञानकी अपेक्षा) ध्यानम् (मेरा स्मरण) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) ध्यानात् (ध्यानसे) कर्मफलत्यागः [स्यात्] (कर्मफलका त्याग होता है) त्यागात् अनन्तरम् (त्यागके बाद) शान्तिः (मेरे अतिरिक्त अन्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी उपरति) [भवति—होती है]॥१२.१२॥

अनुवाद—हे अर्जुन! एकमात्र साधन–भक्ति ही निरुपाधिक प्रेमको प्राप्त करनेका उपाय है। इस भक्तियोगके दो प्रकार हैं—भगवत्–निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार और बहिष्करणका व्यापार। भगवत्–निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार तीन प्रकारका है—स्मरणात्मक, मननात्मक एवं अभ्यासात्मक। किन्तु, जिनकी बुद्धि मन्द है, उनके लिए ये तीनों प्रकारके अन्तःकरणके व्यापार दुर्गम हैं। श्रवण–कीर्त्तनरूप बहिष्करण अर्थात् बाह्येन्द्रियोंका व्यापार सभीके लिए सुगम है। अतएव मेरे सम्बन्धमें मनन अथवा बुद्धि ही उत्कृष्ट ज्ञान है एवं यही अभ्याससे श्रेष्ठ है [ज्ञानयोगवाला ज्ञान नहीं]। अभ्यासके समय यत्नपूर्वक ध्यान किया जाता है, किन्तु अभ्यासका फल जो मनन है, उसके उपस्थित होनेसे अनायास ही ध्यान होता है। केवल–ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानकी श्रेष्ठता है, क्योंकि ध्यानके स्थिर होनेपर सामान्य स्वर्गसुख अथवा मोक्षसुखकी स्पृहा दूर होती है। इन दोनों स्पृहाओंके दूर होनेपर

मेरे रूप–गुणादिके अतिरिक्त समस्त इन्द्रिय–विषयोंमें उपरतिरूपी शान्ति उपस्थित होती है॥१२.१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥१२.१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१२.१४॥

अन्वय—सर्वभूतानाम् (समस्त भूतोंके प्रति) अद्वेष्टा (द्वेषरहित) मैत्रः (तुल्य व्यक्तिमें मित्रभाव वर्त्तमान) करुणः एव च (और हीन व्यक्तिके प्रति कृपालु) निर्ममः (पुत्र–कलत्रादिके प्रति ममताशून्य) निरहङ्कारः (देहमें अहङ्कारशून्य) समदुःखसुखः (प्रारब्ध फलकी भावना द्वारा सुख तथा दुःखमें समज्ञानसम्पन्न) क्षमी (सहिष्णु) सततम् सन्तुष्टः (सर्वदा सन्तुष्ट) योगी (भक्तियोगयुक्त) यतात्मा (संयत इन्द्रियोंवाला) दृढनिश्चयः (अनन्य भक्तिमें दृढ़निश्चयी) मयि (मुझमें) अर्पितमनोबुद्धिः (मन–बुद्धि अर्पणकारी अर्थात् मेरे स्मरण–मननपरायण) यः (जो) मद्भक्तः (मेरे भक्त हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)॥१२.१३–१४॥

अनुवाद—वे शान्त भक्त स्वभावतः सभी भूतोंके प्रति द्वेषशून्य होते हैं अर्थात् जो लोग उनके प्रति द्वेष करते हैं, उनके प्रति भी वे द्वेषशून्य होते हैं, बल्कि सभीसे मित्रता करते हैं। असद्गतिसे कुपथगामी जीवोंकी रक्षा कैसे होगी—इस विषयमें वे कृपालु होते हैं एवं जड़ीय देहके सम्बन्धमें निर्मम अर्थात् अहङ्कारशून्य होते हैं। वे दूसरोंके द्वारा निगृहीत होकर भी प्रारब्ध फल समझकर विक्षुब्ध नहीं होते अर्थात् वे क्षमावान् होते हैं। वे यदृच्छाक्रम और उपाय–शृंखला–क्रमसे फलोद्देश–निष्ठारूप योगपरिनिष्ठित एवं दृढ़निश्चयी होकर सर्वदा निरुपाधिक प्रेमको प्राप्त करनेका यत्न करते हैं॥१२.१३–१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१२.१५॥

अन्वय—यस्मात् (जिनसे) लोकः (कोई लोग) न उद्विजते (उद्वेगको नहीं प्राप्त होते हैं) यः च (और जो) लोकात् (किसीसे) न उद्विजते (उद्वेगको प्राप्त नहीं होते हैं) यः च (और जो) हर्षामर्षभयोद्वेगैः (प्राकृत हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेगसे) मुक्तः (मुक्त हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)॥१२.१५॥

अनुवाद—जिनसे कोई व्यक्ति उद्वेगको प्राप्त नहीं होते एवं जो लोगोंसे भी उद्वेगको प्राप्त नहीं होते, इस प्रकार हर्ष, अमर्ष, अर्थात् क्रोध, भय और उद्वेगसे परिमुक्त मेरे समस्त शान्त भक्त मुझे प्रिय हैं॥१२.१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१२.१६॥

अन्वय—अनपेक्षः (व्यवहारिक कार्योंमें अपेक्षाशून्य) शुचिः (अन्दर तथा बाहर शुद्ध) दक्षः (निपुण) उदासीनः (व्यवहारिक विषयोंमें अनासक्त) गतव्यथः (अपकृत होकर भी उद्वेगरहित) सर्वारम्भ परित्यागी (भक्तिके प्रतिकूल समस्त उद्यमोंसे रहित) यः मद्भक्तः (मेरे जो भक्त हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)॥१२.१६॥

अनुवाद—व्यवहारिक कार्यापेक्षाशून्य, पवित्र, निपुण, उदासीन, व्यथाशून्य एवं आरब्ध कार्योंमें फलाकांक्षारहित मेरे भक्तगण ही मुझे प्रिय हैं॥१२.१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥१२.१७॥

अन्वय—यः (जो) न हृष्यति (लौकिक प्रिय वस्तुके प्राप्त होनेपर हर्षित नहीं होते) न द्वेष्टि (न अप्रिय वस्तुकी उपस्थितिसे द्वेष करते हैं) न शोचति (लौकिक प्रिय वस्तुके नष्ट होनेपर शोक नहीं करते हैं) न काङ्क्षति (अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करते हैं) शुभाशुभपरित्यागी (पुण्य और पाप कर्मका परित्याग करनेवाले) यः (जो) भक्तिमान् (भक्तिमान् हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)॥१२.१७॥

अनुवाद—जो जड़ीय फल–लाभमें आशायुक्त अथवा हृष्टचित्त नहीं होते हैं, जड़ीय फलके प्राप्त न होनेपर द्वेष अथवा शोक नहीं करते हैं, वे भक्तिमान् व्यक्ति ही मुझे प्रिय हैं॥१२.१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१२.१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥१२.१९॥

अन्वय—शत्रौ च (शत्रुमें) मित्रे च (और मित्रमें) तथा (तथा) मानापमानयोः (मानमें और अपमानमें) समः (समभाववाले) शीतोष्ण–सुख–दुःखेषु (शीत, उष्ण, सुख और दुःखमें) समः (हर्ष–विषादरहित) सङ्गविवर्जितः (आसक्तिरहित) तुल्य निन्दास्तुतिः (निन्दा–स्तुतिमें समज्ञानवाले) मौनी (संयत वाणीवाले अथवा इष्टका

मनन करनेवाले) येन केनचित् सन्तुष्टः (येन–केन–प्रकारेण शरीर निर्वाहकर संतुष्ट रहनेवाले) अनिकेतः घरकी आसक्तिसे रहित) स्थिरमतिः (परमार्थके विषयमें स्थिर चित्तवाले) भक्तिमान् (भक्तिमान्) नरः (मनुष्य) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)॥१२.१८–१९॥

अनुवाद—शत्रु–मित्र, मान–अपमान, शीत–उष्ण और सुख–दुःखके प्रति निःसङ्ग, समता तथा निन्दा–स्तुतिमें समबुद्धि, जो कुछ है उसीमें सन्तोष, मौन धर्म, गृहासक्तिशून्यता और स्थिर बुद्धि प्राप्तकर मेरे भक्त सहज ही मुझे प्रिय होते हैं॥ १२.१८–१९॥

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥१२.२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः॥

अन्वय—ये तु (और जो) यथोक्तम् (उक्त प्रकार) इदम् धर्मामृतम् (इस धर्मरूप अमृतकी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ते (वे सभी) श्रद्दधानाः (श्रद्धावान्) मत्परमाः (मेरे परायण) भक्ताः (भक्तगण) मे (मेरे) अतीव प्रियाः (अत्यन्त प्रिय हैं)॥१२.२०॥

अनुवाद—जो मेरे परायण होकर श्रद्धासहित आनुपूर्विक (क्रमपूर्वक) मेरे द्वारा वर्णित धर्मामृतकी उपासना करते हैं, वे ही मेरे भक्त हैं, अतएव मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरे द्वारा उक्त क्रमोन्नति–पथसे जीवको निरुपाधिक प्रेम प्राप्त होता है॥ १२.२०॥

द्वादश अध्याय समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

त्रयोदश अध्याय (प्रकृति–पुरुष–विभागयोग)

अर्जुन उवाच—
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव॥१३.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) केशव (हे केशव!) प्रकृतिम् पुरुषम् एव च (प्रकृति एवं पुरुष) क्षेत्रम् क्षेत्रज्ञम् एव च (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) ज्ञानम् ज्ञेयम् च (ज्ञान और ज्ञेय) एतद् (ये समस्त) वेदितुम् (जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ)॥१३.१॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे केशव! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान तथा ज्ञेय—इन समस्त तत्वोंको जाननेकी इच्छा करता हूँ॥१३.१॥

श्रीभगवानुवाच—
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१३.२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) इदम् शरीरम् (यह शरीर) क्षेत्रम् इति (क्षेत्र नामसे) अभिधीयते (अभिहित होता है) यः (जो) एतत् (इसको) वेत्ति (जानते हैं) तद्विदः (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्तिगण) तम् (उनको) क्षेत्रज्ञः इति (क्षेत्रज्ञ नामसे) प्राहुः (अभिहित करते हैं)॥ १३.२॥

अनुवाद—भगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैंने परम रहस्यस्वरूप भक्तितत्त्वको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए पहले आत्माके 'स्वरूप' एवं बद्ध जीवोंके कर्मसमूहकी व्याख्या की। निरुपाधिक भक्तिके स्वरूपको भी बताया। उसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्तिरूप त्रिविध अभिधेयका विचार समाप्त हुआ। अब विज्ञान–विचार द्वारा ज्ञान तथा वैराग्यकी विशेष व्याख्या कर रहा हूँ, जिसे श्रवणकर निरुपाधिक भक्तितत्त्वमें तुम्हारी अधिकतर दृढ़ता होगी। जिस समय मैंने ब्रह्माको भागवत–शास्त्रके मूल चतुःश्लोकीका उपदेश दिया था, उस समय भी 'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञान समन्वितम्। सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥'—इस वाक्य द्वारा ज्ञान, विज्ञान,

रहस्य और तदङ्ग—इन चार विषयोंका उपदेश दिया था। इन चारों विषयोंको भलीभाँति न समझनेसे रहस्योदय नहीं होता है। अतएव तुम्हें भी विज्ञान उपदेशपूर्वक रहस्योपयोगिनी बुद्धि अर्पित करता हूँ। विशुद्ध भक्तिके उदित होनेपर अहैतुकी ज्ञान और वैराग्य सहज ही उदित होते हैं। तुम भक्तिका आचरण करते हुये इन दो आनुषङ्गिक फलोंका अनुभव करो। हे कौन्तेय! इस शरीरका ही नाम 'क्षेत्र' है, जो इस क्षेत्रसे अवगत होते हैं, वे ही 'क्षेत्रज्ञ' हैं॥१३.२॥

क्षेत्रज्ञ चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥१३.३॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वक्षेत्रेषु (समस्त क्षेत्रोंमें) माम् च अपि (मुझे ही) क्षेत्रज्ञम् (क्षेत्रज्ञ) विद्धि (जानो) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (देहरूप क्षेत्र तथा जीव और ईश्वररूप क्षेत्रज्ञका) यत् ज्ञानम् (जो तत्त्वज्ञान है) तत् ज्ञानम् (वही ज्ञान) मम मतम् (मेरा अभिमत है)॥१३.३॥

अनुवाद—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विचारसे तीन तत्त्व देखोगे। उन तीनों तत्त्वोंके नाम हैं—ईश्वर, जीव और जड़। जिस प्रकार एक-एक शरीरमें जीवात्मरूप एक-एक क्षेत्रज्ञ है, उसी प्रकार मुझे ही समस्त जड़जगत्में प्रधान क्षेत्रज्ञके रूपमें 'ईश्वर' के नामसे जानो। अपनी ऐशी शक्ति द्वारा मैं परमात्माके रूपमें सर्वक्षेत्रज्ञ हूँ। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचारकर जिन्हें तीन तत्त्वोंका बोध हो गया है, उनका ज्ञान ही विज्ञान है॥१३.३॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥१३.४॥

अन्वय—तत् क्षेत्रम् (वह क्षेत्र) यत् च (जो और) यादृक् (जैसा है) च (और) यद्विकारी (जिन विकारोंवाला है) यतः यत् च (और जिससे जिस कारणसे उत्पन्न हुआ है) सः च (एवं वह क्षेत्रज्ञ) यः (जिस प्रकार स्वरूपवाला) यत् प्रभावः च (और जिस प्रभाववाला है) शृणु (श्रवण करो॥१३.४॥

अनुवाद—वह क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकारका है, उसका विकार क्या है, वह किससे हुआ है एवं उसका प्रभाव क्या है—इस सभीको मैं संक्षेपमें कहता हूँ, श्रवण करो॥१३.४॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥१३.५॥

अन्वय—ऋषिभिः (ऋषियोंके द्वारा) बहुधा (विविध प्रकारसे) गीतम् (वर्णित हुआ है) विविधैः (विभिन्न) छन्दोभिः (वेदवाक्यों द्वारा) पृथक् (पृथक् भावसे) हेतुमद्भिः च (एवं युक्तिपूर्ण) विनिश्चितैः (निश्चित सिद्धान्तयुक्त) ब्रह्मसूत्रपदैः एव (वेदान्त वाक्यसमूह द्वारा भी) [गीतम्—कीर्त्तित हुआ है]॥१३.५॥

अनुवाद—स्मृति शास्त्रमें ऋषियोंके द्वारा वह क्षेत्रतत्त्व बहुत प्रकारसे वर्णित हुआ है, वेदवाक्य द्वारा विविध प्रकारसे पृथक्–पृथक् कथित हुआ है एवं ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्तसूत्र द्वारा हेतुसहित निश्चित सिद्धान्त वाक्य द्वारा परिगीत हुआ है॥ १३.५॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥१३.६॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥१३.७॥

अन्वय—महाभूतानि (आकाश आदि महाभूत) अहङ्कारः (अहङ्कार) बुद्धिः (बुद्धि) अव्यक्तम् एव च (और अव्यक्त प्रकृति) दश इन्द्रियाणि (दश इन्द्रियाँ) एक च (और एक मन) पञ्च च इन्द्रियगोचराः (शब्द–स्पर्शादि पाँच इन्द्रियोंके विषय) इच्छा (इच्छा) द्वेषः (द्वेष) सुखम् (सुख) दुःखम् (दुःख) संघातः (शरीर) चेतना (ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति) धृतिः (धैर्य) सविकारम् (छः विकारसहित) एतत् क्षेत्रम् (यह क्षेत्र) समासेन (संक्षेपमें) उदाहृतम् (कहा गया)॥१३.६–७॥

अनुवाद—उन समस्त ऋषिवाक्यों, वेदवाक्यों और वेदान्तसूत्रके वाक्योंसे यही संगृहीत होता है कि क्षिति, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्च महाभूत, अहङ्कार, महत्–तत्त्व और महत्–तत्त्वका कारण प्रकृति, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा आदि दश बाह्य इन्द्रियाँ, मनरूपी एक अन्तःइन्द्रिय एवं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द—ये पाँच विषय—इस प्रकार चौबीस तत्त्व ही 'क्षेत्र' है। इन चौबीस तत्त्वोंकी आलोचनासे 'क्षेत्र क्या है' एवं 'वह किस प्रकार है'—यह जानो। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात् अर्थात् पञ्च महाभूतके परिणामस्वरूप देहव्यापार, चेतना अर्थात् चिदाभासरूपी मनोवृत्ति, धृति आदिको क्षेत्रका विकार जानो, अतएव ये भी क्षेत्र हैं॥१३.६–७॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥१३. ८॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥१३. ९॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥१३.१०॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१३.११॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥१३.१२॥

अन्वय—अमानित्वम् (मानशून्यता) अदम्भित्वम् (दम्भहीनता) अहिंसा (अहिंसा) क्षान्तिः (क्षमा) आर्जवम् (सरलता) आचार्योपासनम् (सद्‌गुरुकी सेवा) शौचम् (बाह्य और अन्तःकरणकी पवित्रता) स्थैर्यम् (चित्तकी स्थिरता) आत्मविनिग्रहः (देह और इन्द्रियोंका संयम) इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् (शब्द–स्पर्शादि विषयभोगोंसे वैराग्य) अनहङ्कारः एव च (एवं अहङ्कार–शून्यता) जन्म–मृत्यु–जरा–व्याधि–दुःखदोषानुदर्शनम् (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि इत्यादिमें दुःखरूप दोषका पुनः पुनः चिन्तन) पुत्र–दार–गृहादिषु (पुत्र, स्त्री, गृह आदिमें) असक्तिः (प्रीतिका त्याग) अनभिष्वङ्गः (दूसरोंके सुख–दुःखमें आवेशका अभाव) इष्टानिष्टोपपत्तिषु (प्रिय और अप्रिय विषयकी प्राप्तिमें) नित्यम् (सदा) समचित्तत्वम् च (चित्तका सम रहना) मयि च (और मुझमें) अनन्ययोगेन (ऐकान्तिक निष्ठायोगसे) अव्यभिचारिणी (अव्यभिचारिणी) भक्तिः (भक्ति) विविक्तदेशसेवित्वम् (निर्जन स्थानमें वास करनेका स्वभाव) जनसंसदि (विषयासक्त मनुष्योंके संघमें) अरतिः (अरुचि) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् (तत्त्वज्ञानके प्रयोजन मोक्षकी आलोचना) इति एतत् (ये सभी) ज्ञानम् (ज्ञान) प्रोक्तम् (कहे गये) यत् (जो) अतः (इनसे) अन्यथा (विपरीत हैं) [तत्—वे] अज्ञानम् (अज्ञान हैं)॥१३.८–१२॥

अनुवाद—अमानित्व, दम्भहीनत्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी उपासना अर्थात् गुरुसेवा, शौच, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य, अहङ्कारशून्यता, जन्म–मृत्यु–जरा–व्याधि–दुःख इत्यादिका दोष–दर्शन, पुत्र आदिमें आसक्तिशून्यता, पुत्र आदिके सुख–दुःखमें उदासीनता, सर्वदा चित्तकी समभावावस्था, मुझमें अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जन स्थानमें अवस्थिति, जनाकीर्ण स्थानमें अरुचि, अध्यात्म–ज्ञानमें नित्यत्व बुद्धि, तत्त्वज्ञानमें प्रयोजनस्वरूप मोक्षका अनुसन्धान—अनभिज्ञ व्यक्तिगण इन बीस व्यापारकी 'क्षेत्रविकार' के रूपमें आशङ्का करते हैं। वस्तुतः ये प्रत्यक् ज्ञानस्वरूप हैं। इनका आश्रय करनेसे विशुद्ध तत्त्व

लाभ होता है। ये क्षेत्रके विकार नहीं हैं, बल्कि 'क्षेत्रविकार–नाशक' औषधस्वरूप हैं। इन बीस व्यापारोंमें से मुझमें अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति ही अवलम्बनीय है। अन्य उन्नीस व्यापार भक्तिके अवान्तर फलके रूपमें क्षेत्रकी शुद्धता और अन्तमें जीवके अशुद्ध क्षेत्रका नाशकर नित्यसिद्ध क्षेत्रका उदय कराते हैं। भक्तिदेवीके सिंहासनस्वरूप इन उन्नीस व्यापार को 'ज्ञान' अर्थात् 'स–विज्ञान ज्ञान' के रूपमें जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त जो कुछ है, वे अज्ञान है॥ १३.८–१२॥

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥१३.१३॥

अन्वय—यत् (जो) ज्ञेयम् (जानने योग्य है) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अमृतम् (मोक्ष) अश्नुते (प्राप्त होता है) तत् (उसे) प्रवक्ष्यामि (प्रकृष्टरूपेण कहूँगा) तत् (वह) अनादि (नित्य) मत्परम् (मेरा आश्रित) ब्रह्म (ब्रह्म) न सत् (कार्यातीत) न असत् (कारणातीत) उच्यते (कहा जाता है)॥१३.१३॥

अनुवाद—हे अर्जुन! मैंने तुम्हें क्षेत्रज्ञका तत्त्व कहा। क्षेत्र कहनेसे जो शरीरका बोध होता है, उसके स्वरूप, विकार और विकारघ्न प्रक्रियाको बताया। जीवात्मा तथा परमात्मा उस क्षेत्रके ज्ञाता हैं—यह भी बताया। उस विज्ञान द्वारा जो तत्त्व ज्ञेय है, अभी उसे बता रहा हूँ, श्रवण करो। ज्ञेय वस्तु अनादि, 'मत्पर' अर्थात् मुझपर आश्रित तत्त्व एवं सत्–असत् दोनोंसे अतीत ब्रह्म है। उससे अवगत होनेपर ही मेरी भक्तिरूप अमृतका भोग होता है॥१३.१३॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३.१४॥

अन्वय—तत् (वह ब्रह्म) सर्वतः (सर्वत्र) पाणिपादम् (हाथ–पैरवाला) सर्वतः (सर्वत्र) अक्षिशिरोमुखम् (चक्षु, मस्तक और मुखवाला) सर्वतः श्रुतिमत् (सर्वत्र कानवाला) लोके (जगतमें) सर्वम् आवृत्य (सभी वस्तुओंको व्याप्तकर) तिष्ठति (अवस्थित है)॥१३.१४॥

अनुवाद—जिस प्रकार किरणसमूह सूर्यका आश्रयकर प्रकाशित हैं, उसी प्रकार मेरे प्रभावसे ही ब्रह्मतत्त्वने बृहतत्त्वकी सीमाको प्राप्त किया है। ब्रह्मासे चींटी तक अनन्त जीवोंके अवस्थानस्वरूप वह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र अनन्त हाथ–पैर–चक्षु–सिर–मुख–कर्ण इत्यादि सबको संयुक्तरूपमें आवृतकर विराजमान है॥१३.१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१३.१५॥

अन्वय—[वह] सर्वेन्द्रियगुणाभासम् (सभी इन्द्रियों एवं गुणोंका प्रकाशक) सर्वेन्द्रियविवर्जितः (प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित) असक्तम् (अनासक्त) सर्वभृत च (सबका पालक) निर्गुणम् (प्राकृत गुणरहित) गुणभोक्तृ च (और षडैश्वर्यका भोक्ता है)॥ १३.१५॥

अनुवाद—वह बृहत् तत्त्व समस्त इन्द्रियों का प्रकाशक है, स्वयं सभी इन्द्रियोंसे रहित है, अनासक्त है, श्रीविष्णुके रूपमें सर्वभृत (सर्वपालक) है, निर्गुण अर्थात् स्वयं प्राकृत गुणरहित अतः त्रिगुणातीत है 'भग' शब्दवाच्य षडगुणोंका आस्वादक है॥१३.१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१३.१६॥

अन्वय—तत् (वह ज्ञेय वस्तु) भूतानाम् (सभी भूतोंके) अन्तः बहिः च (अन्दर और बाहर स्थित है) अचरम् चरम् एव च (और स्थावर—जङ्गमात्मकरूप जगत् भी है) तत् (वह वस्तु) सूक्ष्मत्वात् (सूक्ष्म होनेके कारण) अविज्ञेयम् (दुर्ज्ञेय) दूरस्थम् च अन्तिके च (दूर तथा निकट है)॥१३.१६॥

अनुवाद—वह तत्त्व सभी भूतोंके अन्दर और बाहर वर्त्तमान है, उनसे ही समस्त चराचर (जगत) है, वे अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय हैं एवं एक साथ निकट और दूर हैं॥१३.१६॥

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्त्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१३.१७॥

अन्वय—तत् (वह वस्तु) अवभिक्तम् (अविभक्त होकर भी) भूतेषु च (भूतोंमें) विभक्तमिव च (विभक्तके समान) स्थितम् (अवस्थित है) [उसे] भूतभर्त्तृ च (एवं सभी भूतोंका पालक) ग्रसिष्णु (संहारक) प्रभविष्णु च (तथा सृष्टिकर्त्ता) ज्ञेयम् (जानो)॥१३.१७॥

अनुवाद—ऐसा बोध होता है कि वे समस्त भूतों में विभक्त हैं, किन्तु वे अविभक्त हैं प्रत्येक जीवात्माके साथ व्यष्टिपुरुषके रूपमें अवस्थित होकर भी वे सभी भूतोंके एक अखण्ड विराट् समष्टि रूप परमेश्वर हैं। वे समस्त भूतों के भर्त्ता, संहारकर्त्ता और प्रभवनशील उत्पत्ति स्थान तत्त्व हैं॥१३.१७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥१३.१८॥

अन्वय—तत् वह ज्योतिषाम् अपि (सूर्य आदिका भी) ज्योतिः (प्रकाशक) तमसः परम (अज्ञानसे अतीत) उच्यते (कहा जाता है) (वह) ज्ञानम् (ज्ञान) ज्ञेयम् (ज्ञेय) ज्ञानगम्यम् (ज्ञान द्वारा प्राप्य) सर्वस्य हृदि (सबके हृदयमें) धिष्ठितम् (अधिष्ठित है)॥१३.१८॥

अनुवाद—वे समस्त ज्योतियोंके परम ज्योति अर्थात् प्रकाशक हैं। वे समस्त अन्धकारसे अतीत अव्यक्तस्वरूप हैं। वे ही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य हैं तथा वे ही सबके हृदयमें अवस्थित हैं॥१३.१८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥१३.१९॥

अन्वय—इति (इस प्रकार) क्षेत्रम् (शरीर) तथा ज्ञानम् (तथा ज्ञान) ज्ञेयम् च (एवं ज्ञेय) समासतः (संक्षेपमें) उक्त्वम् (उक्त हुआ) मद्भक्तः (मेरे भक्त) एतत् (ये समस्त) विज्ञाय (जानकर) मद्भावाय (मेरे प्रेम प्राप्त करनेके) उपपद्यते (योग्य होते हैं)॥१३.१९॥

अनुवाद—हे अर्जुन! मैंने संक्षेप रूपमें तुम्हें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीन तत्त्वोंके विषयमें बतलाया। इसीको विज्ञान सहित ज्ञान कहते हैं। भगवद्भक्तगण इसी ज्ञानको प्राप्तकर मेरी निरुपाधिक–प्रेमभक्तिको प्राप्त करते हैं। जो भक्त नहीं है, वे केवल निरर्थक साम्प्रदायिक अभेदवादका आश्रय ग्रहणकर यथार्थ ज्ञानसे वञ्चित रहे हैं। 'ज्ञान' और कुछ नहीं, केवल भक्तिदेवीका पीठस्वरूप है—भक्तिके आश्रयरूप जीवात्माकी सत्त्वशुद्धि मात्र है। पुरुषोत्तम तत्त्वके विचारमें यह और भी स्पष्ट किया जायेगा॥१३.१९॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥१३.२०॥

अन्वय—प्रकृतिम् (प्रकृति) पुरुषम् च एव (एवं पुरुष) उभौ अपि (दोनोंको ही) अनादि (अनादि) विद्धि (जानो) विकारान् च (एवं विकारसमूहको) गुणान् च (और गुणसमूहको) प्रकृतिसम्भवान् एव (प्रकृतिसे ही उत्पन्न) विद्धि (जानो)॥ १३.२०॥

अनुवाद—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानका क्या फल होगा, वह बतला रहा हूँ। जड़बद्ध जीवसत्तामें तीन तत्त्व लक्षित होंगे—प्रकृति, पुरुष और जीवात्मा। समस्त क्षेत्र ही प्रकृति है, जीव ही पुरुष है और इन दोनोंके बीच जो मेरा आविर्भाव है, वह परमात्मा है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि, जड़ीयकालके पूर्वसे ही

हैं, जड़ीयकालमें उन दोनोंका जन्म नहीं है। मेरी ही शक्तिसे मेरे परम अस्तित्वरूप चिन्मयकालमें उनका उदय हुआ है। जड़–प्रकृति मुझमें लीन थी, कार्यकालमें जड़ीय कालका आश्रयकर प्रकाशित हुई है। जीव मेरा नित्यशक्तिगत तत्त्व है, मेरे प्रति विमुखताके कारण वह जड़–प्रकृतिमें प्रविष्ट हुआ है। वास्तविक जीव शुद्ध चित्–तत्त्व है। मेरी पराशक्ति–क्रमसे उसमें एक तटस्थ–धर्म निहित होनेके कारण उसने जड़–प्रकृतिकी भी उपयोगिता प्राप्त की है। 'चित्' (जीव) किस प्रकार 'जड़' में आबद्ध हुआ है, यह तुम बद्धयुक्ति और बद्धज्ञान द्वारा निर्णय नहीं कर पाओगे, क्योंकि मेरी अचिन्त्य शक्ति तुम्हारे ज्ञानके अधीन नहीं है। तुम्हें इतना जानना ही आवश्यक है कि बद्धजीवके विकारसमूह और गुणसमूह जड़–प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, ये जीवके स्वधर्मगत तत्त्व नहीं हैं॥१३.२०॥

कार्यकारणर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥१३.२१॥

अन्वय—कार्यकारणकर्त्तृत्वे (कार्य–कारणके कर्त्तृत्वके विषयमें) प्रकृतिः (प्रकृति) हेतुः उच्यते (कारण कही जाती है) सुखदुःखानाम् (सुख–दुःखके) भोक्तृत्वे (भोक्तृत्वके विषयमें) पुरुषः (पुरुषको) हेतुः उच्यते (कारण कहा जाता है)॥१३.२१॥

अनुवाद—जड़ीय कार्य, कारण और कर्त्तृत्व—प्रकृतिके धर्म हैं, अतएव प्रकृति ही इनकी हेतु है। तटस्थ स्वभाववशतः पुरुषके जड़ाभिमानसे सुख–दुःखका भोक्तृत्व उदित होता है। शुद्धजीवका भोक्तृत्व नहीं है, किन्तु बद्धावस्थामें जड़–प्रकृतिमें आत्माभिमानवशतः जीवने तटस्थ स्वभावसे उस भोक्तृत्वको स्वीकार किया है॥ १३.२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥१३.२२॥

अन्वय—पुरुषः (जीव) प्रकृतिस्थः हि (प्रकृतिमें अवस्थित होकर ही) प्रकृतिजान् (प्रकृतिसे उत्पन्न) गुणान् (विषयसमूह) भुङ्क्ते (भोग करता है) गुणसङ्गः (प्रकृतिके गुणोंका संग ही) अस्य (इस पुरुषके) सदसद्योनिजन्मषु (सत्–असत् योनियोंमें जन्मका) कारणम् (कारण है)॥१३.२२॥

अनुवाद—जड़ीय कार्य, कारण और कर्त्तृत्व—प्रकृतिके धर्म हैं, अतएव प्रकृति ही इनकी हेतु है। तटस्थ स्वभाववशतः पुरुषके जड़ाभिमानसे सुख–दुःखका भोक्तृत्व उदित होता है। शुद्धजीवका भोक्तृत्व नहीं है, किन्तु बद्धावस्थामें जड़–प्रकृतिमें

आत्माभिमानवशतः जीवने तटस्थ स्वभावसे उस भोक्तृत्वको स्वीकार किया है॥ १३.२२॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥१३.२३॥

अन्वय—अस्मिन देहे (इस देहमें) परः पुरुषः (जीवसे भिन्न पुरुष) उपद्रष्टा (साक्षी) अनुमन्ता च (और अनुमोदनकारी) भर्त्ता (धारक) भोक्ता (पालक) महेश्वरः (महेश्वर) परमात्मा च इति अपि (एवं परमात्मा इत्यादि भी) उक्तः (कहे जाते हैं)॥१३.२३॥

अनुवाद—जीव मेरा सखा है, अपने तटस्थ स्वभावमें विशुद्धरूपसे अवस्थित होने पर वह मेरी सम्मुखता प्राप्त करता है। तटस्थ स्वभाव ही उसकी स्वाधीनता है। इस स्वभाव (स्वतन्त्रता) के द्वारा मेरा विमल प्रेम प्राप्त करनेसे ही जैव–धर्मकी चरितार्थता है। जब जीव उस स्वभाव (स्वतन्त्रता) का अपव्यवहारकर प्राकृत–क्षेत्रमें प्रवेश करता है, तब मैं भी उस समय परमात्माके रूपमें उसका सहचर होता हूँ। अतएव मैं ही उन जीवोंके समस्त कार्योंका उपद्रष्टा (साक्षी), अनुमन्ता (अनुमति प्रदान करनेवाला), भर्त्ता, भोक्ता और महेश्वररूपमें 'परमात्मा' के नामसे परमपुरुषके रूपमें सर्वदा लक्षित होता हूँ। जड़बद्ध होकर जीवके जो समस्त कर्म अनुष्ठित होते हैं, मैं उनका फल प्रदान करता हूँ॥१३.२३॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥१३.२४॥

अन्वय—यः (जो) एवं (इस प्रकार) पुरुषम् (पुरुषको) गुणैः सह (गुण आदिके साथ) प्रकृतिम् (मायाशक्तिको) च (और जीवशक्तिको) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) सर्वथा वर्त्तमानः अपि (जड़जगत्में अवस्थान करते हुये भी) भूयः (पुनः) न अभिजायते (जन्म ग्रहण नहीं करते हैं)॥१३.२४॥

अनुवाद—जो इस प्रणालीसे निर्गुण पुरुषतत्त्व और सगुण प्रकृति तत्त्वसे अवगत होते हैं, वे जड़जगतमें अवस्थित होकर पुनः पुनः जन्म प्राप्त नहीं करते हैं अर्थात् प्रत्येक धर्मका आश्रयकर मेरे कृपासे मेरा परम धामको प्राप्त करते हैं॥ १३.२४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥१३.२५॥

अन्वय—केचित् (भक्तगण) ध्यानेन (भगवत्–चिन्ता द्वारा) आत्मनि (हृदयमें) आत्मानम् (परमात्माको) आत्मना (स्वयं ही) पश्यति (देखते हैं) अन्ये (ज्ञानिगण) सांख्येन (आत्म–अनात्म–विवेक द्वारा) अपरे (योगिगण) योगेन (अष्टाङ्गयोग द्वारा) [अपरे—अन्य कोई कोई] कर्मयोगेन च (निष्काम कर्मयोग द्वारा भी) [पश्यति—दर्शनकी चेष्टा करते हैं]॥१३.२५॥

अनुवाद—हे अर्जुन! परमार्थके सम्बन्धमें बद्धजीव दो भागोंमें विभक्त हैं—बहिर्मुख और अन्तर्मुख। नास्तिक, जड़वादी, सन्देहवादी, केवलनैतिक—इस प्रकारके लोग परमार्थ–बहिर्मुखमें ही परिगणित होते हैं। किन्तु, विश्वासयुक्त जिज्ञासु पुरुष, कर्मयोगी और भक्त—ये अन्तर्मुखी हैं। भक्तगण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे प्रकृतिसे अतिरिक्त (परे) आत्मतत्त्वमें चित्–आश्रय द्वारा परमात्माका ध्यान करते हैं। ईशानुसन्धित्सु (ईशका अनुसन्धान करनेवाले) सांख्ययोगिगण द्वितीय श्रेणीमें स्थित हैं, वे चौबीस तत्त्वमयी प्रकृतिकी आलोचनाकर पच्चीसवें तत्त्व जीवको शुद्ध चित्स्वरूप जानकर, छब्बीसवें तत्त्व जो भगवान् हैं, उनमें क्रमशः भक्तियोगका विधान करते हैं। इनकी अपेक्षा न्यूनश्रेणीमें कर्मयोगिगण अवस्थित हैं, वे निष्काम कर्मयोग द्वारा भगवत्–आलोचनाकी सुविधा प्राप्त करते हैं॥१३.२५॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥१३.२६॥

अन्वय—अन्ये तु (किन्तु, कुछ अन्य लोग) एव अजानतः (तत्त्वको इस प्रकार न जानकर) अन्येभ्यः (अन्य उपदेशकोंके निकट) श्रुत्वा (श्रवणकर) उपासते (उपासना करते हैं) ते अपि (वे भी) श्रुतिपरायणाः (उपदेश श्रवणपरायण होकर) मुत्युम् च (मृत्युरूप संसारका) अतितरन्ति (अतिक्रमण करते हैं)॥१३.२६॥

अनुवाद—उनकी अपेक्षा निम्न श्रेणीवाले विश्वासयुक्त जिज्ञासु पुरुषगण जहाँ–तहाँसे तत्त्व संग्रह करते हैं, ये भी साधुसङ्ग और सत्–आलोचना–क्रमसे बादमें भक्ति प्राप्त करते हैं॥१३.२६॥

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥१३.२७॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ!) यावत् (जो कुछ) स्थावरजङ्गमम् (स्थावर–जङ्गमात्मक) सत्त्वम् (प्राणी) सञ्जायते (उत्पन्न होते हैं) तत् (वे समस्त) क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे) [उत्पन्न होते हैं, ऐसा] विद्धि (जानो)॥१३.२७॥

अनुवाद—स्थावर–जङ्गममें जो कुछ हैं, उन्हें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न समझो॥१३.२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥१३.२८॥

अन्वय—यः (जो) सर्वेषु भूतेषु (सभी भूतोंमें) समम् (समभावसे) तिष्ठन्तम् (अवस्थित) विनश्यत्सु (विनाशशीलोंमें) अविनश्यन्तम् (अविनाशी) परमेश्वरम् (परमेश्वरको) पश्यति (देखते हैं) सः (वे) पश्यति (वास्तवमें देखते हैं)॥१३.२८॥

अनुवाद—परमात्मारूप परमेश्वर सभी भूतोंमें समान (समभावसे) अवस्थित होकर भी विनाशशील वस्तुका जो नश्वरता धर्म है, उसे स्वीकार नहीं करते हैं। जो परमात्माको इस रूपसे जानते हैं, वे उनके तत्त्वको जान सकते हैं॥१३.२८॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥१३.२९॥

अन्वय—हि (क्योंकि) [वे] सर्वत्र (सभी भूतोंमें) समम् (समभावसे) समवस्थितम् (सम्यक्‌रूपेण अवस्थित) ईश्वरम् (ईश्वरको) पश्यन् (देखकर) आत्मना (मनके द्वारा) आत्मानम् (स्वयंको) न हिनस्ति (अधःपतित नहीं करते हैं) ततः (इसीलिए) पराम् गतिम् (परम गति) याति (प्राप्त करते हैं)॥१३.२९॥

अनुवाद—प्रकृतिके धर्मको अङ्गीकारकर बद्धजीवोंका अवस्थान– पार्थक्य घटित हुआ है, इनमें से जो जीव विवेक द्वारा सभी भूतोंमें स्थित मेरे ऐश्वर्य भावको सर्वत्र एक समान जानते हैं, वे कुपथगामी मन द्वारा अपनी जैव सत्ताको अधःपतित नहीं करते हैं॥१३.२९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति॥१३.३०॥

अन्वय—यः (जो) सर्वशः कर्माणि (सभी कर्मोंको) प्रकृत्या एव च (प्रकृतिके द्वारा ही) क्रियमाणानि (सम्पादित) पश्यति (देखते हैं) तथा (तथा) आत्मानम् (आत्माको) अकर्त्तारम् (अकर्त्ता) [पश्यति—देखते हैं] सः (वे) पश्यति (यथार्थमें देखते हैं)॥१३.३०॥

अनुवाद—'देह–इन्द्रिय आदि आकारमें परिणत प्रकृति ही समस्त कर्म करती है, किन्तु शुद्ध आत्मस्वरूप मैं कुछ नहीं करता हूँ'—जो ऐसा देख पाते हैं, वे स्वयंको समस्त कर्मोंमें अकर्त्ता समझकर देखते हैं॥१३.३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥१३.३१॥

अन्वय—यदा (जब) [सः—वे] भूतपृथग्भावम् (भूतोंके पृथक्–पृथक् भावको) एकस्थम् (एक प्रकृतिमें स्थित) ततः एव च (एवं उस प्रकृतिसे ही) विस्तारम् (उत्पन्न) अनुपश्यति (जान पाते हैं) तदा (तब) [सः—वे] ब्रह्म सम्पद्यते (ब्रह्मभावको प्राप्त करते हैं)॥१३.३१॥

अनुवाद—जिस समय विवेकी पुरुष स्थावर–जङ्गमात्मक भूतसमूहके उस–उस आकारागत पार्थक्यको प्रलयकालमें एकमात्र प्रकृतिमें ही अवस्थित देखते हैं एवं सृष्टिके समय उस एक प्रकृतिसे ही भूतोंके विस्तार (उत्पत्ति) को जान पाते हैं, उस समय वे प्रकृतिगत भेदबुद्धिसे रहित होते हैं। उस समय वे शुद्ध चित्–तत्त्वनिष्ठ होकर चिदाकार–सम्बन्धसे ब्रह्मके साथ एकता लाभ करते हैं। इस अभेद बुद्धिको प्राप्तकर जीव द्रष्टृस्वरूप परमात्माका दर्शन किस प्रकार करता है, यह आगे बता रहा हूँ॥१३.३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥१३.३२॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) अनादित्वात् (अनादि होनेसे) अयम् अव्ययः परमात्मा (ये अव्यय परमात्मा) शरीरस्थः अपि (शरीरमें रहकर भी) न करोति (कर्म नहीं करते हैं) न लिप्यते (न कर्मफलसे लिप्त होते हैं)॥१३.३२॥

अनुवाद—ब्रह्मसम्पन्न जीव उस समय यह देख पाते हैं कि परमात्मा अव्यय, अनादि और निर्गुण हैं, वे जीवात्माके साथ इस शरीरमें अवस्थान करते हुये भी क्षेत्रधर्ममें बद्धजीवकी भाँति लिप्त नहीं होते हैं। अतएव ब्रह्मसम्पन्न जीव भी उक्त ज्ञानका आश्रयकर और लिप्त नहीं होते हैं। लिप्त न होकर भी जीव क्षेत्रका व्यवहार किस प्रकार करते हैं, श्रवण करो॥१३.३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥१३.३३॥

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) सर्वगतम् (सर्वत्र अवस्थित) आकाशम् (आकाश) सौक्ष्म्यात् (सूक्ष्म होनेके कारण) न उपलिप्यते (लिप्त नहीं होता है) तथा (उसी प्रकार) सर्वत्र देहे (सर्वत्र देहमें) अवस्थितः (अवस्थित) आत्मा (आत्मा) न उपलिप्यते (दैहिक गुण–दोषादिसे) लिप्त नहीं होता है)॥१३.३३॥

अनुवाद—जिस प्रकार सूक्ष्मत्वप्रयुक्त आकाश सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अन्य वस्तुसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विवेकी ब्रह्मसम्पन्न जीव परमात्माके धर्मके अनुकरणवशतः सर्वदेहमें स्थित होकर भी लिप्त नहीं होते॥१३.३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥१३.३४॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) यथा (जिस प्रकार) एकः रविः (एक सूर्य) इमम् कृत्स्नम् लोकः (इस सम्पूर्ण जगत्को) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है) तथा (उसी प्रकार) क्षेत्री (आत्मा) कृत्स्नम् क्षेत्रम् (समग्र देहको) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है)॥१३.३४॥

अनुवाद—हे भारत! जिस प्रकार एक सूर्य समग्र जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्री आत्मा भी समस्त क्षेत्रको प्रकाशित करती है॥१३.३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥१३.३५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'प्रकृति-पुरुषविवेकयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥१३.

अन्वय—ये (जो) एवं (इस प्रकार) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके) अन्तरम् (भेद) भूतप्रकृतिमोक्षम् च (एवं प्रकृतिसे भूतगणके मोक्षके उपायको) ज्ञानचक्षुषा (ज्ञानके चक्षु द्वारा) विदुः (जानते हैं) ते (वे) परम् (परम पद) यान्ति (प्राप्त करते हैं)॥१३.३५॥

अनुवाद—जड़ा-प्रकृतिके समस्त कार्य ही 'क्षेत्र' हैं। परमात्मा और आत्मरूप द्विविध तत्त्वात्मक आत्मतत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' हैं। जो व्यक्ति इस अध्यायमें वर्णित प्रणालीके अनुसार ज्ञान-चक्षु द्वारा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके भेद एवं समस्त भूतोंके जड़निष्ठ प्रवृत्तिके मोक्षसे अवगत होते हैं, वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञसे परतत्त्व जो भगवान् हैं, उनसे अनायास अवगत होते हैं॥१३.३५॥

त्रयोदश अध्याय समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

चतुर्दश अध्याय (गुणत्रयविभागयोग)

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥१४.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) ज्ञानानाम् (ज्ञान–साधनसमूहमें) उत्तमम् (मुख्य) परम् (श्रेष्ठ) ज्ञानम् (उपदेश) भूयः प्रवक्ष्यामि (पुनः कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) सर्वे मुनयः (समस्त मुनिगण) इतः (इस देहबन्धनसे) पराम् सिद्धिम् (परामुक्ति) गताः (प्राप्त किए हैं)॥१४.१॥

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—सप्तम अध्यायसे आरम्भकर द्वादश अध्याय तक परमतत्त्वके सम्बन्धमें सबकुछ कहा। ज्ञानके द्वारा वह भगवत्तत्त्वरूपी उत्तम ज्ञान जिस प्रकार प्राप्त किया जाता है, वह मैं पुनः कह रहा हूँ, ज्ञाननिष्ठ सनक आदि मुनिगण जिसे अवगत होकर भक्तिरूपी परासिद्धिको प्राप्त किया था॥१४.१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥१४.२॥

अन्वय—इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य (इस ज्ञानका आश्रयकर) मुनयः (मुनिगण) मम् (मेरे) साधर्म्यम् (सारूप्य–धर्मको) आगताः [सन्तः] (प्राप्तकर) सर्गे अपि (सृष्टिकालमें भी) न उपजायन्ते (जन्म–ग्रहण नहीं करते हैं) प्रलये च (और प्रलयकालमें भी) न व्यथन्ति (मृत्यु–यन्त्रणा नहीं प्राप्त करते हैं)॥१४.२॥

अनुवाद—ज्ञान सामान्यतः सगुण होता है। निर्गुण ज्ञानको 'उत्तम ज्ञान' कहा जाता है। उस निर्गुण ज्ञानका आश्रय ग्रहण करनेसे जीव मेरे साधर्म्य अर्थात् सारूप्य–धर्मको प्राप्त करता है। जड़बुद्धि मानव ऐसा सोचते हैं कि प्राकृत धर्म, प्राकृत रूप और प्राकृत अवस्थाका परित्याग करनेसे जीव धर्म, रूप और अवस्थासे रहित हो जाता है। वे यह नहीं जानते हैं कि जिस प्रकार जड़–जगत्‌में 'विशेष' नामक धर्म द्वारा सभी वस्तुओंका आपसमें पार्थक्य है, उसी प्रकार जड़प्रकृतिका अतिक्रमकर मेरा जो 'वैकुण्ठ–धाम' है, वहाँ भी एक विशुद्ध 'विशेष–धर्म' है। उस 'विशेष' द्वारा वहाँ अप्राकृत रूप और अप्राकृत अवस्था नित्य व्यवस्थापित हैं, उसे मेरा 'निर्गुण–साधर्म्य' कहा जाता है। निर्गुण–ज्ञान द्वारा

प्रथमतः सगुण जगत्का अतिक्रमकर निर्गुण–ब्रह्म प्राप्त होता है एवं उसके बाद अप्राकृत गुणसमूह उदित होते हैं। ऐसा होनेपर सृष्टिके समय जीव जड़–जगत्में और जन्म नहीं लेता है तथा प्रलयमें आत्मविनाशरूप व्यथा भी प्राप्त नहीं करता है॥१४.२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥१४.३॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) महत् ब्रह्म (महत् ब्रह्मरूप प्रकृति) मम (मेरी) योनिः (योनि अर्थात् गर्भाधान–स्थान है) तस्मिन् (उसमें) अहम् (मैं) गर्भम् (चेतनपुञ्जरूप बीज) दधामि (अर्पण करता हूँ) ततः (उससे) सर्वभूतानाम् (सभी भूतोंकी) सम्भवः (उत्पत्ति) भवति (होती है)॥१४.३॥

अनुवाद—जड़–प्रकृतिका मूल तत्त्व ही जगत्की मातृयोनि है। मैं उसी जगद्योनि प्रकृति–संज्ञावाले ब्रह्ममें गर्भाधान करता हूँ। उससे ही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। मेरी परा–प्रकृतिका जड़–प्रभाव ही यह ब्रह्म है। उसमें ही इस तटस्थ–प्रभावरूप 'जीव' का आधान (स्थापन) करता हूँ। इससे ही ब्रह्मा आदि सभी जीवोंका जन्म होता है॥१४.३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥१४.४॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन!) सर्वयोनिषु (सभी योनियोंमें) याः मूर्त्तयः (जो समस्त शरीर) सम्भवन्ति (उद्भूत होते हैं) महत् ब्रह्म (प्रकृति) ताषाम् (उन सबकी) योनिः (मातृस्थानीय उत्पत्तिस्थान) [च—और] अहम् (मैं) बीजप्रदः (बीज आधानकारी) पिता (पितास्वरूप हूँ)॥१४.४॥

अनुवाद—देव–पशु इत्यादि समस्त योनियोंमें जितनी मूर्त्तियाँ प्रकाशित होती हैं ब्रह्मरूप योनि ही उन सबकी माता एवं चैतन्यस्वरूप मैं ही उन सबका बीज प्रदानकर्त्ता पिता हूँ॥१४.४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥१४.५॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) प्रकृति सम्भवाः (प्रकृतिसे उत्पन्न) सत्त्वम् रजः तमः इति गुणाः (सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण) देहे (शरीरमें) [अवस्थित] अव्ययम् (निर्विकार) देहिनम् (देही जीवको) निबध्नन्ति (बाँधते हैं)॥ १४.५॥

अनुवाद—उस जड़ोत्पादिनी प्रकृतिसे सत्त्व, रज और तमः—ये तीन गुण निःसृत होते हैं। तटस्था–प्रकृतिसे जो सभी जीव जड़–प्रकृतिके गर्भसे उत्पन्न होते हैं, उन अव्यय चित्स्वरूप जीवोंको देहिरूपमें प्राप्तकर उक्त तीनों गुण बाँधते हैं॥ १४.५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्त्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥१४.६॥

अन्वय—अनघ (हे निष्पाप!) तत्र (उन तीनों गुणोंसे) निर्मलत्वान् (निर्मल होनेके कारण) प्रकाशकम् (प्रकाशक) अनामयम् (आमय अथवा दोषसे रहित शान्त) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) सुखसङ्गेन (सुख–सङ्गके द्वारा) ज्ञानसङ्गेन च (और ज्ञानके सङ्ग द्वारा) [देहिनम्—जीवको] बध्नाति (आबद्ध करता है)॥१४.६॥

अनुवाद—प्रकृतिका सत्त्वगुण अपेक्षाकृत निर्मल, प्रकाशकारी और पापशून्य है। सत्त्वगुण ही चैतन्यस्वरूप जीवको ज्ञान और सुखके सङ्गसे बाँधता है॥१४.६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥१४.७॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र!) रजः (रजोगणुको) रागात्मकम् (अनुरञ्जनरूप) तृष्णासङ्गसमुद्भवम् (विषयोंकी अभिलाषा और आसक्तिसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) तत् (वह रजोगुण) कर्मसङ्गेन (कर्मकी आसक्ति द्वारा) देहिनम् (जीवको) निबध्नाति बाँधता है)॥१४.७॥

अनुवाद—रजोगुणको तृष्णा और सङ्ग (आसक्ति) से उत्पन्न 'अभिलाषात्मक धर्म' समझो। हे कौन्तेय! वह रजोगुण ही देहीको कर्मसङ्ग (कर्मासक्ति) में आबद्ध करता है॥१४.७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥१४.८॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) तमः तु (किन्तु तमोगुणको) अज्ञानजम् (अज्ञानसे उत्पन्न) सर्वदेहिनाम् (सभी जीवोंका) मोहनम् (मोह) विद्धि (जानो) तत् (वह) प्रमादालस्यनिद्राभिः (प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा) [देही—जीवको] निबध्नाति (बाँधता है)॥१४.८॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥१४.९॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) सुखे (सुखमें) सञ्जयति (आसक्त करता है) रजः (रजोगुण) कर्मणि (कर्ममें) [सञ्जयति—आसक्त करता है] तमः तु (किन्तु तमोगुण) ज्ञानम् (ज्ञानको) आवृत्य (आच्छन्नकर) प्रमादे (मनोयोगहीनतामें) सञ्जयति (संयुक्त करता है)॥१४.९॥

अनुवाद—सत्त्वगुण जीवको सुख देकर बद्ध करता है। रजोगुण जीवको कर्ममें आबद्ध करता है और तमोगुण प्रमादमें बाँध देता है॥१४.९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१४.१०॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सत्त्वः (सत्त्वगुण) रजः तमः च (रजः और तमोगुणको) अभिभूय (पराभूतकर) भवति (उद्भूत होता है) रजः (रजोगुण) सत्त्वम् तमः च एव (सत्त्व और तमोगुणको) तथा (उसी प्रकार) तमः (तमोगुण) सत्त्वम् रजः (सत्त्व और रजोगुणको) [अभिभूय भवति—पराभूतकर उद्भूत होता है]॥ १४.१०॥

अनुवाद—जहाँ सत्त्वगुण प्रबल रहता है, वहाँ रज और तमोगुण पराजित रहते हैं। जहाँ रजोगुण प्रबल रहता है, वहाँ सत्त्व और तमोगुण पराजित रहते हैं और जहाँ तमोगुण प्रबल रहता है, वहाँ सत्त्व और रजोगुण पराजित रहते हैं। गुणसमूहकी पृथक् स्थिति और परस्पर सम्बन्धको इसी प्रकार जानना चाहिए॥ १४.१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥१४.११॥

अन्वय—यदा (जिस समय) अस्मिन् देहे (इस देहमें) सर्वद्वारेषु (कर्ण–नासिका आदि इन्द्रियोंमें) प्रकाशः (विषयका यथार्थ प्रकाशरूप) ज्ञानम् (ज्ञान) उपजायते (उत्पन्न होता है) तदा (उस समय) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) विवृद्धम् (वृद्धिको प्राप्त हुआ है) इति विद्यात् (ऐसा जानना चाहिए) उत (आत्मोत्थ सुखात्मक प्रकाश द्वारा भी सत्त्वकी वृद्धिको जानना चाहिए)॥१४.११॥

अनुवाद—सत्त्वगुणकी वृद्धिसे इस जड़ देहके इन्द्रिय रूपी द्वारसमूहमें 'प्रकाश'–गुणकी वृद्धि होती है, वही 'ऐन्द्रिय–ज्ञान' है॥१४.११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१४.१२॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) लोभः (लोभ) प्रवृत्तिः (नाना यत्नपरता) कर्मणाम् आरम्भः (कर्मसमूहका आरम्भ) अशमः (भोगमें अशान्ति) स्पृहा (विषयकी अभिलाषा) एतानि (ये सब) रजसि विवृद्धे (रजोगुणके वर्द्धित होने पर) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)॥१४.१२॥

अनुवाद—जिसमें रजोगुणकी वृद्धि होती है, उसके लोभ, प्रवृत्ति (कर्म), आरम्भ, कर्माग्रहता और स्पृहा बढ़ जाती है॥१४.१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१४.१३॥

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) अप्रकाशः (विवेकका अभाव) अप्रवृत्ति (प्रयत्नहीनता) प्रमादः (अन्यमनस्कता) मोहः एव च (मिथ्या अभिनवेश आदि) एतानि (ये सब) तमसि (तमोगुणकी) विवृद्धि (वृद्धि होनेपर) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)॥१४.१३॥

अनुवाद—हे कुरुनन्दन! तमोगुणकी वृद्धि से अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं॥१४.१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥१४.१४॥

अन्वय—यदा तु (और जब) सत्त्वे प्रवृद्धे (सत्त्वगुणकी वृद्धि होकर) देहभृत् (जीव) प्रलयम् याति (मृत्यु प्राप्त करता है) तदा (तब) उत्तमविदाम् (हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके) अमलान् लोकान् (सुखप्रद, रजः तमः से रहित, लोकोंको) प्रतिपद्यते (प्राप्त करता है)॥१४.१४॥

अनुवाद—सत्त्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति देहत्याग करनेके बाद हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके सुखप्रद लोकोंको प्राप्त करता है॥१४.१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१४.१५॥

अन्वय—रजसि [विवृद्धे सति] (रजोगुणके बढ़नेपर) प्रलयम् गत्वा (मृत्यु होनेपर) कर्मसङ्गिषु (कर्मासक्त मनुष्योंके बीच) जायते (जन्म लेता है) तथा (उसी प्रकार) तमसि [विवृद्धे सति] (तमोगुणके बढ़नेपर) प्रलीनः [सन्] (मरने पर) मूढयोनिषु (पशु आदि मूढ़ योनियोंमें) जायते (जन्म लेता है)॥१४.१५॥

अनुवाद—रजोगुणी व्यक्ति मरनेके बाद कर्ममें आसक्त ब्राह्मणादि कुलोंमें जन्म लेता है। तमोगुणी व्यक्ति मरनेके बाद पशु आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है॥ १४.१५॥

कर्मणः सकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१४.१६॥

अन्वय—सुकृतस्य कर्मणः (सात्त्विक कर्मका) निर्मलम् सात्त्विकम् (निर्मल, सात्त्विक) फलम् (फल) रजसः तु (और राजसिक कर्मका) दुःखम् फलम् (दुःखमय फल) तमसः (तामसिक कर्मका) अज्ञानम् फलम् (अज्ञानमय फल) [होता है] [पण्डितगण] आहुः (कहते हैं)॥१४.१६॥

अनुवाद—सुकृत सात्त्विक कर्मके फलको निर्मल कहा गया है। राजसिक कर्मका फल दुःख तथा तामसिक कर्मका फल अज्ञान अथवा अचेतनत्व कहा गया है॥१४.१६॥

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१४.१७॥

अन्वय—सत्त्वात् (सत्त्वगुणसे) ज्ञानम् (ज्ञान) सञ्जायते (उत्पन्न होता है) रजसः (रजोगुणसे) लोभः एव (लोभ ही) च (एवं) तमसः (तमोगुणसे) प्रमादमोहौ (प्रमाद, मोह) अज्ञानम् च (और अज्ञान) भवतः (होता है)॥१४.१७॥

अनुवाद—सत्त्वगुणासे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ एवं तमोगुणसे अज्ञान, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं॥१४.१७॥

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१४.१८॥

अन्वय—सत्त्वस्थाः (सतोगुणी व्यक्तिगण) उर्द्ध्वम् गच्छन्ति (ऊपरके लोकोंमें जाते हैं) राजसाः (रजोगुणी व्यक्तिगण) मध्ये (मनुष्यलोकमें) तिष्ठन्ति (रहते हैं) जघन्यगुणवृत्तिस्थाः (प्रमाद—आलस्यादि परायण) तामसाः (तमोगुणी व्यक्तिगण) अधोगच्छन्ति (नीचेके लोकोंमें जाते हैं)॥१४.१८॥

अनुवाद—सत्त्वगुणमें स्थित व्यक्ति उर्द्ध्वगतिको प्राप्त करते हैं अर्थात् 'सत्यलोक' तक जाते हैं। रजोगुणमें स्थित व्यक्ति नरलोकमें स्थान प्राप्त करते हैं। तामसी व्यक्ति अधःपतित होकर नरकमें गमन करते हैं॥१४.१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१४.१९॥

अन्वय—यदा (जिस समय) द्रष्टा (जीव) गुणेभ्यः (तीनों गणुोंसे) अन्यम् (पृथक् किसीको) कर्त्तारम् (कर्त्ताके रूपमें) न अनुपश्यति (नहीं देखता है) गुणेभ्यः च (और गुणोंसे) परम् (अतीत आत्माको) वेत्ति (जान पाता है) [तदा—उस समय] सः (वह जीव) मद्भावम् (मेरी भावरूपी शुद्धभक्तिको) अधिगच्छति (प्राप्त करता है)॥१४.१९॥

अनुवाद—'गुणसमूह' ही कर्त्ता हैं, गुणके अतिरिक्त कर्त्ता नहीं है—इस प्रकार सूक्ष्म दर्शन द्वारा अनुभवकर जीव गुणोंसे अतीत भगवद्भावको जानकर मेरी भावरूपी शुद्धभक्तिको प्राप्त करते हैं॥१४.१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥१४.२०॥

अन्वय—देही (जीव) देहसमुद्भवान् (देहको उत्पन्न करनेवाले) एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीनों गुणोंका) अतीत्य (अतिक्रमणकर) जन्ममृत्युजरादुखैः (जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे) विमुक्तः (मुक्त होकर) अमृतम् (मोक्ष) अश्नुते (प्राप्त करता है)॥१४.२०॥

अनुवाद—देहविशिष्ट जीव निर्गुण-निष्ठा द्वारा सत्त्व, रज और तमः—इन तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि देहभूत दुःखोंसे मुक्त होकर निर्गुण-प्रेमरूपी अमृतका भोग करते हैं॥१४.२०॥

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते॥१४.२१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) प्रभो (हे प्रभो!) कैर्लिङ्गैः (किन किन चिह्नों द्वारा) एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (इन तीनों गुणोंसे अतीत व्यक्तिका) [ज्ञेयः] भवति (ज्ञान होता है) किमाचारः (उनके क्या आचार होते हैं) कथम् च (एवं किस उपायसे) एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीनों गुणोंको) अतिवर्त्तते (अतिक्रम करते हैं)॥१४.२१॥

अनुवाद—हे प्रभो! तीनों गुणोंसे अतीत व्यक्तिके क्या लक्षण हैं? उनके क्या आचरण होते हैं? और किस उपायसे वे तीनों गुणोंको पार करते हैं॥१४.२१॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥१४.२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥१४.२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥१४.२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥१४.२५॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) पाण्डव (हे पाण्डव!) [जो] प्रकाशम् च (प्रकाश) प्रवृत्तिञ्च (प्रवृत्ति) मोहम् एव च (एवं मोह) सम्प्रवृत्तानि (स्वतः प्राप्त होनेपर) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते) निवृत्तानि (उनकी निवृत्ति) न काङ्क्षते (नहीं चाहते) यः (जो) उदासीनवत् (उदासीनकी भाँति) आसीनः (अवस्थित) गुणैः (और गुणके कार्य सुख–दुःख आदिसे) न विचाल्यते (विचलित नहीं होते) गुणाः (गुणसमूह) [अपने अपने कार्योंमें] वर्त्तन्ते (प्रवृत्त हैं) इति एवं (ऐसा विचारकर) अवतिष्ठति (स्थिर रहते हैं) न इङ्गते (विचलित नहीं होते हैं) [यः—जो] समदुःखसुखः (सुख और दुःखमें समान रहनेवाले) स्वस्थः (स्वरूपनिष्ठ) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समान बुद्धिसम्पन्न) तुल्यप्रियाप्रियः (प्रिय और अप्रिय वस्तुमें तुल्य ज्ञानवाले) धीरः (बुद्धिमान्) तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः (अपनी निन्दा और स्तुतिमें समान ज्ञानवाले) मानापमानयोः (मान और अपमानमें) तुल्यः (समान) मित्रारिपक्षयोः तुल्यः (मित्र और शत्रुके लिए समान हैं) सर्वारम्भपरित्यागी (देहधारणके कर्मके अतिरिक्त सभी कर्मोंको त्यागनेवाले हैं) सः (वे) गुणातीतः उच्यते (गुणातीत कहलाते हैं)॥१४.२२—२५॥

अनुवाद—अर्जुनके तीन प्रश्नोंको सुनकर श्रीभगवान् कहने लगे—तुम्हारा प्रथम प्रश्न यह है कि गुणातीत व्यक्तिके क्या चिह्न हैं? इसका उत्तर यह है कि द्वेष और आकांक्षासे रहित होना ही उनके चिह्न हैं। बद्धजीव जड़जगत्‌में अवस्थित होकर जड़–प्रकृतिके सत्त्व, रज और तमः गुणोंके अधीन हैं। केवल सम्पूर्ण मुक्तिलाभ होनेपर ही तीनों गुणोंका नाश होता है। किन्तु, जब तक भगवान्‌की इच्छाके अनुसार लिङ्गभङ्गरूपी मुक्ति प्राप्त नहीं होती है, तब तक एकमात्र द्वेष और आकांक्षाका परित्याग करना ही निर्गुणता प्राप्त करनेका उपाय जानना चाहिए। देहके रहते समय 'प्रकाश', 'प्रवृत्ति' और 'मोह' (सत्व, रज, और तमः गुणसे उत्पन्न होनेके कारण) अवश्य ही देहके साथ अनुस्यूत रहेंगे। किन्तु, तुम्हें इन सबके प्रति आकांक्षाके द्वारा प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और द्वेष द्वारा उनकी

निवृत्तिकी भी चेष्टा नहीं करनी चाहिए—ये दोनों चिह्न जिनमें लक्षित होते हैं, वे ही निर्गुण हैं। जो चेष्टा और विशेष स्वार्थपर आग्रह द्वारा संसारमें प्रवृत्त हैं अथवा जो संसारको 'मिथ्या' जानकर चेष्टापूर्वक वैराग्यका अभ्यास करते हैं, वे निर्गुण नहीं हैं।

तुम्हारा द्वितीय प्रश्न यह है कि गुणातीत व्यक्तिके आचार क्या हैं? उनके आचार इस प्रकार होते हैं—'गुणसमूह मेरे शरीरमें अपने–अपने कार्य कर रहे हैं।'—वे ऐसा समझते हैं। वे गुणोंको स्वयं कार्य करने देते हैं और स्वयं उनसे पृथक् रहकर चैतन्यस्वरूप उदासीन व्यक्तिकी भाँति उनमें लिप्त नहीं होते हैं। उनकी देह–चेष्टा द्वारा दुःख, सुख, मिट्टी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय, निन्दा और स्तुति—ये समस्त उपस्थित रहते हैं, किन्तु उनके प्रति समान दृष्टि रखते हैं एवं स्वस्थ अर्थात् चैतन्यस्थ होकर उनको 'तुल्य' ज्ञान करते हैं। उनके सांसारिक व्यवहार द्वारा जो मान, अपमान, शत्रु, मित्र आदिका संघटन होता है, वे उन सबको व्यवहारमें न्यस्तकर ऐसा समझते हैं कि मुझ चैतन्यस्वरूपसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आसक्ति और वैराग्यके जितने प्रकारके आरम्भ हैं, उनका परित्यागकर वे 'गुणातीत' नाम प्राप्त करते हैं॥१४.२२—२५॥

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥१४.२६॥

अन्वय—यः (जो) माम् च (मुझ परमेश्वरकी ही) अव्यभिचारेण (ऐकान्तिक भावसे) भक्तियोगेन (भक्तियोग द्वारा) सेवते (सेवा करते हैं) सः (वे) एतान् गुणान् (इन गुणोंको) समतीत्य (अतिक्रमकर) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्मानुभवके) कल्पते (योग्य होते हैं)॥१४.२६॥

अनुवाद—तुम्हारा तीसरा प्रश्न यह है कि तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर वे किस प्रकार वर्त्तमान रहते हैं? उसका उत्तर यह है कि अव्यभिचारी भक्तियोग अर्थात् शुद्ध भक्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले ज्ञान और कर्मद्वारा मेरी सेवा करते–करते, मेरा जो साधर्म्य–ब्रह्मभाव है, उसे प्राप्त करते हैं॥१४.२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥१४.२७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥१४.

अन्वय—हि (क्योंकि) अहम् (मैं) ब्रह्मणः (ब्रह्मकी) अव्ययस्य (अव्यय) अमृतस्य च (अमृत अर्थात् मोक्षकी) शाश्वतस्य धर्मस्य च (सनातन धर्मकी) ऐकान्तिकस्य सुखस्य च (और ऐकान्तिक भक्तिसम्बन्धी प्रेमरूप सुखकी) प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठा हूँ)॥१४.२७॥

अनुवाद—यदि कहो कि ब्रह्मसम्पत्ति ही सभी साधनोंका फल है, तो ब्रह्मभूत व्यक्ति किस प्रकार आपके निर्गुण प्रेमका सम्भोग करते हैं, तो सुनो—अपनी नित्य निर्गुण अवस्थामें मैं स्वरूपतः भगवान् हूँ। मेरी जड़–शक्तिमें मेरी तटस्था–शक्तिके चैतन्य–बीजके आधानके समय प्रथमोक्त शक्तिका जो आदि प्रकाश है, वही मेरा 'ब्रह्म'–स्वभाव है। जड़बद्ध जीव ज्ञान–आलोचनाक्रमसे जब उच्चोच्च अवस्था प्राप्त करते–करते मेरे ब्रह्मधामको प्राप्त करता है, तब वह निर्गुण अवस्थाकी प्रथम सीमाको प्राप्त होता है। सीमाको प्राप्त करनेके पूर्व जड़विशेष–त्यागरूप एक 'निर्विशेष' भाव उपस्थित होता है, उसमें अवस्थित होकर शुद्धभक्तियोगका आश्रय होनेसे वह निर्विशेषता दूर होकर चिद्विशेष हो जाती है। इस क्रमानुसारसे ज्ञानमार्गमें सनकादि ऋषियों और वामदेव आदि निर्विशेष आलोचकोंने निर्गुण भक्तिरसरूप अमृत प्राप्त किया है। जिनकी मुमुक्षारूप दुर्वासनावश दुर्भाग्यक्रमसे ब्रह्मतत्त्वमें सम्यक् अवस्थिति नहीं होती है, वे ही चरम अवस्थामें निर्गुण भक्ति प्राप्त नहीं कर पाते हैं। वस्तुतः निर्गुण सविशेष तत्त्वस्वरूप मैं ही ज्ञानियोंकी चरमगति ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अथवा आश्रय हूँ। अमृतत्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्यधर्मरूप प्रेम एवं ऐकान्तिक सुखरूप व्रजरस—ये समस्त ही निर्गुण सविशेषतत्त्वरूप कृष्ण–स्वरूपका आश्रयकर वर्त्तमान रहते हैं॥१४.२७॥

चतुर्दश अध्याय समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

पञ्चदश अध्याय (पुरुषोत्तमयोग)

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१५.१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) [यह संसार] ऊर्द्ध्वमूलम् (ऊपरकी ओर जड़वाला) अधःशाखम् (नीचेकी ओर शाखाओंवाला) अव्ययम् (नित्य) अश्वत्थम् (अवश्त्थ वृक्षविशेष है) प्राहुः (शास्त्रमें कहा गया है) छन्दांसि (कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह) यस्य (जिसके) पर्णानि (पत्ते हैं) तम् (उस वृक्षको) यः (जो) वेद (जानते हैं) सः (वे) वेदवित् (वेदज्ञ हैं)॥१५.१॥

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! यदि तुम इस प्रकार सोचते हो कि वेदवाक्योंका अवलम्बनकर संसारका आश्रय लेना ही अच्छा है, तो सुनो—कर्म द्वारा निर्मित यह संसार अश्वत्थ वृक्षविशेष है। कर्माश्रित व्यक्तिके लिए इसका नाश नहीं है। इस वृक्षकी जड़ ऊपर है। कर्म–प्रतिपादक वेदवाक्यसमूह इसके पत्ते हैं, इसकी शाखाएँ नीचेके भागमें फैली हुई हैं अर्थात् यह वृक्ष सर्वोद्धर्व तत्त्वस्वरूप मुझसे जीवके कर्मफल प्राप्त करानेवालेके रूपमें स्थापित है। जो इस वृक्षके नश्वरत्वसे अवगत हैं, वे ही इसके तत्त्वको जाननेवाले हैं॥१५.१॥

अधश्चोर्द्ध्वंप्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥१५.२॥

अन्वय—तस्य (उस संसारवृक्षके) गुणप्रवृद्धाः (तीनों गुणों द्वारा वर्द्धित) विषयप्रवालाः (विषयरूप पल्लवोंसे युक्त) शाखाः (शाखाएँ) अधः (मनुष्य–पशु आदि निम्न योनियोंमें) ऊर्द्ध्वम् च (और देवता आदि ऊर्द्ध्व योनियोमें) प्रसृताः (विस्तृत हुये हैं) मनुष्यलोके (मनुष्य लोकमें) कर्मानुबन्धीनि (कर्मप्रवाहजनक) मूलानि (भोगवासनारूप जटासमूह) अधः च (नीचेकी ओर) अनुसन्ततानि (सर्वदा विकसित हो रहे हैं)॥१५.२॥

अनुवाद—इस वृक्षकी कितनी शाखाएँ तमोगुणका आश्रयकर अधोगामी हुई हैं, कितनी ही शाखाएँ रजोगुणका आश्रयकर समान भावसे हैं और कितनी ही

सत्त्वगुणका अवलम्बनकर ऊपरकी ओर विस्तृत हो रही हैं। जड़ीय विषयसुख ही इन शाखाओंके पल्लव हैं। वटवृक्षकी भाँति इस अश्वत्थवृक्षके जटासमूह अधोभागमें कर्मफल अनुसन्धानपूर्वक विस्तृत हो रहे हैं॥१५.२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥१५.३॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥१५.४॥

अन्वय—इह (इस संसारमें) अस्य (इस वृक्षका) रूपम् (रूप) तथा (पूर्वोक्ति रूपसे) न उपलभ्यते (नहीं उपलब्ध होता है) [अस्य—इसका] अन्तः न (अन्त नहीं जाना जाता है) आदिः च न (आदि भी नहीं जाना जाता है) संप्रतिष्ठा च न (एवं स्थिति भी उपलब्ध नहीं होती है) सुविरूढमूलम् (सुदृढ़ मूलवाले) अश्वत्थम् (अश्वत्थको) तीव्रेण (तीव्र) असङ्गशस्त्रेण (वैराग्यरूप कुठारसे) छित्वा (छेदनकर) ततः (इसके पश्चात्) ये पद गताः (जिस पदको प्राप्तकर) [कोई] भूयः न निवर्त्तन्ति (पुनरागमन नहीं करते हैं) यतः (जिनसे) पुराणी (पुरातन) प्रवृत्ति (संसार–प्रवाह) प्रसृता (विस्तृत हुआ है) तमेव (उस) आद्यम् पुरुषम् च (आदि पुरुषके) प्रपद्ये [शरणागत होता हूँ] तत् पदम् (उस वस्तुका) परिमार्गितव्यम् (अन्वेषण करना कर्त्तव्य है)॥१५.३–४॥

अनुवाद—इस मनुष्यलोकमें उस वृक्षका स्वरूप पूर्ववर्णित प्रकार (रूप) से निश्चय ही जाना नहीं जा सकता है—यह सत्य है, यह मिथ्या है, यह नित्य है—ऐसे भिन्न–भिन्न मत पाये जाते हैं। इसकी सीमा नहीं होनेके कारण यह अन्तहीन तथा आदि नहीं होनेके कारण अनादि है। और इसका आश्रय भी नहीं है। इसका आधार क्या है? यह क्या है? तत्त्वज्ञानके अभावमें यह भी अवगत नहीं होता है। अच्छा, जो कुछ भी हो, असङ्गको जीवमात्रके दुःखका एकमात्र निदान जानकर इस वृक्षका छेदक शस्त्र जानकर, उसके द्वारा ही इसका छेदनकर इसके मूलमें स्थित महानिधिका अनुसन्धान करना होगा। इसीलिए कहते हैं—'अश्वत्थ' इत्यादि। यहाँ 'असङ्ग' शब्दका अर्थ है—सर्वत्र ही वैराग्य। इस वैराग्यरूपी कुठारसे उसे काटकर अलग कर देनेके बाद उसके मूलस्वरूप उस वस्तु अर्थात् महानिधिरूप ब्रह्मका अन्वेषण करना होगा। वह मूल वस्तु कैसी है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—उस पदको प्राप्त करनेसे पुनरावृत्ति नहीं होती है। 'उसका अनुसन्धान किस प्रकार किया जाय'—इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—जिनसे

यह चिरन्तनी संसार–प्रवृत्ति विस्तृत हुई है, उन आदि पुरुषका ही आश्रय करो अर्थात् भजन करो। भक्तिपूर्वक उनका अन्वेषण करना कर्त्तव्य है॥१५.३–४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥१५.५॥

अन्वय—निर्मानमोहाः (गर्व और मिथ्या अभिनिवेशरहित) जितसङ्गदोषाः (आसक्तिरूप दोषसे रहित) अध्यात्मनित्याः (आत्म–अनुशीलनमें तत्पर) विनिवृत्तकामाः (भोगकी अभिलाषासे रहित) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः (सुख–दुःख नामक द्वन्द्वसे) विमुक्तः (मुक्त) अमूढाः (मुक्त पुरुषगण) तत् (उस) अव्ययम् पदम् (अव्यय पदको)) गच्छति (प्राप्त करते हैं)॥१५.५॥

अनुवाद—अभिमान और मोहशून्य, सङ्गदोषसे रहित, नित्य–अनित्य विचारपरायण, कामनारहित, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त पुरुषगण उस अव्यय पदको प्राप्त करते हैं॥१५.५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥१५.६॥

अन्वय—यत् (जिस वस्तुको) गत्वा (प्राप्तकर) [शरणागत व्यक्ति] न निवर्त्तन्ते (पुनरागमन नहीं करते हैं) तत् (वह) मम (मेरा) परमम् (सर्वप्रकाशक) धाम (तेज है) तत् (उसे) सूर्यः (सूर्य) चन्द्रः (चन्द्र) पावकः (और अग्नि) [कोई] न भासयते (प्रकाशित नहीं कर सकता)॥१५.६॥

अनुवाद—सूर्य, चन्द्र और अग्नि मेरे उस अव्यय धामको प्रकाशित नहीं कर सकते। मेरे उस धामको प्राप्तकर जीव आनन्दप्राप्तिसे और वञ्चित नहीं होता है। मूल तत्त्व यह है कि जीवकी दो अवस्थाएँ हैं—संसार और मुक्ति। संसार–दशामें जीव देहात्माभिमानवशतः जड़सङ्गका इच्छुक होता है। मुक्त–दशामें शुद्ध जीव निरन्तर मेरे पवित्र (सेवा) भावके आस्वादक होते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए संसारमें भवस्थित पुरुषका असङ्ग अर्थात् वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा संसाररूप अश्वत्थ वृक्षका छेदन करना कर्त्तव्य है। जड़–सम्बन्धी वस्तुमें आसक्तिको सङ्ग कहा जाता है। जो व्यक्ति जड़में अवस्थित होकर भी जड़–आसक्तिको त्यागनेमें समर्थ हैं, उनका स्वभाव निर्गुण है। वे ही निर्गुण भक्ति प्राप्त करते हैं। सत्सङ्गको भी कहा जाता है। अतएव संसारी जीवको जड़ीय आसक्तिका परित्याग और सत्सङ्ग अर्थात् भक्तसङ्गके आश्रय द्वारा संसारका समूल छेदन करना चाहिए। जो केवल संन्यास–चिह्न धारणकर वैराग्यका आचरण करते हैं, उनका

संसार नष्ट नहीं होता है। अन्याभिलाष त्यागकर परम रसरूप मेरी भक्तिका अवलम्बन करनेसे संसारनाशरूपी मुक्ति ही जीवके अवान्तर फलस्वरूप उपस्थित होती है। अतएव बारहवें अध्यायमें जिस भक्तिका उपदेश है, वही मङ्गलाकांक्षी जीवोंका एकमात्र प्रयोजन है। पिछले अध्यायमें समस्त ज्ञानकी सगुणता और भक्तिके सेवकके रूपमें शुद्ध ज्ञानकी निर्गुणता कही गई है। इस अध्यायमें सभी प्रकारके वैराग्यकी सगुणता एवं भक्तिके आनुषङ्गिक फलस्वरूप इतर वैराग्यकी भी निर्गुणता प्रदर्शित हुई है॥१५.६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥१५.७॥

अन्वय—मम एव (मेरा ही) अंशः (विभिन्नांश) सनातनः (सनातन)) जीवभूतः (जीव) जीवलोके (इस जगत्में) प्रकृतिस्थानि (प्रकृतिमें स्थित होकर) मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि (मन और पाँच इन्द्रियोंको) कर्षति (आकर्षित करता है)॥ १५.७॥

अनुवाद—यदि कहो कि इस प्रकार जीवोंकी दो दशा कैसे हुई, तो सुनो—मैं पूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् हूँ। मेरा दो प्रकारका अंश है—स्वांश और विभिन्नांश। स्वांश रूपमें मैं राम–नृसिंह आदिके रूपमें लीला करता हूँ, विभिन्नांश रूपमें नित्य–दासके रूपमें जीवका प्रकाश हुआ है। स्वांश–प्रकाशमें मेरा अहं–तत्त्व सम्पूर्णरूपसे रहता है। विभिन्नांश प्रकाशमें मेरा परमेश्वरीय 'अहं–तत्त्व' नहीं रहता है। इससे जीवके एक स्वसिद्ध 'अहं–तत्त्व' का उदय होता है। उस विभिन्नांशगत तत्त्वस्वरूप जीवकी दो दशाएँ होती हैं—मुक्त दशा और बद्ध दशा। दोनोंही दशाओंमें जीव सनातन अर्थात् नित्य है। मुक्त दशामें जीव सम्पूर्णरूपसे मेरे आश्रित और प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होता है। बद्ध दशामें जीव अपने उपाधिरूप प्रकृतिमें स्थित मन और पाँच बाह्येन्द्रियाँ—इन छह इन्द्रियोंको अपने तत्त्वबोधसे आकर्षित करता है॥१५.७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥१५.८॥

अन्वय—ईश्वरः (देहकी इन्द्रियोंका स्वामी जीव) यत् (जिस) शरीरम् (शरीरको) अवाप्नोति (प्राप्त होता है) यत् च अपि (और जिस शरीरसे) उत्क्रामति (बहिर्गत होता है) वायुः (वायु) आशयात् (पुष्पादिसे) गन्धान् इव

(गन्धकी भाँति) एतानि (इन छः इन्द्रियोंको) गृहीत्वा (ग्रहणकर) संयाति (गमन करता है)॥१५.८॥

अनुवाद—मरनेके बाद ही बद्ध दशाका अन्त हो जाता है, ऐसा नहीं है। जीव कर्मके अनुसार स्थूल शरीर प्राप्त करता है और समय उपस्थित होनेपर उसका परित्याग करता है। एक शरीरसे अन्य शरीरमें जानेके समय वह शरीर-सम्बन्धिनी कर्मवासनाको अपने साथ ले जाता है। जिस प्रकार वायु गन्धके आधारस्वरूप पुष्प-चन्दन इत्यादिसे गन्ध लेकर अन्यत्र गमन करती है, उसी प्रकार जीव एक स्थूल शरीरसे दूसरे स्थूल शरीरमें सूक्ष्म अवयवके साथ इन्द्रियोंको लेकर प्रयाण करता है॥१५.८॥

श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥१५.९॥

अन्वय—अयम् (यह जीव) श्रोत्रम् (कान) चक्षुः (आँख) स्पर्शनम् (त्वचा) रसनम् (जिह्वा) घ्राणम् (नासिका) मनः च (और मनका) अधिष्ठाय (आश्रयकर) विषयान् (शब्दादि विषयसमूह) उपसेवते (भोग करता है)॥१५.९॥

अनुवाद—अन्य स्थूल शरीर प्राप्तकर उसमें कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका इत्यादि ब्राह्य इन्द्रियोंका आश्रयकर मन ही मन विषय-सेवा करता है॥ १५.९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१५.१०॥

अन्वय—विमूढाः (मूढ़ व्यक्तिगण) उत्क्रामन्तम् (देहसे जानेके समय) स्थितम् वा अपि (अथवा देहमें रहते समय) भुञ्जानम् वा (अथवा विषय-भोगके समय) गुणान्वितम् [जीवम्] (इन्द्रिय आदिसे युक्त जीवको) न अनुपश्यन्ति (नहीं देख पाते हैं) ज्ञानचक्षुषः (विवेकिगण) पश्यन्ति (देख पाते हैं)॥१५.१०॥

अनुवाद—मूढ लोग जीवके इस बहिर्गमन, स्थिति और गुणसम्भोगको विवेकसहित विचारकर नहीं देखते हैं। जो शुद्धज्ञान-निष्ठ हैं, वे इन सबका विचारकर यही स्थिर करते हैं कि जीवकी बद्धदशा जीवके लिए अत्यन्त क्लेशकर है॥१५.१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥१५.११॥

अन्वय—यतन्तः (यत्नशील) योगिनः च (योगयुक्त व्यक्तिगण) आत्मनि (शरीरमें) अवस्थितम् (अवस्थित) एनम् (इस आत्माको) पश्यन्ति (देखते हैं) अकृतात्मनः (अशुद्धचित्त) अचेतसः (अविवेकिगण) यतन्तः अपि (यत्न करनेपर भी) एनम् (इसे) न पश्यन्ति (नहीं देखते हैं)॥१५.११॥

अनुवाद—यत्नवान् योगिगण ही बद्धजीवोंकी ऐसी गतिकी आलोचना करते हैं, क्योंकि वे आत्मतत्त्वमें प्रतिष्ठित हैं। अशुद्धचित्त यतिगण चित्-तत्त्वकी आलोचनाके अभावमें जीवात्माके तत्त्वसे अवगत नहीं होते हैं॥१५.११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१५.१२॥

अन्वय—आदित्यगतम् (सूर्यस्थित) यत् (जो) तेजः (तेज) चन्द्रमसि (चन्द्रमें स्थित) यत् (जो) [तेज] आग्नौ च (और अग्निमें स्थित) यत् (जो) [तेज] अखिलम् जगत् (समस्त जगत्को) भासयते (प्रकाशित करता है) तत् तेजः (उस तेजको) मामकम् (मेरा) विद्धि (जानो)॥१५.१२॥

अनुवाद—यदि कहो, संसारमें स्थित जीव जड़के अतिरिक्त और कुछ भी आलोचना करनेमें समर्थ नहीं है, तो वह किस प्रकार चित्त-आलोचना करेगा, तो सुनो जड़-जगत्में भी मेरी चित्-सत्ता देदीप्यमान है। इसका अवलम्बन करनेसे ही क्रमशः शुद्ध-चित्की प्राप्ति और जड़का नाश सम्भव है। सूर्य, चन्द्र और अग्निमें समस्त जगत्को प्रकाश करनेवाला जो तेज देखते हो, वह मेरा ही है, किसी औरका नहीं॥१५.१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१५.१३॥

अन्वय—च (और) अहम् (मैं) ओजसा (शक्ति द्वारा) गाम् आविश्य (पृथ्वीमें अधिष्ठित होकर) भूतानि (चर-अचर प्राणिमात्रको) धारयामि (धारण करता हूँ) च (और) रसात्मकः (अमृतमय) सोमः भूत्वा (चन्द्र होकर) सर्वाः ओषधीः (समस्त औषधियोंको) पुष्णामि (पुष्ट करता हूँ)॥१५.१३॥

अनुवाद—पृथ्वीमें प्रवेशकर मैं अपनी शक्ति द्वारा समस्त भूतोंको धारण करता हूँ, रसमय चन्द्ररूपसे ब्रीहि आदि औषधिका सम्वर्धन करता हूँ॥१५.१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१५.१४॥

अन्वय—अहम् (मैं) वैश्वानरः भूत्वा (जठराग्नि होकर) प्राणिनाम् देहम् (प्राणियोंके शरीरका) आश्रितः (आश्रयकर) प्राणापानसमायुक्तः (प्राण और अपान वायुके संयोगसे) चतुर्विधम् अन्नम् (चार प्रकारके अन्न) पचामि (पचाता हूँ)॥ १५.१४॥

अनुवाद—मैं प्राणियोंके शरीरमें जठरानलके रूपमें प्रवेशकर प्राण और अपान वायुके संयोगसे 'भक्ष्य' 'भोज्य', 'लेह्य', 'चूष्य'—इन चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ। अतएव मैं ही 'सर्वखल्विदम् ब्रह्म' वाक्यके अनुसार ब्रह्म हूँ॥१५.१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५.१५॥

अन्वय—अहम् (मैं) सर्वस्य (सभी प्राणियोंके) हृदि (हृदयमें) सन्निविष्टः (अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हूँ) मत्तः (मुझसे) स्मृति (स्मृति) ज्ञानम् (ज्ञान) अपोहनम् च (और दोनोंका नाश) [होता है] सर्वैः वेदैः च (सभी वेदों द्वारा) अहम् एव (एकमात्र मैं ही) वेद्यः (ज्ञातव्य, जानने योग्य हूँ) वेदान्तकृत (वेदान्तकर्त्ता) वेदवित् च (और वेदज्ञ हूँ)॥१५.१५॥

अनुवाद—मैं ही सभी जीवोंके हृदयमें ईश्वररूपसे अवस्थित हूँ। मुझसे ही जीवोंके कर्मफलके अनुसार स्मृति, ज्ञान और दोनोंकी अपगति होती है। अतएव मैं केवल जगत्–व्यापी ब्रह्ममात्र नहीं हूँ। अपितु 'जीवके हृदयमें स्थित' कर्मफल देनेवाला परमात्मा भी हूँ। पुनः केवल ब्रह्म या परमात्माके रूपमें ही जीवोंका उपास्य नहीं, अपितु जीवके नित्य–मङ्गलका विधान करनेवाला जीवका उपदेष्टा भी हूँ। मैं ही सभी वेदोंमें जानने योग्य भगवान्, वेदान्तकर्त्ता तथा वेदान्तको जाननेवाला हूँ। अतएव सभी जीवोंके मङ्गलके लिए 'प्रकृतिगत ब्रह्म', 'जीवके हृदयगत ईश्वर या परमात्मा' एवं 'परमार्थदाता भगवान्'—इन तीनों प्रकाश द्वारा बद्धजीवोंका उद्धारकर्त्ता हूँ॥१५.१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१५.१६॥

अन्वय—क्षरः (क्षर) अक्षरः एव च (और अक्षर) इमौ द्वौ (ये दोनों) पुरुषौ (पुरुषतत्त्व) लोके (चौदह लोकोंमें) [प्रसिद्ध हैं] सर्वाणि भूतानि (चराचर भूतसमूहको) क्षरः (क्षर) [और] कूटस्थः (कूटस्थ पुरुषको) अक्षर (अक्षर) उच्यते (कहा जाता है)॥१५.१६॥

अनुवाद—यदि कहो कि प्रकृति एक है—यह तो समझ गया, किन्तु चैतन्यस्वरूप कितने पुरुष हैं, यह नहीं समझ पाया, तो सुनो—वस्तुतः लोकमें दो ही पुरुष हैं; उनके नाम—'क्षर' और 'अक्षर' हैं। विभिन्नांशगत चैतन्यरूप जीव ही 'क्षर' पुरुष है। अपने स्वरूपसे क्षरणशील तटस्थ स्वभाववशतः ही जीवको क्षर पुरुष कहा जाता है। जो कभी भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं, वे स्वांश–तत्त्व ही 'अक्षर' पुरुष हैं। अक्षर पुरुषका दूसरा नाम कूटस्थ पुरुष भी है। उस कूटस्थ अक्षर पुरुषके तीन प्रकाश हैं—जगत्के सृष्ट होनेपर जगत्में सर्वव्यापी सत्तास्वरूपमें एवं उसके (जगत्के) समस्त धर्मोंकी विपरीत अवस्थामें जो अक्षर पुरुष लक्षित होते हैं, वे ही ब्रह्म हैं। अतएव ब्रह्म जगत्–सम्बन्धी तत्त्वविशेष हैं, स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। और, जगत्में चित्स्वरूप जीवोंको आश्रय देकर जो प्रकाश थोड़े परिमाणमें शुद्ध चित्–तत्त्वके प्रकाशक हैं, वे ही परमात्मा हैं। वे भी जगत्–सम्बन्धी तत्त्वविशेष हैं, स्वतन्त्र नहीं॥१५.१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१५.१७॥

अन्वय—तु (किन्तु) अन्यः (पूर्वोक्तसे भिन्न) उत्तमः पुरुषः (एक उत्तम पुरुष) परमात्मा इति (परमात्मा शब्दसे) उदाहृतः (कथित होते हैं) यः (जो) ईश्वरः (ईश्वर) [तथा] अव्ययः (निर्विकार) [हैं, एवं] लोकत्रयम् (त्रिलोकमें) आविश्य (प्रविष्ट होकर) विभर्ति (पालन करते हैं)॥१५.१७॥

अनुवाद—वे परमात्मारूप द्वितीय अक्षर पुरुष सामान्यतः ब्रह्मरूप अक्षर पुरुषसे उत्तम हैं। वे ही ईश्वर हैं एवं तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर पालनकर्त्ताके रूपमें विराजमान हैं॥१५.१७॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१५.१८॥

अन्वय—यस्मात् (क्योंकि) अहम् (मैं) क्षरम् अतीतः (क्षरसे अतीत) अक्षरात् अपि च (और अक्षरसे भी) उत्तमः (श्रेष्ठ हूँ) अतः (अतः) लोके (जगत्में) वेदे च (और वेदमें) पुरुषोत्तमः (पुरुषोत्तमके नामसे) प्रथितः अस्मि (प्रसिद्ध हूँ)॥ १५.१८॥

अनुवाद—तृतीय एवं सर्वोत्कृष्ट अक्षर पुरुषका नाम 'भगवान्' है। मैं वही भगवत्–तत्त्व हूँ। मैं क्षर–पुरुष 'जीव' से अतीत एवं अक्षर–पुरुष 'ब्रह्म' और 'परमात्मा' से उत्तम हूँ। अतएव जगत्में तथा वेदमें मुझे पुरुषोत्तम कहा जाता है।

अतः यही सिद्धान्त जानना चाहिए कि पुरुष दो हैं—क्षर और अक्षर। अक्षर–पुरुषके तीन प्रकाश हैं—सामान्य प्रकाश 'ब्रह्म', उत्तम प्रकाश 'परमात्मा' और सर्वोत्तम प्रकाश 'भगवान्'॥१५.१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१५.१९॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) यः (जो) एवम् (इस प्रकार) असम्मूढ़ (मोहशून्य होकर) माम् (मुझे) पुरुषोत्तमम् (पुरुषोत्तम) जानाति (जानते हैं) सः (वे) सर्ववित् (सर्वज्ञ) सर्वतोभावेन (सब प्रकारसे) माम् (मुझे) भजति (भजते हैं)॥१५.१९॥

अनुवाद—जो नाना मतवादोंके द्वारा मोहको प्राप्त न होकर मेरे इस सच्चिदानन्द स्वरूपको 'पुरुषोत्तम–तत्त्व'के रूपमें जानते हैं, वे ही सर्वज्ञ हैं और वे सभी प्रकारसे मेरा भजन करनेमें समर्थ हैं॥१५.१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥१५.२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

अन्वय—अनघ भारत (हे निष्पाप भारत!) इति (इस प्रकारसे) इदम् गुह्यतमम् (गुह्यतम अर्थात् अतिरहस्यपूर्ण) शास्त्रम् (शास्त्र) मया उक्त्वम् (मेरे द्वारा कहा गया) एतत् (इसको) बुद्ध्वा (जानकर) बुद्धिमान् (बुद्धिमान् लोग) कृतकृत्यः च (और भी कृतार्थ) स्यात् (होते हैं)॥१५.२०॥

अनुवाद—हे अनघ! यह पुरुषोत्तमयोग ही सर्वगुह्यतम शास्त्र है। इससे अवगत होनेपर बुद्धिमान् जीव कृतकृत्य हो जाता है। हे भारत! इस योगसे अवगत होनेपर भक्तिके आश्रयगत और विषयगत समस्त कषाय दूर हो जाते हैं। भक्ति एक वृत्तिविशेष है। भक्तिकी क्रियाका सुन्दरतापूर्वक सम्पादन करनेके लिए इसके आश्रयस्थल जीवकी शुद्धता तथा विषयस्थल भगवान्‌का पूर्ण आविर्भाव—ये दो नितान्त आवश्यक हैं। जब तक भगवत्–तत्त्वमें ब्रह्मबुद्धि या परमात्मबुद्धि रहती है, तब तक जीव विशुद्ध–भक्ति–क्रिया प्राप्त नहीं करता है। पुरुषोत्तम बुद्धि होनेपर ही भक्ति विशुद्धभावसे परिचालित होती है।

भक्तियोगके साधनकालमें साधुसङ्ग और शुद्ध भजनके स्मरणबलसे जिन चार बृहत्–अनर्थोंकी निवृत्तिका होना आवश्यक है, उनमें संसारके प्रति आसक्तिरूप

हृदयकी दुर्बलता तृतीय अनर्थ है। शुद्ध जीवने भगवान्‌के द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताका अपव्यवहारकर मायाको भोगनेकी जो वासना की थी, वही उसका प्रथम हृदयदौर्बल्य है। बादमें संसारमें परिभ्रमण करते–करते विषयमें जो आसक्ति हुई, वही उसका द्वितीय हृदयदौर्बल्य है। इन दोनों हृदयदौर्बल्योंसे ही अन्य समस्त अनर्थोंकी उत्पत्ति हुई है। प्रथम पाँच श्लोकोंमें उक्त दौर्बल्य–नाशके लक्षण शुद्ध वैराग्यके विषयमें बताये गये हैं। षष्ठ श्लोकसे आरम्भकर अध्याय समाप्त होने तक भक्तिसे उत्पन्न युक्त–वैराग्यके साथ पुरुषोत्तम–तत्त्वकी आलोचनाकी व्यवस्था लक्षित होती है॥१५.२०॥

जड़ और चैतन्यका पार्थक्य एवं चैतन्य–तत्त्वका प्रकाश–भेद–विचार इस अध्यायमें लक्षित होता है।

पञ्चदश अध्याय समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

षोड़श अध्याय (दैवासुरसम्पद्‌योग)

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥१६.१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥१६.२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥१६.३॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) भारत (हे भारत!) अभयम् (भयशून्यता) सत्त्वसंशुद्धिः (चित्तकी प्रसन्नता) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (ज्ञानके उपायमें निष्ठा) दानम् (दान) दमः च (बाह्य इन्द्रियोंका संयम) यज्ञः च (यज्ञ) स्वाध्यायः (वेदपाठ) तपः (ब्रह्मचर्य आदि) आर्जवम् (सरलता) अहिंसा (अहिंसा) सत्यम् (सत्यवादिता) अक्रोधः (क्रोधशून्यता) त्यागः (स्त्री–पुत्र आदिमें ममताका त्याग) शान्तिः (शान्ति) अपैशुनम् (दूसरेकी निन्दाका वर्जन) भूतेषु दया (जीवोंके प्रति दया) अलोलुप्तम् (लोभशून्यता) मार्दवम् (मृदुता) ह्रीः (लज्जा) अचापलम् (अचपलता) तेजः (तेज) क्षमा (क्षमा) धृतिः (धैर्य) शौचम् (बाह्य और अन्दरकी शुद्धि) अद्रोह (द्रोहशून्यता) नातिमानिता (अभिमानशून्यता) [एतानि—ये सभी] दैवीम् (सात्त्विकी) सम्पदम् अभिजातस्य (सम्पद्‌के साथ उत्पन्न व्यक्तिमें) भवन्ति (उदित होते हैं)॥१६.१–३॥

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—अभी तुम्हारे मनमें यह संशय हो सकता है कि सभी शास्त्रोंमें सात्त्विक धर्मका आचरण करते हुये ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था है, इसका तत्त्व क्या है? इस संशयको दूर करनेके अभिप्रायसे मैं कहता हूँ कि संसाररूप अश्वत्थ वृक्षके दो फल हैं। एक फल जीवके गाढ़–बन्धनको पूर्ण करनेवाला है और दूसरा फल संसारसे मुक्ति देनेवाला है। सत्त्व–संशुद्धि ही जीवके लिए 'अभय' है। जीव शुद्धसत्त्वमय है। बद्धदशामें उसका शुद्धसत्त्व धर्म गुणीभूत हो गया है। सत्त्व–संशुद्धिके अभिप्रायसे समस्त शास्त्रोंने ज्ञानयोगकी व्यवस्था दी है,

वे सभी 'दैवी सम्पद्' हैं। जिन कार्योंसे जीवके सत्त्व–संशुद्धिका व्याघात होता है, वे सभी 'आसुरी–सम्पद्' हैं। अभय, सत्त्व–शुद्धि, ज्ञानयोग, दान, दम, यज्ञ, तप, सरलता, वेदपाठ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दावर्जन, दया, अलोलुपता, मृदुता, ह्रीं (लज्जा), अचपलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अभिमानशून्यता—इन छब्बीस गुणोंको 'दैवी–सम्पद्' कहा जाता है। शुद्धक्षणमें जन्म होनेपर ये सम्पद् प्राप्त होते हैं॥१६.१–३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥१६.४॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) दम्भः (ख्यातिके लिए धर्मानुष्ठान) दर्पः (धन–विद्या आदिके कारण अहङ्कार) अभिमानः (दूसरेके निकट पूजाकी आकांक्षा) क्रोधः (क्रोध) पारुष्यम् एव च (निष्ठुरता) अज्ञानम् च (एवं अविवेकता) [ये सब] आसुरीम् (आसुरी) सम्पदम् अभिजातस्य (सम्पद्के अभिमुख उत्पन्न व्यक्तिको) [भवन्ति—होते हैं]॥१६.४॥

अनुवाद—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता ओर अविवेक ही असत्–जात व्यक्तियोंके आसुरी सम्पद हैं॥१६.४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥१६.५॥

अन्वय—दैवी सम्पद् (दैवी सम्पद्) मोक्षाय (मोक्षका कारण) आसुरी [सम्पद्] (आसुरी सम्पद्) निबन्धाय (बन्धनका कारण) मता (कहा जाता है) पाण्डव (हे पाण्डव!) मा शुचः (शोक मत करो) [त्वम्—तुम] दैवीम् सम्पदम् (दैवी सम्पद्को) अभि (लक्ष्यकर) जातः असि (उत्पन्न हुये हो)॥१६.५॥

अनुवाद—दैवी सम्पद् द्वारा ही मोक्ष–चेष्टा सम्भव है और आसुरी सम्पद् द्वारा ही बन्धन होता है। हे अर्जुन! वर्णाश्रम धर्मका आचरण करते हुये ज्ञानयोग द्वारा सत्त्व–संशुद्धि होती है। तुम्हें क्षत्रिय वर्णके द्वारा दैवी सम्पद् प्राप्त हुई है। धर्मयुद्धमें स्वजनका नाश और बाणोंका बौछार इत्यादि कार्य शास्त्रानुसार करनेसे वे आसुरी सम्पद्में परिगणित नहीं होते हैं। अतएव इस उपदेशको श्रवणकर तुम अपने शोकका परित्याग करो॥१६.५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥१६.६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अस्मिन् लोके (इस संसारमें) द्वौ भूतसर्गौ (दो प्रकारकी भूतसृष्टि है) दैवः (दैवी प्रकृति) आसुरः एव च (और आसुरी प्रकृति) दैवः (दैवी प्रकृतिके विषयमें) विस्तरशः (विस्तारसे) प्रोक्तः (कहा गया है) मे (मेरे निकट) आसुरः (आसुरी प्रकृतिके बारेमें) शृणु (सुनो)॥१६.६॥

अनुवाद—हे पार्थ! इस जगतमें दो प्रकारकी भूतसृष्टि है—दैवी और आसुरी प्रकृतिवाला। दैवी सम्पत्तिके सम्बन्धमें विशेषरूपसे कह चुका हूँ। अभी आसुरी सम्पत्तिके विषयमें बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥१६.६॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥१६.७॥

अन्वय—आसुराः जनाः (असुर लोग) प्रवृत्तिम् (धर्ममें प्रवृत्ति) निवृत्तिम् च (और अधर्मसे निवृत्ति) न विदुः (नहीं जानते हैं) तेषु (उनमें) शौचम् न (शौच नहीं) आचारः न अपि (आचार भी नहीं) सत्यम् न च (और सत्य भी नहीं) विद्यते (होता है)॥१६.७॥

अनुवाद—आसुरी स्वभाववाले व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्तिरूपी धर्मभेद नहीं जानते हैं। उनके निकट शौच, आचार और सत्यका आदर नहीं है॥१६.७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम्॥१६.८॥

अन्वय—ते (वे लोग) जगत् (जगत्को) असत्यम् (मिथ्या) अप्रतिष्ठम् (निराश्रय) अनीश्वरम् (ईश्वरशून्य) अपरस्पर सम्भूतम् (एक दूसरेके संसर्गसे उत्पन्न अथवा अपने-आप उत्पन्न) अन्यत् किम् (और क्या) कामहेतुकम् (केवल काममूलक) आहुः (कहते हैं)॥१६.८॥

अनुवाद—आसुरी स्वभाववाले लोग ही इस जगत्को 'असत्य', 'आश्रयहीन' और 'अनीश्वर' कहते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि 'कार्य-कारण' का परस्पर सम्बन्ध विश्वकी सृष्टिका कारण नहीं है अर्थात् कारणशून्य कार्य होनेपर ईश्वरकी कोई प्रयोजनीयता नहीं है। कोई कहते हैं कि ईश्वर हैं, किन्तु उन्होंने कामपरवश होकर सृष्टि की है, अतः वे हमारी उपासनाके योग्य नहीं हैं॥१६.८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥१६.९॥

अन्वय—एताम् (इस आसुर) [व्यासदेव रचित श्रीमद्भागवतरूप भाष्य-सहित वेदान्तदर्शनसे भिन्न मायावाद आदि] दृष्टिम् (दर्शन अथवा सिद्धान्तका) अवष्टभ्य

(आश्रयकर) नष्टात्मानः (आत्मतत्त्वहीन) अल्पबुद्धयः (देहात्माभिमानी) उग्रकर्माणः (हिंसा आदि कर्मपरायण) अहिताः (अहितकारी असुरगण) जगतः (जगत्के) क्षयाय (ध्वंसके लिए) प्रभवन्ति (जन्म लेते हैं)॥१६.९॥

अनुवाद—इस प्रकारके सिद्धान्तका अवलम्बनकर आत्मतत्त्वहीन, अल्पबुद्धिवाले, उग्र कर्म करनेवाले और आसुरी स्वभाववाले व्यक्ति जगत्नाशके कार्यमें प्रभाव प्राप्त करते हैं (अर्थात् जन्म लेते हैं)॥१६.९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१६.१०॥

अन्वय—[ते—वे लोग] दुष्पूरम् (कभी पूर्ण न होनेवाली) कामम् (वासनाका) आश्रित्य (आश्रयकर) दम्भमानमदान्विताः (दम्भ, मान और मदयुक्त होकर) मोहात् (मोहवश) असद्ग्राहान् (असत् विषयमें आग्रह) गृहीत्वा (ग्रहणकर) अशुचिव्रताः (भ्रष्ट आचरणोंको लेकर) प्रवर्त्तन्ते (क्षुद्र देवताओंकी आराधनामें प्रवृत्त होते हैं)॥ १६.१०॥

अनुवाद—वे लोग दुष्पूरणीय कामका आश्रयकर दम्भ, मान और मदयुक्त होकर अशुचि-कार्यमें व्रती होकर मोहवश असत्-विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं॥१६.१०॥

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥१६.११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥१६.१२॥

अन्वय—प्रलयान्ताम् (मृत्यु तक) अपरिमेयाम् च (और अपरिमेय) चिन्ताम् (चिन्ताका) उपाश्रिताः (आश्रयकर) कामोपभोगपरमा (कामका उपभोग ही चरम कार्य है) एतावत् इति (इस प्रकार) निश्चिताः (निश्चयकर) आशापाशशतैः (सैकड़ों आशाओंके द्वारा) बद्धः (बद्ध होकर) काम-क्रोधपरायणाः (काम-क्रोध द्वारा आविष्ट वे व्यक्तिगण) कामभोगार्थम् (कामभोगके लिए) अन्यायेन (अन्यायपूर्वक) अर्थसञ्चयान् (अर्थसंग्रहकी) ईहन्ते (चेष्टा करते हैं)॥१६.११-१२॥

अनुवाद—प्रलयपर्यन्त व्याप्त रहनेवाली अपरिमेय चिन्ताका आश्रयकर कामके उपभोगको चरम कार्य जानकर सैकड़ों आसपासमें आबद्ध, काम और क्रोध द्वारा आविष्ट वे व्यक्ति कामभोगके लिए अन्यायपूर्वक अर्थसञ्चय करते हैं॥१६.११-१२॥

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१६.१३॥

अन्वय—अद्य (आज) मया (मेरे द्वारा) इदम् (यह) लब्धम् (प्राप्त हुआ है) इदम् (यह) मनोरथम् (मनोरथ) प्राप्स्ये (पाऊँगा) इदम् (यह) अस्ति (है) पुनः (पुनः) इदमपि धनम् (यह धन भी) मे (मेरा) भविष्यति (होगा)॥१६.१३॥

अनुवाद—वे सोचते हैं कि मैंने आज यह धन प्राप्त किया, मेरा यह मनोरथ सिद्ध हुआ, यह मेरा है, मैं पुनः यह धन प्राप्त करूँगा॥१६.१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥१६.१४॥

अन्वय—मया (मेरे द्वारा) असौ शत्रु (ये शत्रु) हतः (हत हुये हैं) च (और) अपरान् अपि (अन्यान्य शत्रुओंका भी) हनिष्य (विनाश करूँगा) अहम् (मैं) ईश्वरः (ईश्वर) भोगी (भोक्ता) अहम् (मैं) सिद्धः (सिद्ध) बलवान् (बलवान) सुखी (और सुखी हूँ)॥१६.१४॥

अनुवाद—'इस शत्रुका नाश किया, अन्यायका शीघ्र नाश करूँगा। मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगी, मैं ही सिद्ध और मैं ही सुखी हूँ॥१६.१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१६.१५॥

अन्वय—[अहम—मैं] आढ्यः (धनी) अभिजनवान् (कुलीन) अस्मि (हूँ) मया सदृशः (मेरे समान) अन्यः कः अस्ति (और कौन है) [मैं] यक्ष्ये (त्याग करूँगा) दास्यामि (दान करूँगा) मोदिस्य (आनन्द प्राप्त करूँगा) इति (इस प्रकार) अज्ञानविमोहिताः (अज्ञान द्वारा विमूढ़) [होकर कहते हैं]॥१६.१५॥

अनुवाद— "मैं धनी एवं कुलीन हूँ। मेरे समान और कौन है। मैं त्याग करूँगा, दान करूँगा और आनन्द प्राप्त करूँगा।" इस प्रकार वे अज्ञान के द्वारा विमूढ़ होकर होकर कहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६.१६॥

अन्वय—अनेकचित्तविभ्रान्ताः (विभिन्न मनोरथों द्वारा विक्षिप्त) मोहजाल समावृताः (मोहजालसे आवृत होकर) कामभोगेषु (विषय–भोगोंमें) प्रसक्ताः (अत्यन्त आसक्त वे व्यक्तिगण) अशुचौ (अपवित्र) नरके (नरकमें) पतन्ति (पतित होते हैं)॥१६.१६॥

अनुवाद—अनेक विषयोंमें विभ्रान्त चित्त और मोहजाल द्वारा आवृत होकर काम–भोगमें अत्यन्त आसक्तचित्त वे पुरुष वैतरणी आदि अपवित्र नरकमें पतित होते हैं॥१६.१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१६.१७॥

अन्वय—आत्मसम्भाविताः (स्वयं गर्वित) स्तब्धाः (नम्रतारहित) धनमानमदान्विताः (धनके कारण मान और मदयुक्त) ते (वे असुरगण) दम्भेन (दम्भपूर्वक) नामयज्ञैः (नाममात्र यज्ञ द्वारा) अविधिपूर्वकम् (अविधिपूर्वक) यजन्ते (यज्ञ करते हैं)॥१६.१७॥

अनुवाद—वे स्वयं सम्मान–प्राप्त, अनम्र और धन–मान–मदयुक्त पुरुष अविधिपूर्वक दम्भके साथ नाममात्रके यज्ञ द्वारा यजन करते हैं॥१६.१७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१६.१८॥

अन्वय—[ते—वे] अहङ्कारम् (अहङ्कार) बलम् (बल) दर्पम् (दर्प) कामम् (काम) क्रोधम् च (और क्रोधका) संश्रिताः (आश्रय लेकर) आत्मपरदेहेषु (परमात्मपरायण साधुओंके देहमें अवस्थित) माम् (मुझसे) प्रद्विषन्तः (द्वेषकर) अभ्यसूयकाः (साधुओंके गुणोंमें दोषारोपण करते हैं)॥१६.१८॥

अनुवाद—वे अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधके वशीभूत, अपने तथा दूसरेके देहमें स्थित परमेश्वरस्वरूप मुझसे द्वेष करते हैं और साधुओंके गुणमें दोषका आरोप करते हैं॥१६.१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१६.१९॥

अन्वय—अहम् (मैं) द्विषतः (साधुओंसे द्वेष करनेवाले) क्रूरान् अशुभान् (क्रूर और अशुभ कर्म करनेवाले) नराधमान् (नराधम) तान् (उन सबको) संसारेषु (संसारमें) आसुरीषु (आसुरी) योनिषु एव (योनियोंमें ही) अजस्र (अनवरत) क्षिपामि (निक्षेप करता हूँ)॥१६.१९॥

अनुवाद—उन विद्वेषी, क्रूर, नराधमोंको इस संसारमें ही अशुभ आसुरी योनियोंमें सर्वदा निक्षेप करता हूँ अर्थात् उनके स्वभावजनित क्रियाके द्वारा उनका आसुरभाव क्रमशः बढ़ता ही जाता है॥१६.१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥१६.२०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) जन्मनि जन्मनि (जन्म–जन्ममें) आसुरीम् योनिम् (आसुरी योनिको) आपन्नाः (प्राप्तकर) मूढाः (वे मूढ़ लोग) माम् (मुझे) अप्राप्य एव (नहीं प्राप्तकर ही) ततः (उसकी अपेक्षा) अधमाम् (निकृष्टतर) गतिम् यान्ति (गति प्राप्त करते हैं)॥१६.२०॥

अनुवाद—आसुरी योनि प्राप्त कर वे मूढ़लोग जन्म–जन्में मुझे प्राप्त करनेमें अक्षम होकर उससे भी अधम गति प्राप्त करते हैं॥१६.२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥१६.२१॥

अन्वय—कामः (काम) क्रोधः (क्रोध) तथा लोभः (और लोभ) इदम् त्रिविधम् (ये तीन) आत्मनः नाशनम् (आत्मनाशक) नरकस्य द्वारम् (नरकके द्वार हैं) तस्मात् (अतएव) एतत् त्रयं (इन तीनोंका) त्यजेत् (त्याग करना चाहिए)॥ १६.२१॥

अनुवाद—आत्मनाशी नरकके तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। अतएव श्रेष्ठ लोग इन तीनोंका परित्याग करेंगे॥१६.२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥१६.२२॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) एतैः त्रिभिः (इन तीन) तमोद्वारैः (नरकके द्वारोंसे) विमुक्तः (विमुक्त) नरः (लोग) आत्मनः श्रेयः (अपना मङ्गल) आचरति (आचरण करते हैं) ततः (इससे) पराम् गतिम् (श्रेष्ठ गति) याति (प्राप्त करते हैं)॥१६.२२॥

अनुवाद—इन तीन तमोद्वारोंसे मुक्त होकर मनुष्यको आत्माके कल्याणके लिए आचरण करना चाहिए तथा इसीसे परागति प्राप्त करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि सत्त्वसंशुद्धिके उपायस्वरूप वैध जीवनका अवलम्बनकर धर्मका आचरण करते–करते कृष्णभक्ति उपलब्ध होती है, जो कि परागति है। शास्त्रमें कर्म और ज्ञानके जो उपाय और उपेयत्व कहे गये हैं, उनका मूल तत्त्व यह है कि विशुद्ध कर्म और ज्ञानका सम्बन्ध ठीक रहनेसे ही जीवको सत्त्व–संशुद्धिरूप अभय पद प्राप्त होता है। यही भक्तिदेवी दासीस्वरूपा मुक्ति है॥१६.२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥१६.२३॥

अन्वय—यः (जो) शास्त्रविधिम् (शास्त्रकी विधिका) उत्सृज्य (त्यागकर) कामचारतः (स्वेच्छाचारके भावसे) वर्त्तते (कार्यमें प्रवृत्त होता है) सः (वह) सिद्धिम् (सिद्धिको) न अवाप्नोति (नहीं प्राप्त करता है) न सुखम् (और सुख भी नहीं) न पराम् गतिम् (और न परागति)॥१६.२३॥

अनुवाद—शास्त्रीय विधि इस प्रकार है। जो इसका परित्यागकर स्वेच्छाचारितामें वर्त्तमान रहते हैं, वे सिद्धि अथवा सुख अथवा परागति प्राप्त नहीं करते हैं। मूल तत्त्व यह है कि मनुष्य सब प्रकारके इन्द्रिय ज्ञानको प्राप्तकर भी यदि नीतिका आश्रय नहीं लें, तब वे नराधम हैं। और यदि इन्द्रियज्ञान और नीतिसम्पन्न होनेपर भी ईश्वरकी अधीनता स्वीकार नहीं करें तो उनका अमङ्गल है। ईश्वरकी अधीनता स्वीकार करने पर भी जो विशुद्ध ज्ञानके साथ भगवद्भक्तिका अनुशीलन न करें, तो वे भी परागतिके योग्य नहीं हैं। अतएव जो भक्ति सभी शास्त्रोंका तात्पर्य है, वही जीवमात्रके लिए श्रेय है॥१६.२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥१६.२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः॥

अन्वय—तस्मात् (अतएव) कार्याकार्यव्यवस्थितौ (कार्य और अकार्यकी व्यवस्थाके विषयमें) शास्त्रम् (शास्त्र) ते (तुम्हारा) प्रमाण (प्रमाण है) इह (इस कर्मविषयमें) शास्त्रविधानोक्तम् (शास्त्र-विधानमें कथित) कर्म (कर्म) ज्ञात्वा (जानकर) कर्त्तुम् अर्हसि (करनेके निमित्त योग्य होओ)॥१६.२४॥

अनुवाद—अतएव कार्य-अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं। शास्त्रका तात्पर्य 'भक्ति' है—इसे जानकर तुम कर्म करनेके योग्य होओ॥२४॥

आस्तिकताके द्वारा सद्गति होती है और नास्तिकोंको नरकमें जाना पड़ता है —यही इस अध्यायका अर्थ है।

षोडश अध्याय समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

सप्तदश अध्याय (श्रद्धात्रयविभागयोग)

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१७.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) ये (जो) शास्त्रविधिम् (शास्त्रकी विधिको) उत्सृज्य (त्यागकर) श्रद्धयान्विताः (श्रद्धायुक्त होकर) यजन्ते (पूजा आदि करते हैं) तेषाम् तु (उनकी) निष्ठा का (स्थिति क्या है) सत्त्वम् (सात्त्विकी) आहो (अथवा) रजः तमः (राजसी या तामसी)॥१७.१॥

अनुवाद—इतना सुनकर अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! मुझे संशय उपस्थित हुआ है। आपने गीता (४/३९) में कहा कि श्रद्धावान् लोग ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, पुनः गीता (१६/२३) में कहा कि जो शास्त्रविधिको त्यागकर कामनाके साथ (कर्ममें) प्रवृत्त होते हैं, उनको सिद्धि, सुख या परागति प्राप्त नहीं होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि श्रद्धा शास्त्रके विपरीतरूपमें (अनुशीलित) हो, तो क्या होता है? इस प्रकारके श्रद्धावान् लोग ज्ञानयोग आदिका फल जो सत्त्वसंशुद्धि है, क्या उसे प्राप्त नहीं करते हैं? अतएव मुझे स्पष्टरूपसे बतावें कि जो शास्त्रविधिका परित्यागकर श्रद्धापूर्वक भजन करते हैं, उनकी निष्ठाको क्या सात्त्विकी कहा जायेगा अथवा राजसी या तामसी?॥१७.१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥१७.२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) देहिनाम् (मनुष्योंकी) श्रद्धा (श्रद्धा) सात्त्विकी (सात्त्विकी) राजसी च एव (और राजसी) तामसी च (और तामसी) इति (ये) त्रिविधा भवति (तीन प्रकारकी होती है) सा (वह) श्रद्धा (श्रद्धा) स्वभावजा (प्राचीन संस्कारसे उत्पन्न है) ताम् शृणु (उसे श्रवण करो)॥ १७.२॥

अनुवाद—श्रीभगवानने कहा—देहधारियोंकी स्वभावजनित श्रद्धा तीन प्रकार की है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी॥१७.२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥१७.३॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वस्य श्रद्धा (सबकी श्रद्धा) सत्त्वानुरूपा (अन्तःकरणके अनुरूप) भवति (होती है) अयम् पुरुषः (यह पुरुष) श्रद्धामयः (श्रद्धावान् है) यः (जो व्यक्ति) यच्छ्रद्धः (जैसी पूज्य वस्तुमें श्रद्धावान् है) सः (वह व्यक्ति भी) सः एव (वैसा ही है)॥१७.३॥

अनुवाद—हे भारत! सभी लोग श्रद्धामय हैं। जिस पुरुषका जैसा सत्त्व (अन्तःकरण) है, उसकी श्रद्धा भी वैसी ही है। जिसकी जिसमें श्रद्धा है, वह भी वैसा ही है। मूल तत्त्व यह है कि जीव स्वभावतः मेरा अंश है, अतएव वह निर्गुण है। जो जीव मुझसे अपना सम्बन्ध भूल गया है, वह सगुण हो गया है। इस बद्धदशाके प्रवेशकालमें प्राचीन संस्कारवश उसका एक सगुण स्वभाव हुआ है, उस स्वभावसे ही उसका अन्तःकरण गठित हुआ है। उस अन्तःकरणको ही सत्त्व कहते हैं। सत्त्वसंशुद्धि ही अभय पद है। संशुद्ध सत्त्वकी श्रद्धा है—निर्गुण भक्तिबीज एवं अशुद्ध सत्त्वकी श्रद्धा है—सगुण। श्रद्धा जब तक निर्गुण अथवा निर्गुणको उद्देश्य करनेवाली नहीं है, तब तक उसका ही नाम काम है। कामात्मिका सगुणा श्रद्धाकी व्याख्या कर रहा हूँ, श्रवण करो॥१७.३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥१७.४॥

अन्वय—सात्त्विकाः जनाः (सात्त्विक गुणवाले लोग) देवान् यजन्ति (सत्त्व प्रकृतिवाले देवताओंकी पूजा करते हैं) राजसाः (रजोगुणवाले लोग) यक्षरक्षांसि (रजोगुणी यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं) अन्ये तामसः (अन्य तमोगुणवाले लोग) प्रेतान् भूतगणान् च (तमोगुणवाले भूत-प्रेतोंकी) यजन्ते (पूजा करते हैं)॥ १७.४॥

अनुवाद—सात्त्विकी श्रद्धावाले लोग देवताओंको, राजसिक श्रद्धावाले लोग यक्ष-राक्षसोंको तथा तामसिक श्रद्धावाले लोग भूत-प्रेतोंको पूजते हैं॥१७.४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥१७.५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।

माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥१७.६॥

अन्वय—दम्भ, अहङ्कार–संयुक्ताः (दम्भ और अहङ्कारसे युक्त) काम–राग–बलान्विताः (काम, राग और बलयुक्त) ये अचेतसः जनाः (जो अविवेकी लोग) शरीरस्थम् (शरीरमें स्थित) भूतग्रामम् (भूतसमूहको) अन्तःशरीरस्थम् (अन्तःशरीरमें स्थित) माम् च एव (मुझे) कर्शयन्तः (कृश अर्थात् क्षीणकर) अशास्त्रविहितम् (अशास्त्रीय विधिसे) घोरम् तपः (कठिन तपस्या) तप्यन्ते (करते हैं) तान् (उनको) असुरनिश्चयान् (आसुरिक धर्ममें निष्ठित) विद्धि (जानो)॥१७.५–६॥

अनुवाद—जो तपस्यासमूह शास्त्रविहित नहीं हैं, उनका अवलम्बन, काम, राग, बल, दम्भ और अहङ्कारयुक्त लोग करते हैं। जो उपवास आदिरूप कठिन तपस्या द्वारा शरीरमें स्थित भूतसमूहको कर्षण (क्षीण) करते हैं, अतएव अपने अन्तःकरणमें स्थित मेरे अंशभूत जीवको दुःख देते हैं, वे आसुरिक निष्ठामें अवस्थित हैं॥१७.५–६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥१७.७॥

अन्वय—सर्वस्य (सबको) आहारः तु अपि (आहार भी) त्रिविधः (तीन प्रकारका) प्रियः भवति (प्रिय होता है) तथा (वैसे) यज्ञः (यज्ञ) तपः (तपस्या) दानम् (दान) [तीन प्रकारके हैं] तेषाम् (उन सबके) इम्म् भेदम् (इस भेदको) शृणु (सुनो)॥१७.७॥

अनुवाद—मनुष्योंके आहार भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिकके भेदसे तीन प्रकारके हैं, उसी प्रकार यज्ञ, तप और दानके भी तीन–तीन भेद समझो॥ १७.७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥१७.८॥

अन्वय—आयुः–सत्त्व–बलारोग्य–सुखप्रीतिविवर्द्धनाः (आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिवर्द्धक) रस्याः (रसयुक्त) स्निग्धाः (स्निग्ध) स्थिराः (स्थिर गुणवाले) हृद्याः (मनोरम) आहाराः (आहारसमूह) सात्त्विकप्रियाः (सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं)॥१७.८॥

अनुवाद—सात्त्विक आहारसमूह आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिवर्द्धक हैं। ये रसकारी, स्निग्धकारी, स्थैर्यकारी और देहके हितकारी हैं॥१७.८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥१७.९॥

अन्वय—कटु–अम्ल–लवण–अत्युष्ण–तीक्ष्ण–रुक्ष–विदाहिनः (अतिकटु, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक) दुःख–शोक–कामयप्रदाः (दुःख, शोक और रोगजनक) आहाराः (आहारसमूह) राजसस्य (राजस व्यक्तिको) इष्टाः (प्रिय हैं)॥१७.९॥

अनुवाद—नीम आदि अधिक कटु, अधिक अम्ल, लवण और अधिक उष्ण, अधिक तीक्ष्ण मिर्च इत्यादि, अधिक जलन पैदा करनेवाले भुने हुये चने, सरसों आदि एवं दुःख, रोग, शोक देनेवाले आहारसमूह राजस लोगोंको प्रिय हैं॥१७.९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१७.१०॥

अन्वय—यातयामम् (एक प्रहर पहले बना हुआ ठंडा द्रव्य) गतरसम् (नीरस) पूति (दुर्गन्धयुक्त) पूर्यषितम् च (बासी) उच्छिष्टम् (उच्छिष्ट) अपि च अमेध्यम् (एवं अपवित्र) यत् भोजनम् (जो भोजन है) [तत्—वह] तामसप्रियम् (तामस पुरुषको प्रिय होता है)॥१७.१०॥

अनुवाद—एक प्रहरसे पहले तैयार जो खाद्य द्रव्य ठंडा हो जाता है—ऐसा बासी, नीरस, जिसमें दुर्गन्ध हो गई है, जो एक दिन पहले पककर बासी हो गया है—ये सब तथा गुरुजनके अतिरिक्त दूसरेका उच्छिष्ट द्रव्य तथा मद्य–मांस आदि अमेध्य द्रव्यसमूह तामस लोगोंको प्रिय हैं॥१७.१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥१७.११॥

अन्वय—इति (इस प्रकार) यष्टव्यम् एव (यज्ञका अनुष्ठान कर्त्तव्य ही है) अफलाकाङ्क्षिभिः (फलकी कामनासे रहित व्यक्तिगणके द्वारा) मनः समाधाय (मनको एकाग्रकर) विधिदिष्टः (शास्त्रविहित) यः यज्ञः (जो यज्ञ) इत्यते (अनुष्ठित होता है) सः (वह) सात्त्विकः (सात्त्विक है)॥१७.११॥

अनुवाद—यज्ञका भेद यह है कि फलकी आकाङ्क्षासे रहित, विधिसम्मत कर्त्तव्यबोधसे अनुष्ठित यज्ञ ही 'सात्त्विक' यज्ञ है॥१७.११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१७.१२॥

अन्वय—तु (किन्तु) भरतश्रेष्ठ (हे भरतश्रेष्ठ!) फलम् (फलको) अभिसन्धाय (उद्देश्यकर) दम्भार्थम् अपि एव च (एवं दम्भ–प्रकाशके लिए) यत् (जो यज्ञ)

इज्यते (अनुष्ठित होता है) तम् यज्ञम् (उस यज्ञको) राजसम् विद्धि (राजस जानो)॥१७.१२॥

अनुवाद—फलकी कामनाके साथ एवं दम्भके लिए किये गये यज्ञको 'राजस–यज्ञ' जानो॥१७.१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१७.१३॥

अन्वय—विधिहीनम् (शास्त्रविधिसे रहित) असृष्टान्नम् (अन्नदान–रहित) मन्त्रहीनम् (मन्त्ररहित) अदक्षिणम् (दक्षिणारहित) श्रद्धाविरहितम् (श्रद्धाहीन) यज्ञम् (यज्ञको) तामसम् (तामस) परिचक्षते (कहते हैं)॥१७.१३॥

अनुवाद—विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन तथा श्रद्धारहित यज्ञ ही 'तामस–यज्ञ' है। नितान्त स्वरूपभ्रष्ट होनेके कारण तामस–श्रद्धाको श्रद्धाके रूपमें स्वीकार नहीं किया गया है॥१७.१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१७.१४॥

अन्वय—देव–द्विज–गुरु–प्राज्ञ–पूजनम् (देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञगणकी पूजा) शौचम् (शौच) आर्जवः (सरलता) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्य) अहिंसा च (एवं अहिंसा) शारीरम् तपः (शरीर–सम्बन्धी तप कहलाते हैं)॥१७.१४॥

अनुवाद—तपस्याका भेद यह है कि देव, द्विज, गुरु और प्राज्ञगणकी पूजा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये 'शरीर–सम्बन्धी' तप हैं॥१७.१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१७.१५॥

अन्वय—अनुद्वेगकरम् (उद्वेग नहीं देनेवाला) सत्यम् (सत्य) प्रियहितम् च (प्रिय और हितकारी) यत् वाक्यम् (जो वाक्य है) स्वाध्यायाभ्यसनम् च एव (एवं वेदपाठका अभ्यास) वाङ्मयम् (वाचिक) तपः उच्यते (तप कहलाते हैं)॥१७.१५॥

अनुवाद—उद्वेग नहीं देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वाक्य और व्यवहार एवं वेदपाठ तथा अभ्यास 'वाङ्मय–तप' (वाचिक–तप) हैं॥१७.१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१७.१६॥

अन्वय—मनःप्रसादः (चित्तकी प्रसन्नता) सौम्यत्वम् (सरलता) मौनम् (मौन) आत्मविनिग्रहः (चित्त–संयम) भावसंशुद्धिः (व्यवहारमें निष्कपटता) इति एतत् (ये सब) मानसम् (मानसिक) तपः (तपस्या) उच्यते (कहलाते हैं)॥१७.१६॥

अनुवाद—चित्तकी प्रसन्नता, सरलता, मौन, आत्मनिग्रह और भाव संस्कार ही 'मानस–तप' हैं॥१७.१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७.१७॥

अन्वय—अफलाकाङ्क्षिभिः (फलकामनासे रहित) युक्तैः नरैः (एकाग्रचित्त मनुष्य द्वारा) परया श्रद्धया (परम श्रद्धाके साथ) तप्तम् (कृत होनेसे) तत् (वह) त्रिविधम् (तीनों—शारीरिक, वाचिक, मानसिक) तपः (तपको) [धीराः—पण्डितगण] सात्त्विकम् परिचक्षते (सात्त्विक कहते हैं)॥१७.१७॥

अनुवाद—निष्काम व्यक्तिके द्वारा परा श्रद्धा अर्थात् भगवद्भक्तिके उद्देश्यवाली श्रद्धासे ये तीनों तप किये जानेपर सात्त्विक तपस्या अनुष्ठित होती है॥१७.१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१७.१८॥

अन्वय—सत्कारमानपूजार्थं (सत्कार–मान और पूजाके लिए) दम्भेन च एव (और दम्भके साथ) यत् तपः क्रियते (जो तपस्या की जाती है) तत् (वह) इत् (इस लोकमें) चलम् (अनित्य) अध्रुवम् (अनिश्चित) राजसम् (राजसी) प्रोक्तम् (कही जाती है)॥१७.१८॥

अनुवाद—लोग मुझे साधु कहेंगे—इस आकाङ्क्षासे मान और पूजा प्राप्त करनेके लिए दम्भके साथ जो तप किया जाता है, वही अनित्य और अनिश्चित 'राजस–तप' है॥१७.१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१७.१९॥

अन्वय—मूढग्राहेण (मूढ़ोचित हठ द्वारा) आत्मनः पीडया (स्वयंको पीड़ितकर) वा परस्य (या दूसरेके) उत्सादनार्थम् (विनाशके लिए) यत् तपः (जो तप) क्रियते (किया जाता है) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामस कहलाता है)॥१७.१९॥

अनुवाद—मूढ़बुद्धिके साथ आत्मपीड़ा द्वारा एवं दूसरेके विनाशके लिए जो तप अनुष्ठित होता है, वही 'तामस–तप' है॥१७.१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥१७.२०॥

अन्वय—अनुपकारिणे (प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको) देशे (तीर्थ आदि स्थानोंमें) काले च (पुण्यकालमें) पात्रे च (एवं योग्य पात्रको) दातव्यम् (दान देना चाहिए) इति (इस प्रकार निश्चयकर) तत् दानम् (वह दान) सात्त्विकम् स्मृतम् (सात्त्विक कहलाता है)॥१७.२०॥

अनुवाद—वर्त्तमान श्लोकमें तीन प्रकारके दानके सम्बन्धमें श्रीभगवान् कह रहे हैं कि जिसने कभी भी अपना उपकार न किया हो अथवा जिसमें उपकार करनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे पात्रको किसी प्रकारके बदलेकी आशा नहीं रखकर, केवल कर्त्तव्यके लिए जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक होता है। उसमें देश, काल और पात्रका विचार करना आवश्यक है॥१७.२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥१७.२१॥

अन्वय—यत् तु (किन्तु जो) प्रत्युपकारार्थम् (प्रत्युपकारकी आशासे) वा (अथवा) फलम् उद्देश्य (फलके उद्देश्यसे) पुनः च परिक्लिष्टम् (बादमें पछतावेके साथ) दीयते (प्रदत्त होता है) तद्दानम् (वह दान) राजसम् स्मृतम् (राजस कहलाता है)॥१७.२१॥

अनुवाद—प्रत्युपकारकी आशाकर या स्वर्ग आदि प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पश्चातापके साथ जो दान दिया जाता है, वही तामस है॥१७.२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥१७.२२॥

अन्वय—अदेशकाले (अयोग्य स्थान और अयोग्य समयमें) अपात्रेभ्यः च (एवं अयोग्य पात्रींको) असत्कृतम् (तिरस्कारपूर्वक) अवज्ञातम् (अवज्ञापूर्वक) यत् दानम् (जो दान) [दिया जाता है] तत् (वह) तामसम् उदाहृतम (तामस कहलाता है)॥१७.२२॥

अनुवाद—जिस स्थानमें दानका प्रयोजन नहीं है, उस स्थानमें, जिस कालमें दान करनेसे किसीका उपकार नहीं होता है, उस कालमें एवं नर्त्तक, वेश्या और अभावरहित व्यक्ति जैसे अपात्रको जो दान दिया जाता है, वह 'तामस' है। सत्पात्रको असत्कार और अवज्ञापूर्वक दान देनेसे वह भी 'तामस' दान होता है॥ १७.२२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥१७.२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥१७.२४॥

अन्वय—ॐ तत् सत् (ॐ, तत्, सत्) इति (ये) त्रिविधः (तीन प्रकारके) ब्रह्मणः निर्देशः (ब्रह्मके निर्देशक नाम) स्मृतः (कहे गये हैं) तेन (इनके द्वारा) पुरा (प्राचीनकालमें) ब्राह्मणाः (ब्राह्मणगण) वेदाः च (और वेदसमूह) यज्ञाः च (और यज्ञसमूह) विहिताः (निर्मित हुये हैं) तस्मात् (अतएव) ॐ इति ('ॐ' शब्द) उदाहृत्य (उच्चारणकर) ब्रह्मवादिनाम् (वेदवादियोंके) विधानोक्ताः (शास्त्रोक्त) यज्ञ–दान–तप–क्रियाः (यज्ञ, दान, तपस्या, कर्म आदि) सततम् (सर्वदा) प्रवर्त्तन्ते (अनुष्ठित होते हैं)॥१७.२३–२४॥

अनुवाद—अब तात्पर्य कहता हूँ, सुनो। तपस्या, यज्ञ, दान और आहार—ये सभी सात्त्विक, राजसिक और तामसिकके भेदसे तीन प्रकारके हैं। सगुण–अवस्थामें इन अनुष्ठानोंमें जो श्रद्धा रहती है, वह उत्तम, मध्यम और अधम होनेपर भी सगुण और निरर्थक हैं। जब निर्गुण श्रद्धा अर्थात् भक्तिको उदित करानेवाली श्रद्धाके साथ ये सभी कर्म किये जायँ, तभी ये सत्त्व–संशुद्धिरूप अभय प्राप्त करनेके उपयोगी होते हैं। शास्त्रमें सर्वत्र ही उसी पराश्रद्धाके साथ कर्मानुष्ठान करनेका आदेश है। शास्त्रमें 'ॐ, तत्, सत्'—ये तीन ब्रह्म–निर्देशक व्यवस्थाएँ परिलक्षित होती हैं। उस ब्रह्मनिर्देशकके साथ ब्राह्मण, वेद और यज्ञसमूह भी निर्मित हुये हैं। शास्त्र–विधिका परित्यागकर जिस श्रद्धाका अवलम्बन करोगे, वह सगुण, अब्रह्मनिर्देशक एवं कामफलदायक होगी। अतएव शास्त्र–विधानमें ही 'पराश्रद्धा' की व्यवस्था है। शास्त्र और श्रद्धाके विषयमें तुम्हारी जो शङ्का है, वह केवल अविवेकजनित है। अतएव वेदवादिगण ब्रह्मको उद्देश्य करनेवाले ॐ–शब्द व्यवहारपूर्वक समस्त शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप और क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं॥ १७.२३–२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥१७.२५॥

अन्वय—तत् इति (तत्—इस शब्दका) [उदाहृत्य— उच्चारणकर] फलम् (कर्मफलकी) अनभिसन्धाय (कामना नहीं कर) मोक्षकाङ्क्षिभिः (मुमुक्षुगण द्वारा) विविधाः (अनेक प्रकारके) यज्ञतपःक्रियाः (यज्ञ, तप कार्य) दान क्रियाः च (और दान कार्य) क्रियन्ते (अनुष्ठित होते हैं)॥१७.२५॥

अनुवाद—इस जड़–बन्धनसे मुक्ति पानेके लिए 'अतत्'–वस्तुसे अतीत जो 'तत्' वस्तु है, उसके प्रति लक्ष्यकर जड़ीय साक्षात् फलका त्यागकर यज्ञ, तप, दान आदि विविध क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिए॥१७.२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥१७.२६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) सद्भावे (ब्रह्मत्वमें) साधुभावे च (और ब्रह्मवादित्वमें) सत् इति (यह 'सत्' शब्द) प्रयुज्यते (प्रयुक्त होता है) तथा (उसी प्रकार) प्रशस्ते (माङ्गलिक) कर्मणि (कर्ममें) सत् शब्दः ('सत्' शब्द) युज्यते (युक्त होता है)॥ १७.२६॥

अनुवाद—'सत्' शब्दसे ब्रह्म और ब्रह्मवादीमें ही अर्थकी सङ्गति होती है। उसी प्रकार उसके उद्देश्यसे किये जानेवाले प्रशस्त (मङ्गल) कर्मोंको भी 'सत्' शब्द निर्देशित करता है॥१७.२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥१७.२७॥

अन्वय—यज्ञे (यज्ञमें) तपसि (तपस्यामें) दाने च (और दानमें) स्थितिः च (और यज्ञ आदिमें जो एकान्त भावसे अवस्थिति है, उसमें भी) सत् इति (यह 'सत्' शब्द) उच्यते (कहा जाता है) तदर्थीयम् (ब्रह्मकी परिचर्याके उपयोगी) कर्म च एव (भगवान्के मन्दिर–मार्जन इत्यादि कर्म) सत् इति एव (इस 'सत्' शब्दसे) अभिधीयते (अभिहित होते हैं)॥१७.२७॥

अनुवाद—यज्ञ, तपस्या और दानमें भी सत्–शब्दका तात्पर्य है, क्योंकि ये सभी क्रियाएँ ब्रह्मके उद्देश्यसे होनेपर 'सत्' शब्दसे अभिहित होती हैं। ब्रह्म उद्देश्य नहीं होनेसे यज्ञ, तपस्या, दान आदि समस्त क्रियाएँ 'असत्' हैं। समस्त जड़ीय कर्म ही जीवके स्वरूपके विरोधी हैं, किन्तु जिस समय ये सभी कर्म ब्रह्मनिष्ठ होकर पराभक्तिको उदित करानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, उस समय ये सभी क्रियाएँ जीवकी सत्त्व–संशुद्धि अर्थात् स्वरूपसिद्धिरूप कृष्णदास्यके उपयोगी होती हैं॥ १७.२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥१७.२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अश्रद्धया (अश्रद्धाके साथ) हुतम् (होम) दत्तम् (दान) तप्तम् तपः (अनुष्ठित तप) यत् च [अन्यत्] (एवं जो अन्य) कृतम् (किए जाते हैं) तत् (वे) असत् (असत्) इति उच्यते (कहे जाते हैं) [तत्—वे] न इह (न इस संसारमें) नो च प्रेत्य (और न परकालमें) [फलति—फल प्रदान करते हैं]॥१७.२८॥

अनुवाद—हे अर्जुन! निर्गुण श्रद्धाके अतिरिक्त जो यज्ञ, दान और तपस्या अनुष्ठित होते हैं, वे सभी असत् हैं। ये सभी क्रियाएँ अभी या बादमें कभी भी उपकार नहीं करतीं। अतएव शास्त्रसमूह निर्गुणा श्रद्धाका ही उपदेश देते हैं। शास्त्रका परित्याग करनेसे निर्गुणा श्रद्धाका परित्याग करना पड़ता है। निर्गुणा श्रद्धा ही भक्ति-लताका एकमात्र बीज है॥१७.२८॥

सप्तदश अध्याय समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

अष्टादश अध्याय (मोक्षयोग)

अर्जुन उवाच—
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१८.१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो!) हृषीकेश (हे हृषीकेश!) केशिनिषूदन (हे केशिनिषूदन!) संन्यासस्य (संन्यासके) च त्यागस्य (और त्यागके) तत्त्वम् (तत्त्वको) पृथक् (पृथक्‌रूपसे) वेदितुम (जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ)॥१८.१॥

अनुवाद—समस्त कर्मोंका मङ्गलमय चरम फल भक्ति है, यह प्रथम छह अध्यायोंमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है। द्वितीय छह अध्यायोंमें निर्गुण भक्तिका स्वरूप बताया गया। तृतीय छह अध्यायोंमें ज्ञान, वैराग्य, कार्य-अकार्यका विवेक तथा सगुण-निर्गुणके विचारसे भक्तिका चरम फलत्व निर्दिष्ट हुआ। पूर्व महाजनोंके द्वारा गीता शास्त्रका इस प्रकार गूढ़ तात्पर्य प्रदर्शित हुआ है। उपरोक्त सभी बातें सतरहवें अध्याय तकमें समाप्त हुईं। इन्हें श्रवण करनेके बाद अर्जुन उपसंहारके रूपमें संक्षेपमें इन सभी तत्त्वोंको सुननेकी इच्छाकर यह जिज्ञासा कर रहे हैं—हे हृषीकेश! हे केशिनिसूदन! संन्यास और त्याग—इन दो शब्दोंका तात्पर्य पृथक्‌रूपसे सुनना चाहता हूँ॥१८.१॥

श्रीभगवानुवाच—
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥१८.२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) विचक्षणाः कवयः (निपुण पण्डितगण) काम्यानाम् कर्मणाम् (काम्य कर्मोंके) न्यासम् (स्वरूपतः त्यागको) संन्यासम् (संन्यास) विदुः (जानते हैं) [और] सर्वकर्मफलत्यागम् (सभी कर्मोंके फलके त्यागको) त्यागम् (त्याग) प्राहुः (कहते हैं)॥१८.२॥

अनुवाद—श्रीकृष्णने कहा—काम्य कर्मोंका स्वरूपतः परित्यागकर नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके निष्कामरूपसे अनुष्ठान करनेका नाम ही 'संन्यास' है। नित्य,

नैमित्तिक और काम्य—सभी प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुये भी सभी कर्मोंके फलको त्याग करनेका नाम ही 'त्याग' है। विचक्षण कविगण संन्यास और त्यागका यही पार्थक्य बताते हैं॥१८.२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥१८.३॥

अन्वय—एके मनीषिनः (सांख्यवादी कोई कोई पण्डित) प्राहुः (कहते हैं) कर्म (कर्ममात्र) दोषवत् (दोषयुक्त हैं) इति (अतः) त्याज्यम् (त्याज्य हैं) अपरे च (और दूसरे मीमांसकगण) इति [प्राहुः] (यह कहते हैं) यज्ञ-दान-तपः-कर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म) न त्याज्यम् (त्यागने योग्य नहीं हैं)॥१८.३॥

अनुवाद—त्यागके सम्बन्धमें कुछ पण्डितोंने ऐसा स्थिर किया है कि कर्म मात्र दोषयुक्त है, अतः त्याज्य हैं। किन्तु कुछ अन्य पण्डित यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको अत्याज्य कहते हैं॥१८.३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः॥१८.४॥

अन्वय—भरतसत्तम! (हे भरतश्रेष्ठ!) तत्र त्यागे (उनमें से त्यागके सम्बन्धमें) मे (मेरा) निश्चयम् (निश्चय सिद्धान्त) श्रृणु (श्रवण करो) पुरुषव्याघ्र (हे पुरुषवर) त्यागः त्रिविधः (त्याग तीन प्रकारका) संप्रकीर्त्तितः (कहा गया है)॥१८.४॥

अनुवाद—हे भरतसत्तम! हे पुरुषश्रेष्ठ! त्यागके विषयमें निश्चित सिद्धान्त यह है कि त्याग भी तीन प्रकारका है॥१८.४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥१८.५॥

अन्वय—यज्ञ-दान-तपः-कर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म) न त्याज्यम् (त्याज्य नहीं हैं) तत् (ये सभी) कार्यम् एव (कर्त्तव्य कर्म हैं) [क्योंकि] यज्ञः दानम् तपः च (यज्ञ दान और तपस्या) मनीषिणाम् (मनीषियोंके लिए) पावनानि एव (चित्तशुद्धिकर ही हैं)॥१८.५॥

अनुवाद—यज्ञ, दान और तप आदि कर्म स्वरूपतः त्याज्य नहीं हैं। ये सभी मानवके कर्त्तव्य कर्म हैं। सत्वसंशुद्धिके उपायस्वरूप ही बद्धजीव इनका अनुष्ठान करेंगे॥१८.५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥१८.६॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एतानि (ये सभी) कर्माणि अपि तु (कर्म भी) सङ्गम् (कर्त्तापनके अभिमान) फलानि च (और फलकी आशाका) त्यक्त्वा (त्यागकर) कर्त्तव्यानि (करना कर्त्तव्य है) इति (यह) मे (मेरा) निश्चितम् (निश्चित) उत्तमम् (उत्तम) मतम् (मत है)॥१८.६॥

अनुवाद—उत्तम सिद्धान्त यह है कि आसक्ति और फलका परित्यागकर कर्त्तव्यबोधसे इन कर्मोंको करना आवश्यक है॥१८.६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः॥१८.७॥

अन्वय—नियतस्य तु (किन्तु नित्य) कर्मणः संन्यासः (कर्मका संन्यास) न उपपद्यते (उचित नहीं है) मोहात् (मोहवश) तस्य परित्यागः (उसका परित्याग) तामसः परिकीर्त्तितः (तामसिक कहलाता है)॥१८.७॥

अनुवाद—नित्य कर्मका संन्यास सम्भव नहीं है। भ्रमवश जो नित्यकर्मका परित्याग करते हैं उनका ही त्याग 'तामस' त्याग है॥१८.७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥१८.८॥

अन्वय—कर्म दुःखम् (कर्म दुःखजनक है) इति एव मत्वा (यह मानकर) [यः—जो] कायक्लेशभयात् (शारीरिक कष्टके भयसे) यत् (जो) त्यजेत् (त्याग करता है) सः (वह) राजसः त्यागः (राजस त्याग) कृत्वा (कर) त्यागफलम् (त्यागके फलको) न लभेत् एव (प्राप्त नहीं करता है)॥१८.८॥

अनुवाद—जो नित्य कर्मको क्लेशदायक जानकर भयपूर्वक उसका परित्याग करते हैं, उनका त्याग 'राजस' त्याग होता है एवं वे त्यागके फलको नहीं पाते हैं॥१८.८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥१८.९॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) सङ्गम् (कर्त्तापनके अभिमान) फलम् च एव (और फलकामनाको) त्यक्त्वा (त्यागकर) कार्यम् इति एव (कर्त्तव्य समझकर) यत् नियतम् कर्म (जो नित्य कर्म) क्रियते (किया जाता है) सः त्यागतः (वह त्याग ही) सात्त्विकः मतः (सात्त्विक माना गया है)॥१८.९॥

अनुवाद—हे अर्जुन! जो कर्त्तव्यबोधसे नित्य कर्म करते हैं एवं उस कर्म में आसक्ति तथा उसके फलका परित्याग करते हैं उनका ही त्याग सात्त्विक कहलाता है॥१८.९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१८.१०॥

अन्वय—सत्त्वसमाविष्टः (सत्वगुणसे सम्पन्न) मेधावी (सात्त्विक त्यागी) अकुशलम् (दुःखजनक) कर्म (कर्मसे) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते हैं) कुशलम् (सुखदायक कर्मसे) न अनुषज्जते (अनुरक्त नहीं होते हैं)॥१८.१०॥

अनुवाद—अकुशल (दुखःजनक) कर्मसे विद्वेष नहीं करते हैं एवं कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होते हैं—इस प्रकारके सत्त्वगुण–सम्पन्न मेधावी व्यक्तिको कोई संशय नहीं रहता है॥१८.१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥१८.११॥

अन्वय—देहभृता (देहधारी जीव द्वारा) अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) कर्माणि (कर्मोंका) त्यक्तुम् (त्याग करना) न शक्यम् हि (सम्भव नहीं हो सकता) तु (किन्तु) यः (जो) कर्मफलत्यागी (सभी कर्मोंके फलका त्यागनेवाले हैं) सः (वे) त्यागी (त्यागी हैं) इति अभिधीयते (ऐसा कहा जाता है)॥१८.११॥
देहधारी जीवके लिए समस्त कर्मोंका परित्याग सम्भव नहीं है। अतएव जो समस्त कर्मोंके फलका त्याग करनेवाले हैं, वे ही वास्तविक त्यागी हैं॥१८.११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१८.१२॥

अन्वय—अत्यागिनाम् (उक्त त्यागरहित व्यक्तियोंके) प्रेत्य (देहत्यागके बाद) अनिष्टम् (नारकित्व) ईष्टम् (देवत्व) मिश्रम् (और मनुष्यत्व) त्रिविधम् (ये तीन प्रकारके) कर्मणः फलम् (कर्मफल) भवति (होते हैं) तु (किन्तु) संन्यासिनाम् (संन्यासियोंका) क्वचित् (कदापि) न (ऐसा नहीं होता है)॥१८.१२॥

अनुवाद—जो कर्मफलका त्याग नहीं करते हैं, उन्हें तीन प्रकारका फल प्राप्त होता है—अनिष्ट, इष्ट और मिश्र। संन्यासियोंको उपरोक्त तीन प्रकारके फलोंका भोग नहीं करना पड़ता है॥१८.१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१८.१३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) सांख्ये (वेदान्त शास्त्रमें) कृतान्ते (कर्मको समाप्त करनेवाले सिद्धान्तमें) प्रोक्तानि (कथित) सर्वकर्मणाम् (सभी कर्मोंकी) सिद्धये (सिद्धिके लिए) एतानि पञ्चकारणानि (इन पाँच कारणोंको) मे निबोध (मुझसे श्रवण करो)॥१८.१३॥

अनुवाद—हे महाबाहो! कर्मको समाप्त करनेवाले वेदान्तशास्त्रमें सभी कर्मोंकी सिद्धिके लिए जो पाँच कारण कहे गये हैं, उन्हें मुझसे श्रवण करो॥१८.१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥१८.१४॥

अन्वय—अधिष्ठानम् (शरीर) तथा कर्त्ता (चित्–जड़ ग्रन्थिरूप अहङ्कार) पृथग्विधम् करणम् च (नाना प्रकारकी इन्द्रियाँ) विविधाः पृथक् चेष्टा च (विविध प्राण और अपान आदिकी पृथक् चेष्टाएँ) अत्र च (और इन कारणोंके बीचमें) पञ्चमम् (पञ्चम) दैवम् एव (अन्तर्यामी)॥१८.१४॥

अनुवाद—'अधिष्ठान' अर्थात् देह, 'कर्त्ता' अर्थात् चित्त–जड़ ग्रन्थिरूपी अहङ्कार, 'करणं' अर्थात् इन्द्रियसमूह, विविध चेष्टाएँ एवं दैव अर्थात् जगतके कार्योंके नियामककी सहायता—ये पाँच कारण हैं। इन पाँचों कारणोंके अतिरिक्त कोई कर्म अनुष्ठित नहीं होता॥१८.१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१८.१५॥

अन्वय—नरः (मानव) शरीर–वाङ्–मनोभिः (काय, वाक्य और मनके द्वारा) न्याय्यं (धर्मयुक्त) विपरीतम् वा (या अधर्मयुक्त) यत्कर्म (जो कर्म) प्रारभते (सम्पादित करता है) एते (ये) पञ्च (पाँच) तस्य हेतवः (उसके कारण हैं)॥ १८.१५॥

अनुवाद—शरीर, वाक्य और मन द्वारा मनुष्य जो कार्य करता है, वह न्याय हो अथवा अन्याय ही हो, उक्त पाँच कारणोंसे ही साधित होता है॥१८.१५॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१८.१६॥

अन्वय—एव सति (ऐसा होनेपर) यः (जो व्यक्ति) केवलम् तु (केवल) आत्मानम् (जीवको) अत्र (उन कर्मोंका) कत्तारम् (कर्त्ता कहकर) पश्यति (विचार करता है) अकृतबुद्धित्वात् (असंस्कृत बुद्धि होनेके कारण) सः (वह) दुर्मतिः (दुर्मति) न पश्यति (ठीक नहीं समझ पाता है)॥१८.१६॥

अनुवाद—यहाँ जो व्यक्ति केवल स्वयंको कर्त्ता मानते हैं, वे अकृतबुद्धिवाले अतएव दुर्मतिमान् हैं। वे यथार्थ नहीं देख पाते हैं॥१८.१६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१८.१७॥

अन्वय—यस्य (जिनका) अहङ्कृतः भावः (अहङ्कारका भाव अर्थात् कर्त्तापनका अभिमान) न (नहीं है) यस्य बुद्धिः (जिनकी बुद्धि) न लिप्यते (कर्ममें लिप्त नहीं होती है) सः (वे) इमान् लोकान् (इन समस्त प्राणियोंका) हत्वा अपि (वध करनेपर भी) न हन्ति (वस्तुतः वध नहीं करते हैं) न निबध्यते (और न कर्मफलमें आबद्ध होते हैं)॥१८.१७॥

अनुवाद—हे अर्जुन! युद्धके विषयमें तुम्हारा जो मोह हुआ था, वह केवल अहङ्कारके भावसे उदित होता है। उक्त पाँच कारणोंको ही समस्त कर्मोंका कारक जाननेपर तुम्हें और यह मोह नहीं हो पाता। अतएव जिनकी बुद्धि अहङ्कार-भावसे लिप्त नहीं होती, वे समस्त लोगोंको मारकर भी किसीकी हत्या नहीं करते एवं हनन-कर्मके फलसे आबद्ध नहीं होते॥१८.१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥१८.१८॥

अन्वय—ज्ञानम् (ज्ञान) ज्ञेयम् (ज्ञेय) परिज्ञाता (और ज्ञाता) [इति—ये] त्रिविधा (तीन प्रकारकी) कर्मचोदना (कर्मविधियाँ हैं) करणम् (करण) कर्म (कर्म) कर्त्ता (और कर्त्ता) इति त्रिविधः (ये तीन प्रकारके) कर्मसंग्रहः (कर्माश्रय हैं)॥ १८.१८॥

अनुवाद—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये तीन ही कर्मचोदना (कर्मप्रवृत्तिके कारण) हैं तथा करण, कर्म और कर्त्ता—ये तीन कर्मसंग्रह (कर्मके आश्रय) हैं। मनुष्यके द्वारा जो भी कर्म किये जायँ, उसमें दो अवस्थाएँ हैं—चोदना (प्रेरणा) और संग्रह (आश्रय)। कर्म करनेसे पहले जो विधि अवलम्बित होती है, उसका नाम 'चोदना' है। 'चोदना' का तात्पर्य प्रेरणा भी है। प्रेरणा ही कर्मका सूक्ष्मांश है अर्थात् कर्मकी स्थूल सत्ताकी प्राप्तिके पूर्व जो वैज्ञानिक श्रद्धा रहती है, वही प्रेरणा है। क्रियाकी पूर्वावस्था इन तीन भागोंमें विभक्त है—कर्म-करणका ज्ञान, कर्मका स्वरूपगत ज्ञेयत्व और कर्म-कर्त्ताका परिज्ञातत्व। क्रियागत अवस्थाके स्थूल आकारमें कर्मके तीन विभाग हैं—'करणत्व', 'कर्मत्व' और 'कर्त्तृत्व'॥१८.१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१८.१९॥

अन्वय—गुणसंख्याने (गुणका निरूपण करनेवाले शास्त्रमें) ज्ञानम् (ज्ञान) कर्म च (और कर्म) कर्त्ता च (तथा कर्त्ता) गुणभेदतः (सात्त्विक आदि गुणोंके भेदसे) त्रिधा एव (तीन प्रकारके ही) प्रोज्यते (कहे गये हैं) तानि अपि (उन सबको भी) यथावत् (यथावत्) शृणु (सुनो)॥१८.१९॥

अनुवाद—अब सत्त्व, रज और तमोगुणके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ताके भी तीन भेदोंको बतला रहा हूँ, श्रवण करो॥१८.१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥१८.२०॥

अन्वय—येन (जिस ज्ञानके द्वारा) विभक्तेषु सर्वभूतेषु (परस्पर भिन्न जीवोंमें) एकम् (एक) भावम् (जीवात्माको) अविभक्तम् (एकरूप) अव्ययम् (अव्यय) इक्षते (देखा जाय) तत् ज्ञानम् (उस ज्ञानको) सात्त्विकम् विद्धि (सात्त्विक जानो)॥ १८.२०॥

अनुवाद—एक ही जीवात्मा नाना प्रकारके फलोंको भोगनेके लिए क्रमशः मनुष्य आदि सभी जीवोमें वर्त्तमान है। नश्वर वस्तुके मध्य अवस्थित रहनेपर भी वह अनश्वर है। अनेक जीव परस्पर भिन्न होनेपर भी चित्–जातीय होनेके कारण एकसमान हैं—ऐसे ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं॥१८.२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥१८.२१॥

अन्वय—यत् ज्ञानम् (जो ज्ञान) पृथक्त्वेन तु (किन्तु पृथक्रूपमें) सर्वेषुभूतेषु (सभी जीवोंमें) पृथग्विधान् (पृथक्–पृथक् जातीय) नाना भावान् (नाना अभिप्राययुक्त) वेत्ति (बोध करता है) तत् ज्ञानम् (उस ज्ञानको) राजसम् विद्धि (राजस जानो)॥१८.२१॥

अनुवाद—राजसिक ज्ञानके द्वारा नाना प्रकारके अभिप्रायोंका बोध होता है—इसका अर्थ यह है कि लोकायितगण कहते हैं—'देह ही आत्मा है'; जैन लोग कहते हैं—'आत्मा देहसे भिन्न किन्तु देह–परिमित है'; बौद्ध लोग कहते हैं—'आत्मा क्षणिक विज्ञानरूप है'; तार्किक लोग कहते हैं—'आत्मा देहसे स्वतन्त्र नौ विशेष गुणोंका आश्रय है तथा अजड़ है।' आत्मा–सम्बन्धी ये सब भिन्न–भिन्न अभिप्राय जिसके द्वारा जाने जाते हैं, वह राजसिक ज्ञान है।

सर्वभूतोंमें अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जो जीवात्माएँ हैं, वे पृथक्–जातीय जीव हैं, उनका स्वरूप–भाव पृथक् है—ऐसा ज्ञान राजसिक है॥ १८.२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥१८.२२॥

अन्वय—यत् तु (और जो ज्ञान) एकस्मिन् कार्ये (स्नान–भोजन आदि किसी एक कार्यमें) कृत्स्नवत् (परिपूर्णकी भाँति) सक्तम् (आसक्त) अहैतुकम् (युक्तिरहित, स्वाभाविक) अतत्त्वार्थवत् (तत्त्वार्थरहित) अल्पम् च (और पशु आदिकी भाँति हेय है) तत् (वह) तामसम् (तामसिक) उदाहृतम् (कहलाता है)॥१८.ः२२॥

अनुवाद—स्नान–भोजन आदि दैहिक कार्योंको बृहत् मानकर जो उसमें आसक्त होते हैं, उनका ज्ञान तुच्छ और तामसिक है, क्योंकि वह ज्ञान अयथाभूत (अनुचित) होनेपर भी अहेतुक अर्थात् 'औत्पत्तिक' के रूपमें प्रतिभात होता है। इसमें तत्त्वरूप कोई अर्थ प्राप्त नहीं होता। सिद्धान्त यह है कि 'देह' आदिसे अतिरिक्त 'तत्'–पदार्थके ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। नाना वाद–प्रतिवादक न्याय आदि शास्त्रोंके ज्ञानको राजसिक ज्ञान कहते हैं और स्नान–भोजन आदि व्यवहारिक ज्ञानको तामसिक ज्ञान कहते हैं॥१८.२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥१८.२३॥

अन्वय—यत् नियतम् (जो नित्य) कर्म (कर्म) अफलप्रेप्सुना (फलकामनासे रहित व्यक्तित द्वारा) सङ्गरहितम् (आसक्तिशून्य होकर) अरागद्वेषतः (राग और द्वेषसे रहित होकर) कृतम् (किया जाता है) तत् (वह) सात्त्विकम् उच्यते (सात्विक कहलाता है)॥१८.२३॥

अनुवाद—राग–द्वेषशून्य, आसक्तिरहित, निष्काम नित्य कर्म ही सात्त्विक कर्म है॥१८.२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥१८.२४॥

अन्वय—यत् तु (किन्तु जो कर्म) कामेप्सुना (फलाकांक्षी) वा साहङ्कारेन (अथवा अहङ्कारी व्यक्ति द्वारा) बहुलायासम् (अत्यन्त क्लेशपूर्वक) क्रियते (अनुष्ठित होता है) तत् (वह) राजसम् उदाहृतम् (राजसिक कहलाता है)॥१८.२४॥

अनुवाद—किन्तु जो कर्म फलकी कामना करनेवाले तथा अहङ्कारी व्यक्ति द्वारा अत्यन्त क्लेशपूर्वक किया जाता है, वह राजसिक कर्म कहलाता है॥ १८.२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥१८.२५॥

अन्वय—यत् कर्म (जो कर्म) अनुबन्धम् (भावी क्लेश) क्षयम् (धर्म आदिका विनाश) हिंसाम् (आत्मनाश या हिंसाके लिए) पौरुषम् च (और आत्मसामर्थ्यकी) अनपेक्ष्य (परिणाम पर विचार किये बिना नहीं कर) मोहात् (मोहवश) आरभ्यते (आरम्भ किया जाय) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामसिक कहलाता है)॥ १८.२५॥

अनुवाद—जो कर्म भावी क्लेश, धर्म–ज्ञान आदिके नाश, हिंसा अर्थात् आत्मनाश या परपीड़नके लिए किया जाय तथा अपने सामर्थके परिणाम पर विचार किये बिना मोहवश किया जाय, उस कर्मको तामसिक कर्म कहते हैं॥ १८.२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥१८.२६॥

अन्वय—मुक्तसङ्ग (आसक्तिशून्य) अनहंवादी (अहङ्कारशून्य) धृत्युत्साहसमन्वितः (धैर्य और उत्साहसम्पन्न) सिद्ध्यासिद्ध्योः (कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें) निर्विकारः (सुख–दुःखरहित) कर्त्ता (कर्त्ता) सात्त्विकः उच्यते (सात्त्विक कहलाता है)॥१८.२६॥

अनुवाद—आसक्तिरहित, अहङ्कारशून्य, धैर्य और उत्साहयुक्त एवं सिद्धि और असिद्धिमें सुख–दुःख आदि विकाररहित कर्त्ता ही सात्त्विक कर्त्ता है॥१८.२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः॥१८.२७॥

अन्वय—रागी (कर्ममें आसक्त) कर्मफलप्रेप्सुः (कर्मफलकी कामना करनेवाला) लुब्धः (विषयमें आसक्त) हिंसात्मकः (हिंसाप्रिय) अशुचिः (शौचरहित) हर्षशोकान्वितः (हर्ष और शोकयुक्त) कर्त्ता (कर्त्ता) राजसः परिकीर्त्तितः (राजसिक कहलाता है)॥ १८.२७॥

अनुवाद—जो कर्त्ता कर्ममें आसक्त, कर्मफलमें लुब्ध, विषयासक्त, हिंसाप्रिय, अशुचि तथा हर्ष–शोक आदिके वशीभूत होता है, वह राजसिक कर्त्ता है॥१८.२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥१८.२८॥

अन्वय—अयुक्तः (अनुचित कार्यप्रिय) प्राकृतः (स्वभावके अनुसार चेष्टायुक्त) स्तब्धः (अनम्र) शठः (मायावी) नैष्कृतिकः (दूसरेका अपमान करनेवाला) अलसः (आलसी) विषादी (शोकमग्न) दीर्घसूत्री च (और दीर्घसूत्री) कर्त्ता (कर्त्ता) तामसः उच्यते (तामसिक कहलाता है)॥१८.२८॥

अनुवाद—जो कर्त्ता अनुचित–कार्यप्रिय, जड़चेष्टायुक्त, अनम्र, शठ, दूसरेके अपमानमें रत, आलसी, सर्वदा विषादयुक्त और दीर्घसूत्री है, वह तामसिक कर्त्ता है॥१८.२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥१८.२९॥

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) गुणतः (गुणके अनुसार) बुद्धेः (बुद्धि) धृतेः च एव (और धृतिके) त्रिविधम् भेदम् (तीन प्रकारके भेदको) पृथक्त्वेन (पृथक्–पृथक्) अशेषेण (सम्पूर्णरूपसे) प्रोच्यमानम् (जो कहा जा रहा है, उसे) शृणु (श्रवण करो)॥१८.२९॥

अनुवाद—सत्त्व, रज और तमोगुणके अनुसार बुद्धि और धृतिके भेदको सम्पूर्ण रूपसे कह रहा हूँ, हे धनञ्जय! तुम उसे श्रवण करो॥१८.२९॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥१८.३०॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) या बुद्धि (जो बुद्धि) प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च (प्रवृत्ति और निवृत्ति) कार्याकार्ये (कार्य और अकार्य) भयाभये (भय और अभय) बन्ध मोक्ष च (तथा बन्धन और मोक्ष) वेत्ति (जान सकती है) सा (वह) सात्त्विकी (सात्त्विकी बुद्धि है)॥१८.३०॥

अनुवाद—जिस बुद्धिके द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्धन और मोक्ष—इन सबका पार्थक्य निश्चित होता है, वही बुद्धि सात्त्विकी है॥१८.३०॥

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥१८.३१॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यया (जिसके द्वारा) धर्मम् अधर्मम् च (धर्म और अधर्मको) कार्यम् अकार्यम् एव च (तथा कार्य और अकार्यको) अयथावत्

(यथार्थतः नहीं) प्रजानाति (जाना जा सकता) सा बुद्धिः (वह बुद्धि) राजसी (राजसी है)॥१८.३१॥

अनुवाद—जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य इत्यादिका पार्थक्य ठीक प्रकारसे निश्चित नहीं हो पाता, वही बुद्धि राजसिकी है॥१८.३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥१८.३२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) या बुद्धिः (जो बुद्धि) अधर्मम् (अधर्मको) धर्मम् इति (धर्म कहकर) सर्वार्थान् च (और सभी विषयोंको) विपरीतान् (उसके विपरीत कहकर) मन्यते (मानती है) सा (वह बुद्धि) तमसावृता (तमोगुणसे आच्छन्न) तामसी (तामसी है)॥१८.३२॥

अनुवाद—अधर्मको धर्म–ज्ञान करनेमें एवं अर्थसमूहके विपरीत अर्थके ज्ञानमें जो मोहसे आवृत बुद्धि कार्य करती है, उसे तामसिकी बुद्धि जानो॥१८.३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥१८.३३॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) योगेन (योगाभ्यासपूर्वक) यया अव्यभिचारिण्या (जिस अव्यभिचारिणी) धृत्या (धृति द्वारा) [पुरुष] मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः (मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको) धारयते (धारण करता है अर्थात् नियमित करता है) सा धृतिः (वह धृति) सात्त्विकी (सात्त्विकी है)॥१८.३३॥

अनुवाद—हे पार्थ! जो धृति अव्यभिचारी योग द्वारा मन, प्राण, इन्द्रियों और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको नियन्त्रित करती है, वह धृति सात्त्विकी है॥१८.३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥१८.३४॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अर्जुन (हे अर्जुन!) प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी (आसक्तिवश फलाकाङ्क्षी होकर) [पुरुष] यया तु धृत्या (जिस धृति द्वारा) धर्म–कामार्थान् (धर्म, काम और अर्थको) धारयति (धारण करता है) सा धृतिः (वह धृति) राजसी (राजसी है)॥१८.३४॥

अनुवाद—जो धृति फलाकांक्षाके साथ धर्म, काम और अर्थको धारण करती है, वह राजसी है॥१८.३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता॥१८.३५॥

अन्वय—दुर्मेधाः (अविवेकी मेधायुक्त व्यक्तिगण) यया (जिस धृति द्वारा) स्वप्नम् (निद्रा) भयम् (भय) शोकम् (शोक) विषादम् (विषाद) मदम् एव च (और विषयके भोगसे उत्पन्न मदका) न विमुञ्चति (त्याग नहीं करते) सा धृतिः (वह धृति) तामसी मता (तामसी कहलाती है)॥१८.३५॥

अनुवाद—जो धृति, स्वप्न, भय, शोक, विषाद, मद इत्यादिका त्याग नहीं करती, वह बुद्धिहीना धृति ही 'तामसी' है॥१८.३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति॥१८.३६॥

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) इदानीम् तु (किन्तु अब) मे (मुझसे) त्रिविधम् सुखम् (तीन प्रकारके सुखके बारेमें) शृणु (श्रवण करो) [बद्धजीव] अभ्यासात् (पुनः पुनः अनुशीलन द्वारा अभ्याससे) यत्र (जिस सुखमें) रमते (रति प्राप्त करता है) दुःखान्तञ्च (और दुखका अन्त) निगच्छति (लाभ करता है)॥ १८.३६॥

अनुवाद—हे भरतर्षभ! अभी तुम त्रिविध सुखके विषयमें सुनो। बद्धजीव पुनः-पुनः अनुशीलन द्वारा अभ्याससे उस सुखमें रमण करता है। कहीं-कहीं उपरति प्राप्त सांसारिक दुःखका भी अन्त लाभ करता है॥१८.३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥१८.३७॥

अन्वय—यत् तत् (जो कोई सुख) अग्रे (पहले) विषम् इव (विषके समान) परिणामे (परिणाममें) अमृतोपमम् (अमृतके समान है) आत्मबुद्धि-प्रसादजम् (और आत्म-विषयक बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न है) तत् सुखम् (उस सुखको) सात्त्विकम् प्रोक्तम् (सात्त्विक कहते हैं)॥१८.३७॥

अनुवाद—पहले कष्टकर और परिणाममें अमृतके समान, आत्मबुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न सुख ही 'सात्त्विक' सुख है॥१८.३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥१८.३८॥

अन्वय—विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे) यत् (जो सुख) [उत्पन्न होता है] तत् (वह) अग्रे (पहले) अमृतोपमम् (अमृतके समान) परिणामे (और परिणाममें) विषम् इव (विषके समान होता है) तत् सुखम् (उस सुखको) राजसम् स्मृतम् (राजसिक कहा जाता है)॥१८.३८॥

अनुवाद—विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख पहले अमृतके समान, किन्तु परिणाममें विषके समान अनुभूत होता है, उसे 'राजस'–सुख कहा जाता है॥ १८.३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥१८.३९॥

अन्वय—यत् सुखम् (जो सुख) अग्रे अनुबन्धे च (पहले और बादमें भी) आत्मनः मोहनम् (आत्माके स्वरूपको आवृत करनेवाला) निद्रा–आलस्य–प्रमादोत्थम् (निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिसे उत्पन्न होता है) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामसिक कहलाता है)॥१८.३९॥

अनुवाद—प्रथमतः और परिणामतः आत्माके मोहको उत्पन्न करनेवाला, निद्रा–आलस्य–प्रमाद आदिसे उत्पन्न जो सुख है, वह 'तामस' है॥१८.३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥१८.४०॥

अन्वय—पृथिव्याम् (पृथ्वीमें) दिवि वा (अथवा स्वर्गमें) पुनः देवेषु वा (इतना ही नहीं देवगणमें भी) तत् सत्त्वम् (वैसा कोई प्राणी अथवा वस्तु) न अस्ति (नहीं है) यत् (जो) प्रकृतिजैः (प्रकृतिसे उत्पन्न) एभिः (इन) त्रिभिः गुणैः (तीनों गुणोंसे) मुक्तम् स्यात् (मुक्त हो)॥१८.४०॥

अनुवाद—इस पृथ्वीमें मनुष्योंके बीच अथवा स्वर्गमें देवताओंके बीच ऐसा कोई जीव नहीं है, जो प्रकृतिके उत्पन्न गुणोंसे स्वरूपतः मुक्त हैं। ज्ञानी और कर्मीलोग प्रकृतिके गुणोंके वशीभूत होते हैं। भक्तगण केवल देहयात्रा निर्वाहके लिए प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंको स्वीकार करते हैं। वस्तुतः उनकी अपनी सत्ता प्रकृतिके गुणोंसे पृथक् रहती है। अतएव साक्षात् दृष्टिसे सभीको प्रकृतिके गुणोंसे आवृत्त देखना चाहिए॥१८.४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥१८.४१॥

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके) शूद्रानाम् च (एवं शूद्रोंके) कर्माणि (कर्मसमूह) स्वभावप्रभवैः (प्राचीन संस्कारसे उत्पन्न) गुणैः (गुणोंसे) प्रविभक्तानि (विभक्त हुये हैं)॥१८.४१॥

अनुवाद—सत्व, रज और तम—ये तीनों ही गुण प्रकृतिबद्ध जीवके स्वभावसे सिद्ध हुये हैं। हे परन्तप! उन स्वभावजनित गुण द्वारा ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मसमूह विभक्त हुये हैं॥१८.४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षन्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥१८.४२॥

अन्वय—शमः (अन्तःकरणका संयम) दमः (बाह्येन्द्रियोंका संयम) तपः (शास्त्रमें बताए गये शारीरिक क्लेश) शौचम् (बाह्य और आन्तरिक शुद्धि) क्षान्तिः (सहिष्णुता) आर्जवम् (सरलता) ज्ञानम् (शास्त्रीय ज्ञान) विज्ञानम् (तत्त्वकी अनुभूति) आस्तिक्यम् एव च (और शास्त्रके तात्पर्यमें दृढ़ विश्वास) [एतानि—ये सभी] स्वभावजम् (स्वभावसे उत्पन्न ब्राह्मणोचित कर्म हैं)॥१८.४२॥

अनुवाद—शम, दम, तप, शौच सहिष्णुता, सरलता, ज्ञान और अस्तिकता—ये कुछ 'ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म' हैं॥१८.४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥१८.४३॥

अन्वय—शौर्यम् (पराक्रम) तेजः (तेज) धृतिः (धैर्य) दाक्ष्यम् (दक्षता) युद्धे च अपि (और युद्धमें) अपलायनम् (पलायन नहीं करना) दानम् (दान) ईश्वरभावः (लोक-नेतृत्वता) [एतानि—ये सभी] स्वभावजम् क्षत्रकर्म (क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं)॥१८.४३॥

अनुवाद—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें अविमुखता, दान, लोक नियन्तृत्त्व—ये कुछ क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं॥१८.४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥१८.४४॥

अन्वय—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् (कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य) स्वभावजम् वैश्यकर्म (वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं) परिचर्यात्मकम् (परिचर्यारूप) कर्म (कर्म) शूद्रस्य अपि (शूद्रके लिए ही) स्वभावजम् (स्वाभाविक है)॥१८.४४॥

अनुवाद—कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य—ये कुछ वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंकी परिचर्यारूपी कर्म ही शूद्रोंके लिए स्वाभाविक कर्म हैं। इन चार प्रकारके स्वभावसे ही मनुष्यके वर्ण निरूपित होते हैं, केवल जन्म द्वारा नहीं॥१८.४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥१८.४५॥

अन्वय—स्वे स्वे (अपने अपने) कर्मणि (कर्ममें) अभिरतः (निरत) नरः (मानव) संसिद्धिम् (ज्ञान–योग्यता) लभते (लाभ करते हैं) स्वकर्मनिरतः (अपने अधिकारविहित कर्ममें तत्पर व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) सिद्धिम् (सिद्धि) विन्दति (प्राप्त करते हैं) तत् (उसे) शृणु (सुनो)॥१८.४५॥

अनुवाद—स्वकर्म निरत व्यक्ति अपने कर्ममें अभिरत होकर जिस प्रकार संसिद्धि लाभ करते हैं, उसे श्रवण करो॥१८.४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥१८.४६॥

अन्वय—यतः (जिनसे) भूतानाम् (जीवोंकी) प्रवृत्तिः (उत्पत्ति होती है) येन (जिनसे) सर्वम् इदम् (यह समग्र विश्व) ततम् (व्याप्त है) तम् (उन परमेश्वरको) स्वकर्मणा (अपने कर्म द्वारा) अभ्यर्च्य (अर्चनकर) मानवः (मानव) सिद्धि (सिद्धि) विन्दति (लाभ करता है)॥१८.४६॥

अनुवाद—जो व्यष्टि और समष्टिरूपमें इस जगत्में व्याप्त हैं एवं जिनके फलदान–स्वभावप्रयुक्त–जीवोंकी पूर्ववासनारूपी प्रवृत्ति होती है, अपने कर्म द्वारा उनका अर्चन करते हुये मानवगण सिद्धि प्राप्त करते हैं॥१८.४६॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥१८.४७॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् (अच्छे प्रकारसे अनुष्ठित) परधर्मात् (परमधर्मसे) विगुणः (निकृष्ट) स्वधर्मः (स्वधर्म) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) स्वभावनियतम् (स्वभावके अनुसार नियत) कर्म (कर्म) कुर्वन् (कर) [मानव] किल्विषम् (पापको) न अप्नोति (प्राप्त नहीं होता)॥१८.४७॥

अनुवाद—उत्तमरूपसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा असम्यक् रूपसे अनुष्ठित स्वधर्म ही श्रेय है, क्योंकि स्वभावविहित कर्मका नाम ही 'स्वधर्म' है। यदि स्वधर्म कभी ठीकसे अनुष्ठित न भी हो, तो भी इससे सर्वकालिक उपकार होता है। स्वभावविहित कर्मके करनेसे किसी पापके होनेकी सम्भावना नहीं रहती॥१८.४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥१८.४८॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) सदोषम् अपि (दोषयुक्त भी) सहजम् (स्वाभाविक) कर्म (कर्म) न त्यजेत् (नहीं त्यागना चाहिए) हि (क्योंकि)

सर्वारम्भाः (सभी कर्म) धूमेन (धुएँके द्वारा) अग्नि इव (अग्निकी भाँति) दोषेण (दोष द्वारा) आवृताः (आवृत हैं)॥१८.४८॥

अनुवाद—हे कौन्तेय! सहज (स्वाभाविक) कर्म सदोष होनेपर भी त्याज्य नहीं है। सभी कर्मोंके आरम्भमात्रमें दोष है। जिस प्रकार अग्नि हमेशा धुएँके द्वारा आवृत रहती है, उसी प्रकार कर्ममात्रमें ही दोष आवृत करता है। सत्त्व-संशुद्धिके लिए स्वभावविहित कर्मके दोषांशका परित्यागकर उसके गुणांशका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए॥१८.४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥१८.४९॥

अन्वय—सर्वत्र (प्राकृत वस्तुमात्रमें) असक्तबुद्धिः (आसक्तिशून्य बुद्धिवाला) जितात्मा (वशीभूत चित्तवाला) विगतस्पृहः (निस्पृह) [व्यक्ति] संन्यासेन (स्वरूपतः कर्मत्याग द्वारा) परमाम् (श्रेष्ठ) नैष्कर्म्यसिद्धिम् (नैष्कर्म्यरूपी सिद्धि) अधिगच्छति (प्राप्त करता है)॥१८.४९॥

अनुवाद—प्राकृत वस्तुमें आसक्तिशून्य बुद्धिवाला होकर, वशीकृत चित्तवाला होकर तथा ब्रह्मलोक-प्राप्ति तकके सुख आदिमें निस्पृह होकर स्वरूपतः कर्मको त्यागकर वे नैष्कर्म्यरूपी परमसिद्धिको प्राप्त करते हैं॥१८.४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥१८.५०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) सिद्धिम् प्राप्तः (सिद्धिप्राप्त व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) ब्रह्म अप्नोति (ब्रह्मको प्राप्त करते हैं) या (जो) ज्ञानस्य (ज्ञानकी) परानिष्ठा (श्रेष्ठ गति है) तथा (उस प्रकारको) मे (मेरे निकट) समासेन एव (संक्षेपमें ही) निबोध (श्रवण करो)॥१८.५०॥

अनुवाद—नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्तकर जिस प्रकार जीव ज्ञानके परानिष्ठारूप ब्रह्मको प्राप्त करता है, उसे संक्षेपमें कह रहा हूँ॥१८.५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥१८.५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥१८.५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥१८.५३॥

अन्वय—विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः (सात्त्विकी बुद्धियुक्त होकर) धृत्या (धृति द्वारा) आत्मानम् (मनको) नियम्य च (नियमितकर) शब्दादीन् विषयान् (शब्द आदि विषयोंको) त्यक्त्वा (त्यागकर) रागद्वेषौ व्युदस्य च (राग और द्वेष दूरकर) विविक्तसेवी (निर्जनवासी) लघ्वाशी (अल्पाहारी) यतवाक्कायमानसः (वाक्य, काय और मन संयमितकर) नित्यम् (नित्य) ध्यानयोगपरः (भगवत्–चिन्तापरायण योगयुक्त होकर) वैराग्यम् समुपाश्रितः (वैराग्यका सम्यक् आश्रयकर) अहङ्कारम् (अहङ्कार) बलम् (बल) क्रोधम् (क्रोध) परिग्रहम् (दान आदि ग्रहण) विमुच्य (त्यागकर) निर्ममः (ममताविहीन होकर) शान्तः (परम उपशम प्राप्त व्यक्ति) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्मानुभवके निमित्त) कल्पते (समर्थ होते हैं)॥१८.५१–५३॥

अनुवाद—विशुद्ध बुद्धियुक्त होकर धृति द्वारा मनको नियमितकर, शब्द आदि विषयसमूह परित्यागकर, राग–द्वेषरहित, निर्जनवासी, अल्पाहारी, संयत–कायमनोवाक्य, ध्यानयोग–वैराग्याश्रित, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रहसे परिमुक्त, निर्मम और शान्त पुरुष ब्रह्मानुभवसे समर्थ होते हैं॥१८.५१–५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥१८.५४॥

अन्वय—ब्रह्मभूतः (ब्रह्ममें अवस्थित) प्रसन्नात्मा (प्रसन्नचित्त व्यक्ति) न शोचति (शोक नहीं करते हैं) न काङ्क्षति (और आकांक्षा भी नहीं करते हैं) सर्वेषु भूतेषु (सभी भूतोंमें) समः (समदर्शी) [सन्—होकर] पराम् (प्रेमलक्षणयुक्त) मद्भक्तिम् (मेरी भक्ति) लभते (प्राप्त करते हैं)॥१८.५४॥

अनुवाद—जड़ीय उपाधि दूर होनेपर जीव अनावृतचैतन्य–स्वरूपसे ब्रह्मता लाभ करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप, संप्राप्त प्रसन्नात्मा सभी भूतोंमें समबुद्धिवान् पुरुष शोक या आकांक्षा नहीं करते। वे क्रमशः ब्रह्मभावमें स्थित होकर मेरी परा अर्थात् निर्गुण भक्ति प्राप्त करते हैं॥१८.५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥१८.५५॥

अन्वय—[अहम्—मैं] यावान् (जिस प्रकार विभूतिसम्पन्न) यः च अस्मि (और स्वरूपतः जो हूँ) [सः—वे] भक्त्या (भक्ति द्वारा ही) माम् (मुझे) तत्त्वतः (यथार्थ रूपमें) अभिजानाति (जान सकते हैं) ततः (उस भक्ति द्वारा) तत्त्वतः ज्ञात्वा (तत्त्वसे जानकर) तदनन्तरम् (ज्ञानके उपरम होनेपर) माम् (मुझमें अर्थात् मेरी नित्यलीलामें) विशते (प्रवेश करते हैं)॥१८.५५॥

अनुवाद—मेरा जो स्वरूप है और मैं जैसा स्वभावविशिष्ट हूँ, निर्गुण भक्ति होनेपर ही जीव उसे विशेषरूपसे जान सकता है। मेरे सम्बन्धमें वस्तुज्ञान होनेसे जीव मुझमें प्रवेश करता है—यह मुझसे सम्बन्धित गुह्य ज्ञान है। इसे ही निष्काम कर्मयोग द्वारा वर्णियोंके संन्यास–आश्रम–ग्रहणरूप 'ब्रह्मप्राप्ति' कहते हैं। इसका भी चरम फल है—'निर्गुण भक्ति' अथवा 'प्रेम'। 'विशते मां'—इस शब्दके प्रयोग द्वारा शुष्क आत्मविनाशरूपी दुर्बुद्धिका बोध नहीं होता है। जड़से स्वरूपतः मुक्त होनेपर परम–चित्रूप मेरी स्वरूप–प्राप्तिको ही 'विशते मां' शब्द द्वारा समझना चाहिए। इस 'स्वरूप–प्राप्ति' को विशुद्ध 'भगवत्प्रेम' भी कहा जाता है॥१८.५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥१८.५६॥

अन्वय—मद्व्यपाश्रयः (मेरे एकान्त भक्त) सदा (सर्वदा) सर्वकर्माणि (समस्त कर्म) कुर्वाणः अपि (करनेपर भी) मत्प्रसादात् (मेरी कृपासे) शाश्वतम् (नित्य) अव्ययम् (अव्यय) पदम् (परव्योम वैकुण्ठधाम) अवाप्नोति (प्राप्त करते हैं)॥ १८.५६॥

अनुवाद—निष्काम कर्मयोग द्वारा ज्ञान और ज्ञान द्वारा भक्ति प्राप्त करनेकी जो वैदिक प्रणाली है, उसे ही मेरी प्राप्तिका 'गुह्य' पथ बताया। जिन तीन प्रणालियोंके विषयमें मैं स्पष्टरूपसे कह रहा हूँ, उनमें से यही प्रथम प्रणाली है। अभी भगवत्–उपासनारूप द्वितीय प्रणाली बता रहा हूँ, श्रवण करो—मुझे विशेषतः अपकर्षके साथ आश्रयकर (सकामी होकर भी) ईश्वर–बोधसे समस्त कर्म मुझे अर्पण करनेसे मेरी कृपासे अन्तमें अव्यय और शाश्वत–पदरूप निर्गुण भक्ति प्राप्त होती है॥१८.५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥१८.५७॥

अन्वय—चेतसा (कर्त्तापनके अभिमानसे रहित चित्त द्वारा) सर्वकर्माणि (सभी कर्म) मयि (मुझमें) संन्यस्य (समर्पितकर) मत्परः (मेरे परायण होकर) बुद्धियोगम् (निश्चयात्मिका बुद्धिरूप योगका) उपाश्रित्य (आश्रकर) सततम् (सर्वदा) मच्चित्तः भव (मुझमें चित्तवाला होओ)॥१८.५७॥

अनुवाद—मैंने पहले ही बताया कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् मेरे ही त्रिविध प्रकाश हैं। बुद्धियोगका आश्रयकर मेरे परमात्म–प्रकाशमें चित्त स्थापितकर चित्त द्वारा समस्त कर्म मुझे अर्पितकर मेरे परायण हो जाओ॥१८.५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥१८.५८॥

अन्वय—मच्चितः (मद्गत चित्त होकर) मत् प्रसादात् (मेरी कृपासे) सर्वदुर्गाणि (समस्त प्रतिबन्धकोंसे) तरिष्यसि (उत्तीर्ण होओगे) अथ चेत् (और यदि) त्वम् (तुम) अहङ्कारात् (अहङ्कारवशतः) न श्रोष्यसि (नहीं सुनोगे) [तो] विनङ्क्ष्यसि (विनाश प्राप्त होओगे)॥१८.५८॥

अनुवाद—इस प्रकार मत्–चित्त होनेसे समस्त दुर्ग अर्थात् जीवन–यात्राके समस्त प्रतिबन्धकोंसे उत्तीर्ण होओगे। ऐसा नहीं कर यदि तुम देहात्म–अभिमानरूप अहंकार द्वारा यह मानो कि मैं ही कर्त्ता हूँ, तो अमृतस्वरूपसे च्युत होकर तुम संसाररूप विनाशको प्राप्त करोगे॥१८.५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥१८.५९॥

अन्वय—अहङ्कारम् (अहङ्कारका) आश्रित्य (आश्रयकर) इति यत् मन्यसे (यह जो मान रहो कि) न योत्स्य (युद्ध नहीं करूँगा) ते (तुम्हारा) व्यवसायः (यह सङ्कल्प) मिथ्या एव (मिथ्या ही होगा) [यस्मात्—क्योंकि] प्रकृतिः (रजोगुणात्मिका मेरी माया) त्वाम् (तुम्हें) नियोक्ष्यति (युद्धमें नियुक्त करेगी)॥१८.५९॥

अनुवाद—यदि अहंकारका आश्रयकर तुम यह सोचो कि युद्ध नहीं करूँगा, तो तुम झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला होओगे। क्योंकि तुम्हारी क्षत्रिय–प्रकृति अवश्य ही तुम्हें युद्धकार्यमें प्रवृत्त करेगी॥१८.५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥१८.६०॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मोहात् (मोहवश) यत् कर्त्तुम (जिसे करनेकी) न इच्छसि (इच्छा नहीं करते हो) स्वभावजेन (स्वभावजात) स्वेन कर्मणा (स्वकर्म द्वारा) निबद्धः [सन्] (निबद्ध होकर) अवशः अपि (अवश होकर ही) तत् करिष्यसि (उसे करोगे)॥१८.६०॥

अनुवाद—मोहवश तुम्हें युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है, किन्तु स्वभावजात स्वकर्म द्वारा अवश होकर तुम उस कार्यमें प्रवृत्त होओगे॥१८.६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां ꣳहृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥१८.६१॥

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) ईश्वरः (अन्तर्यामी परमात्मा) मायया (माया द्वारा) यन्त्रारूढानी [इव] (यन्त्रारूढ़की भाँति) सर्वभूतानि (सभी जीवोंको) भ्रामयन् (भ्रमण कराते हुये) सर्वभूतानाम् (सभी जीवोंके) हृद्देशे (हृदयमें) तिष्ठति (अवस्थान करते हैं)॥१८.६१॥

अनुवाद—सभी जीवोंके हृदयमें मैं ही परमात्माके रूपमें अवस्थित हूँ। परमात्मा ही सभी जीवोंके नियन्ता और ईश्वर हैं। जीवसमूह जो–जो कर्म करते हैं, ईश्वर तदनुरूप कर्मफल प्रदान करते हैं। जिस प्रकार यन्त्रारूढ़ वस्तु घूमती है, उसी प्रकार जीवसमूह भी ईश्वरके सर्वनियन्तृत्व धर्मसे जगत्में भ्रमण करते रहते हैं। पूर्व कर्मके अनुसार तुम्हारी प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरणा द्वारा सहज ही कार्य करती रहेगी॥१८.६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥१८.६२॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वभावेन (सभी प्रकारसे) तम् एव (उन ईश्वरके ही) शरणम् गच्छ (शरणमें जाओ) तत्प्रसादात् (उनकी कृपासे) पराम् शान्तिम् (परम शन्ति) शाश्वतम् स्थानम् [च] (और नित्यधाम) प्राप्स्यसि (प्राप्त करोगे)॥१८.६२॥

अनुवाद—हे भारत! सभी प्रकारसे उन ईश्वरके ही शरणमें जाओ। उनकी कृपासे परम शान्ति और नित्यधाम प्राप्त करोगे॥१८.६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥१८.६३॥

अन्वय—इति (इस प्रकार) गुह्यात् (गुह्यसे) गुह्यतरम् (गुह्यतर) ज्ञानम् (ज्ञान) मया (मेरे द्वारा) ते (तुम्हें) आख्यातम् (कहा गया) एतत् (इस गुह्यतर ज्ञानकी) अशेषेण विमृश्य (भलीभाँति आलोचनाकर) यथा (जिस प्रकार) इच्छसि (इच्छा करते हो) तथा कुरु (उसी प्रकार करो)॥१८.६३॥

अनुवाद—इससे पहले तुम्हें जो 'ब्रह्म–ज्ञान' बताया वह गुह्य है। अभी जिस 'परमात्म–ज्ञान' को बताया वह गुह्यतर है। सम्पूर्णरूपसे विचारकर तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो। तात्पर्य यह कि यदि निष्काम कर्मयोग द्वारा ज्ञानका आश्रयकर ब्रह्म एवं क्रमानुसार मेरी निर्गुण भक्ति प्राप्त करनेकी वासना करो, तो निष्काम कर्मरूप युद्ध करो। और यदि परमात्माके शरणागत होओ, तो ईश्वर प्रेरित अपने क्षत्रिय स्वभावसे उत्पन्न प्रवृत्तिके साथ ईश्वरको कर्मका अर्पण करते

हुये युद्ध करो। तभी मेरे अवताररूप ईश्वर क्रमशः तुम्हें निर्गुण भक्ति प्रदान करेंगे। जैसा भी सिद्धान्त क्यों न करो, युद्ध ही तुम्हारे लिए श्रेय है॥१८.६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥१८.६४॥

अन्वय—सर्वगुह्यतमम् (सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोपनीय) मे परमम् वचः (मेरा परम वाक्य) भूयः शृणु (पुनः श्रवण करो) [त्वम्—तुम] मे दृढम् इष्टः अपि (मेरे अत्यन्त प्रिय हो) ततः (अतएव) इति (ऐसा जानकर) ते हितम् (तुम्हारे हितको) वक्ष्यामि (कहूँगा)॥१८.६४॥

तुम्हें 'गुह्य ब्रह्म–ज्ञान' और 'गुह्यतर ईश्वर–ज्ञान' कहा। अभी 'गुह्यतम 'भगवत्–ज्ञान' का उपदेश दे रहा हूँ, श्रवण करो। इस गीताशास्त्रमें मैंने जितने भी उपदेश दिये हैं, उन सबकी अपेक्षा यह श्रेष्ठ है। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, अतएव तुम्हारे हितके लिए मैं कह रहा हूँ॥१८.६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥१८.६५॥

अन्वय—मन्मनाः (मद्गत चित्त) [होओ] मद्भक्तः (मेरे नाम–रूपादिके श्रवण–कीर्त्तनादि परायण) [होओ] मद्याजी (मेरी पूजा करनेवाला) भव (होओ) माम् नमस्कुरु (मुझे नमस्कार करो) [तदा—तब] माम् एव एष्यसि (मुझे ही पाओगे) ते (तुम्हें) सत्यम् (सत्य ही) प्रतिजाने (प्रतिज्ञा करता हूँ) [यतः त्वम्—क्योंकि तुम] मे (मेरे) प्रियः असि (प्रिय हो)॥१८.६५॥

अनुवाद—भगवद्भक्त होकर तुम मुझे ही चित्त अर्पण करो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और ध्यानयोगिगण जैसी चिन्ता करते हैं, वैसी चिन्ता मत करना। समस्त कर्मोंमें ही तुम मेरे भगवत्–स्वरूपका भजन करो। मेरी प्रतिज्ञा यह है कि इसी प्रकार तुम मेरे इस सच्चिदानन्द स्वरूपका नित्य–सेवकत्व प्राप्त करोगे। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिए मैं तुम्हें इस निर्गुण तत्त्वका उपदेश दे रहा हूँ॥१८.६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥१८.६६॥

अन्वय—सर्वधर्मान् (वर्णाश्रम आदि धर्मोंका) परित्यज्य (परित्यागकर) एकम् (एकमात्र) मम् (मेरी) शरणम् व्रज (शरण ग्रहण करो) अहम् (मैं) त्वाम् (तुम्हें) सर्वपापेभ्यः (सभी पापोंसे) मोक्षयिष्यामि (मुक्त कर दूँगा) मा शुचः (तुम शोक मत करो)॥१८.६६॥

अनुवाद—मैंने ब्रह्म–ज्ञान और ऐश्वर–ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वर्णाश्रम आदि धर्म, यति–धर्म, वैराग्य, शम–दम आदिका धर्म, ध्यानयोग, ईश्वरकी ईशिताकी वशीभूतता आदि जितने प्रकारके धर्मोंका उपदेश दिया, उन सबका परित्यागकर एकमात्र भगवत्स्वरूप मेरी शरणापत्ति अङ्गीकार करो, ऐसा होनेपर ही मैं तुम्हें संसार–दशाके समस्त पाप तथा पूर्वोक्त धर्मत्यागके कारण जो पाप होंगे—उन सबसे उद्धार करूँगा। तुम्हें अपनेको अकृतकर्मा कहकर शोक नहीं करना चाहिए। मेरे प्रति निर्गुण भक्तिका आचरण करनेसे जीवका सत्स्वभाव सहज ही स्वास्थ्य लाभ करता है। धर्माचरण, कर्त्तव्याचरण और प्रायश्चित्त आदि तथा ज्ञानाभ्यास, योगाभ्यास और ध्यानाभ्यास—कुछ भी आवश्यक नहीं होता है। बद्ध अवस्थामें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक समस्त कर्मोंको करो, किन्तु उन–उन कर्मोंमें ब्रह्मनिष्ठा त्यागकर भगवान्के सौन्दर्य–माधुर्यसे आकृष्ट होकर एकमात्र भगवान्की शरणापत्तिका अवलम्बन करो। तात्पर्य यह है कि शरीरी जीव अपने जीवन–निर्वाहके लिए जितने भी कर्म करता है, उन सबको उक्त तीन प्रकारकी उच्च निष्ठासे करता है। अधमनिष्ठासे अकर्म और विकर्म आदि किये जाते हैं। ये अनर्थजनक होते हैं। तीन प्रकारकी उच्च निष्ठाका नाम है—ब्रह्मनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा और भगवन्निष्ठा। वर्णाश्रम और वैराग्य आदि समस्त कर्म ही एक–एक प्रकारकी निष्ठाका अवलम्बनकर एक–एक भावको प्राप्त होते हैं। जब यह ब्रह्मनिष्ठाके अधीन होता है, तब कर्म और ज्ञानके भावका प्रकाश होता है। जब यह ईश्वरनिष्ठाके अधीन होता है, तब ईश्वरार्पित कर्म और ध्यानयोगादिरूप भावका उदय होता है। जब यह भगवन्निष्ठाके अधीन होता है, तब यह शुद्धा या केवला भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। अतएव यह भक्ति ही सर्वगुह्यतम तत्त्व है एवं प्रेम ही जीवनका चरम प्रयोजन है—यही इस गीताशास्त्रका मुख्य तात्पर्य है। कर्मी, ज्ञानी, योगी और भक्त—इनका जीवन एक ही प्रकारका होनेपर भी निष्ठाके भेदसे ये अत्यन्त पृथक् हैं॥१८.६६।

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥१८.

अन्वय—इदम् (यह गीता शास्त्र) ते (तुम्हें) कदाचन (कभी भी) न अतपस्काय (न तो संयमरहित व्यक्तिको) न अभक्ताय (न अभक्तको) न च अशुश्रूषवे (और सेवाविहीन व्यक्तिको) वाच्यम् (कहना चाहिए) च (तथा) यः

(जो) माम् (मुझसे) अभ्यसूयति (द्वेष करता है) [तस्मै अपि—उसे भी] न [वाच्यम्] (नहीं कहना चाहिए)॥१८.६७॥

अनुवाद—संयमहीन, अभक्त, परिचर्याहीन एवं मेरे सच्चिदानन्द भगवद्मूर्त्तिके प्रति द्वेषयुक्त व्यक्तियोंको यह गीताशास्त्र मत सुनाना। इसके द्वारा गीताके अधिकारीका निर्णय हो रहा है॥१८.६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥१८.६८॥

अन्वय—यः (जो) परमम् गुह्यम् (परमगुह्य) इमम् (यह गीताशास्त्र) मद्भक्तेषु (मेरे भक्तके समीप) अभिधास्यति (उपदेश करेंगे) [सः—वे] मयि (मुझमें) पराम् भक्तिम् (पराभक्ति) कृत्वा (कर) असंशयः [सन्] (संशयशून्य होकर) माम् एव (मुझे ही) एष्यति (प्राप्त होवेंगे)॥१८.६८॥

अनुवाद— जो मेरे भक्तोंको इस परमगुह्य गीतावाक्यका उपदेश प्रदान करेंगे, वे मेरी निर्गुण–भक्ति लाभकर मुझे ही प्राप्त होंगे॥१८.६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥१८.६९॥

अन्वय—मनुष्येषु (मनुष्योंमें) तस्मात् (गीताकी व्याख्या करनेवालेकी अपेक्षा) कश्चित् (कोई) मे (मेरा) प्रियकृत्तमः (अधिक प्रिय कार्य करनेवाला) न च (नहीं है) भुवि च (और पृथ्वीमें) तस्मात् (उनकी अपेक्षा) मे प्रियतरः (मेरा अधिक प्रियतर) अन्यः न भविता (और दूसरा नहीं होगा)॥१८.६९॥

अनुवाद—अतएव गीताशास्त्रके उपदेशककी अपेक्षा अन्य कोई प्रिय कार्य करनेवाला और प्रियतर और कोई नहीं है॥१८.६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥१८.७०॥

अन्वय—यः च (और जो) आवयोः (हम दोनोंके) इमम् (इस) धर्म्यम् संलापम् (धर्मसमन्वित संलापका) अध्येष्यते (अध्ययन करेंगे) तेन (उनके द्वारा) अहम् (मैं) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानयज्ञ द्वारा) इष्टः स्याम् (पूजित होऊँगा) इति मे मतिः (यह मेरा अभिप्राय है)॥१८.७०॥

अनुवाद—जो हम लोगोंके इस परधर्मसम्बन्धी कथोपकथनका अध्ययन करेंगे, वे ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी उपासना करेंगे॥१८.७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥१८.७१॥

अन्वय—श्रद्धावान् (श्रद्धावान्) अनसूयः च (और द्वेषरहित) यः नरः (जो मनुष्य) शृणुयात् अपि (श्रवण भी करते हैं) सः अपि (वे भी) मुक्तः [सन्] (मुक्त होकर) पुण्यकर्मणाम् (पुण्य कार्य करनेवालोंके) शुभान् लोकान् (शुभ लोकोंको) प्राप्नुयात् (प्राप्त करते हैं)॥१८.७१॥

अनुवाद—जो भक्त तो नहीं है, किन्तु मेरे प्रति श्रद्धावान और द्वेषरहित हैं, वे गीता श्रवण करनेसे पापमुक्त होकर पुण्य कर्मियोंके लोकको प्राप्त करते हैं॥ १८.७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥१८.७२॥

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) त्वया (तुम्हारे द्वारा) एकाग्रेण चेतसा (एकाग्र चित्तसे) एतत् (यह) श्रुतम् कच्चित् (सुना गया है क्या) धनञ्जय (हे धनञ्जय!) कच्चित् (क्या) ते (तुम्हारा) अज्ञानसम्मोह (अज्ञानसे उत्पन्न मोह) प्रनष्टः (नष्ट हो गया है)॥१८.७२॥

अनुवाद—हे धनञ्जय! क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण किया और क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?॥१८.७२॥

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥१८.७३॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) अच्युत (हे अच्युत!) त्वत् प्रसादात् (आपकी कृपासे) [मेरा] मोहः नष्टः (मोह नष्ट हो गया है) मया (मेरे द्वारा) स्मृतिः (आत्म-तत्त्व-स्मृति) लब्धा (प्राप्त हुई है) गत-सन्देहः (संशय दूर हो गया है) [मैं] स्थितः अस्मि (यथाज्ञान अवस्थित हुआ हूँ) तव वचनम् (आपकी आज्ञा) करिष्ये (पालन करूँगा)॥१८.७३॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह दूर हो गया है एवं जीव कृष्णदास है—यह पुनः स्मरण कर रहा हूँ। मेरा सन्देह दूर हुआ है। आपकी शरणापत्ति ही जो सर्वप्रधान जैव धर्म है, मैं इसमें अवस्थित होकर आपकी अनुमति प्रतिपालन करूँगा॥१८.७३॥

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥१८.७४॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) अहम् (मैंने) इति (इस प्रकार) महात्मनः (महात्मा) वासुदेवस्य (वासुदेवके) पार्थस्य च (और पार्थके) इमम् (इस) अद्भुतम् (अद्भुत) रोमहर्षणम् (रोमाञ्चकारी) संवादम् (संवादको) अश्रौषम् (सुना)॥ १८.७४॥

अनुवाद—सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा—इस प्रकार मैंने कृष्ण और अर्जुनके इस रोमहर्षक सम्वादको सुना॥१८.७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमंगुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥१८.७५॥

अन्वय—व्यास प्रसादात् (श्रीवेदव्यासकी कृपासे) अहम् (मैंने) साक्षात् कथयतः (सम्मुख वर्णनकारी) स्वयं योगेश्वरात् (स्वयं योगेश्वर) श्रीकृष्णात् (श्रीकृष्णसे) इमम् (इस) परम् गुह्यम् (परम गुह्य) योगम् (योगको) श्रुतवान् (सुना)॥१८.७५॥

अनुवाद—स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णने जो कहा, मैंने उस गुह्यतम परमयोगको श्रीव्यासदेवकी कृपासे सुना॥१८.७५॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥१८.७६॥

अन्वय—राजन् (हे राजन्!) केशवार्जुनयोः (केशव और अर्जुनके) इमम् पुण्यम् (इस पुण्यमय) अद्भुतम् (अद्भुत) संवादम् (संवादको) संस्मृत्य संस्मृत्य (बारम्बार स्मरणकर) मुहुर्मुहुः (बारम्बार) हृष्यामि च (हर्षित हो रहा हूँ)॥१८.७६॥

अनुवाद—हे राजन्! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत सम्वादको स्मरण करते-करते मैं बारम्बार रोमाञ्चित हो रहा हूँ॥१८.७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥१८.७७॥

अन्वय—राजन् (हे राजन्!) हरेः (श्रीहरिके) तत् (उस) अत्युद्भुतम् (अत्यन्त अद्भुत) रूपम् (रूपको) संस्मृत्य संस्मृत्य च (बार-बार स्मरणकर) मे (मैं) महान् विस्मयः (परम विस्मित हो रहा हूँ) पुनः पुनः च (और बार-बार) हृष्यामि (हर्षित और रोमाञ्चित हो रहा हूँ)॥१८.७७॥

अनुवाद—हे राजन्! श्रीहरिके उस अद्भुत रूपका स्मरण करते—करते मैं विस्मित हो रहा हूँ, और पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ॥१८.७७॥

यत्र योगश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥१८.७८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'मोक्षसंन्यास–योगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः॥

अन्वय—यत्र (जहाँ) योगेश्वरः कृष्णः (योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं) यत्र धनुर्धरः पार्थः (जहाँ धनुषधारी अर्जुन हैं) तत्र (वहीं) श्री (राज्यलक्ष्मी) विजयः (विजय) भूतिः (ऐश्वर्यवृद्धि) नीतिः (न्यायपरायणता) स्थिर [वर्त्तते] (स्थिर रहती है) [यह] मम मतिः (मेरा मत है)॥१८.७८॥

अनुवाद—जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं एवं जहाँ धनुर्धर पार्थ हैं, वहीं श्री, विजय, भूति और न्याय वर्त्तमान है—यही मेरा निश्चित वाक्य है॥१८.७८॥

अष्टादश अध्याय समाप्त।

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

॥ श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः॥

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोक दिवर्जितः ॥१॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानिच ॥२॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमल नाशनम् ॥३॥
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥४॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥५॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतंमहत् ॥६॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥७॥

मूल–श्लोकानुक्रमणिका

ग

द

ध

न

प

भ

म

य

र

ल

ह